112717

जूलाई
१९५४

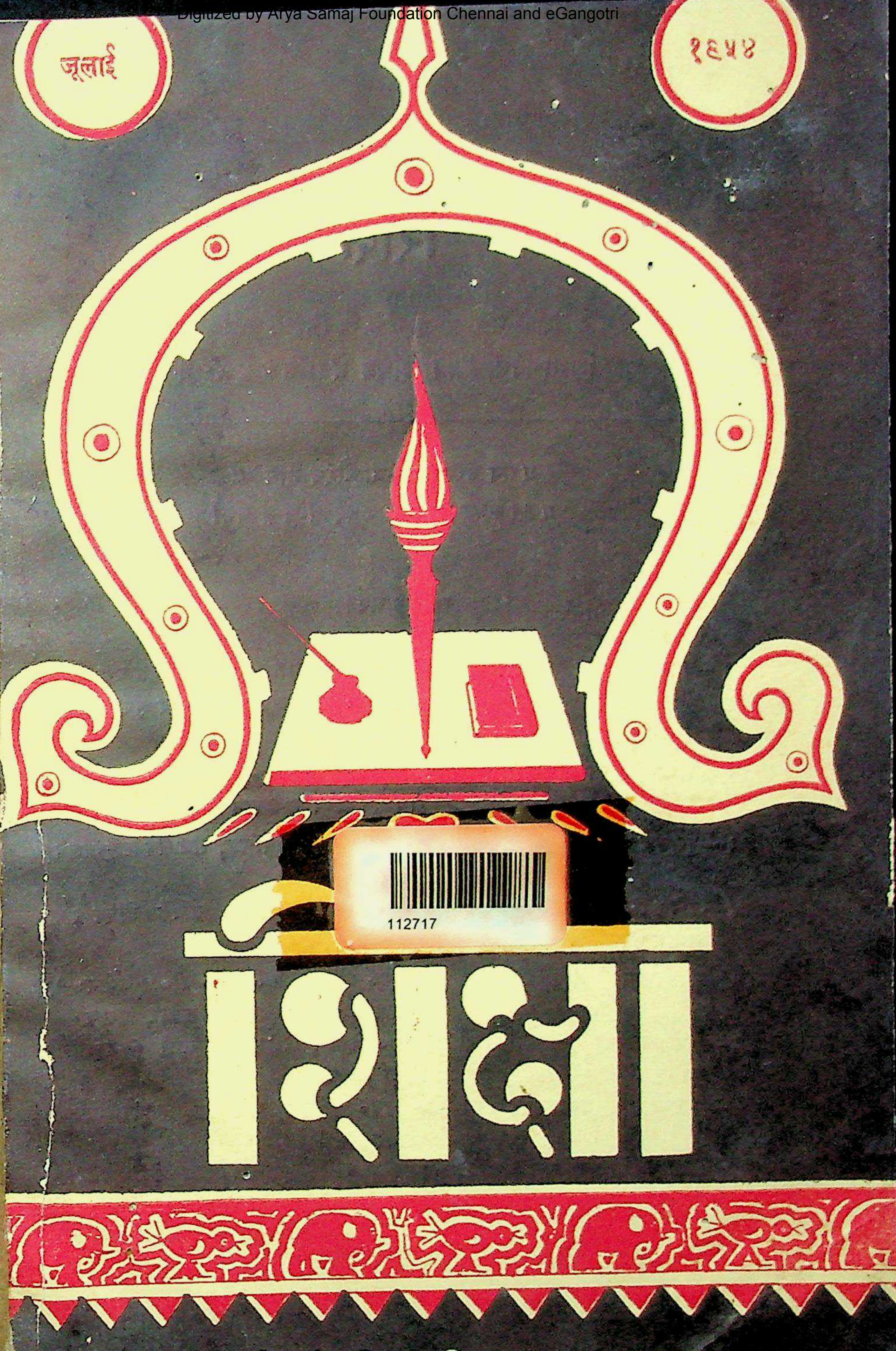

112717

शिक्षा

उत्तर-प्रदेश के शिक्षा-विभाग का मुख-पत्र

जूलाई, १९५४ वर्ष ७, अंक १

शिक्षा

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री श्री हरगोविन्द सिंह के संरक्षण में प्रकाशित

शिक्षा-विभाग का सचित्र त्रैमासिक मुख-पत्र

R7-0762

प्रधान सम्पादक—श्री भैरव नाथ झा
प्रबन्ध सम्पादक—श्री जगदीश चन्द्र वर्मा

सम्पादक मण्डल

१—सामान्य विज्ञान ...	डा० बी० एस० हैकरवाल, एम०ए०, एल-एल० बी०, पी० एच० डी० उप शिक्षा संचालक, प्रथम, इलाहाबाद ।
२—अध्यापकों का शिक्षण...	श्री ए० काज़मी, एम० ए०, एम० एड० (लीड्स), राजकीय अध्ययन-विज्ञान केन्द्र, प्रयाग ।
३—पुरातत्व ...	श्री एम० एम० नागर, संचालक, राजकीय कौतुकालय, लखनऊ ।
४—सैनिक शिक्षा तथा समाज सेवा ...	श्री पी० एन० माथुर, संचालक, सैनिक शिक्षा तथा समाज सेवा, लखनऊ ।
५—मनोविज्ञान ...	श्री सी० एम० भाटिया, पी० एच० डी० (एडिन०), संचालक, केन्द्रीय मनोविज्ञानशाला, प्रयाग ।
६—नियोजन तथा पुनर्सङ्गठन ...	श्री डी० डी० त्रिवेदी, विशेष पदाधिकारी (माध्यमिक शिक्षा) लखनऊ ।
७—वैज्ञानिक अनुसन्धान...	सर के० एस० कृष्णन, संचालक, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, दिल्ली ।
८—प्राच्य-विभाग ...	आचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी, निरीक्षक, संस्कृत पाठशालाएँ तथा निरीक्षक अरबी मदरसे ।

112717

लेख-सूची

			पृष्ठ
१.	वर्तमान संस्कृत शिक्षा और वेदों का अध्ययनाध्यापन।	श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, राजवारी, पोरबन्दर (गुजरात)।	१
२.	शिक्षा व मनोविनोद।	श्री बी० एस० माथुर, एम० ए० (लन्दन), गवर्नमेंट ट्रेनिंग कालेज, जालंधर	१०
३.	चित्रकला की शिक्षा।	श्री रामचन्द्र शुक्ल, एम० ए०, पी०, डिप०, प्राध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस।	१४
४.	आलोचना का दार्शनिक स्वरूप।	श्री प्रताप सिंह चौहान, एम० ए०, साहित्यरत्न।	१८
५.	नवीन पाठ्यक्रम में विज्ञान का स्थान।	श्री मोहन स्वरूप मेहरोत्रा एम० एस-सी०, एल० टी०, एम० एड०, गवर्नमेंट ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।	२४
६.	कृषि प्रधान जूनियर हाई स्कूलों में गणित का स्थान एवं उद्देश्य।	श्री एन० के० बेनर्जी, आचार्य, राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय, इलाहाबाद।	३४
७.	राज्य की उत्पत्तिपर भारतीय सिद्धांत।	श्री शारदाप्रसाद दुबे, गवर्नमेंट कालेज, फ़ैजाबाद।	३८
८.	भारतीय सङ्गीत की समस्यायें, (नई दिशा)	श्री आर० डी० जोशी, नागपुर।	४५
९.	'वाग् व्यापार का उद्गम'।	श्री बी० एन० चौबे, हुसेनाबाद उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, लखनऊ।	५०
१०.	शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य और उनका ऐतिहासिक निरूपण।	श्रीमती लक्ष्मीशाह, एम० ए०, एम० एड०, लेक्चरर, धर्मसमाज ट्रेनिंग कालेज।	५७
11.	Need for a New Ideal in Education.	Dr. M. Hafiz Syed, M.A. PhD. D. Litt., P. O. Ramanashram, Tirnvannamalai, Distt. North Arcot.	71
12.	An Experimental Study of the level of Intelligence of Our Secondary School Teachers.	Dr. S. B. Adaval, Allahabad University, Allahabad.	78

13.	The Peckham Experiment.	Dr. A. D' Souza, M. A., B. T., Inspector of Anglo Indian Schools, Education Deptt., Govt. of West Bengal, 60B, Chouranghee, Calcutta.—20.	97
14.	Item Relationships. and Redundance.	Sri M. Verma, Principal, University Training College, Nagpur.	106
15.	Psychology in Service Selection (ii) Civil Services Service Selection for Civil Employ.	Dr. A. R. Pachauri, Officer on Special Duty (Text-Book), Education Directorate, Lucknow.	114
16.	Current Practices in the Use of Excursions--As a Part of General Science Programme in Junior High Schools—(Part 1).	The Director, Govt. Central Pedagogical Institute, Allahabad.	121
17.	Extension Education (A Record of Personal Observation)	Sri Raj Narain, Lucknow University, Lucknow.	136
18.	The New Scheme of Educational Reorientation in U. P.	Sri Om Shanker Mishra, M. Sc. (AG)., D. Govt. Inter. College, Pilibhit.	153
19.	Basic Principles of Craft-Teaching.	Sri S. L. Chaturvedi, M.Com., L. T., Asst. Master, Queens Inter. College, Banaras.	161
20.	'Social Studies'—The Core of General Education in the New Scheme.	Sri T. S. Mehta, Lecturer, Govt. Training College, Alld.	170
21.	Brick making: A School Project.	Sri V. Krishna Murti, C/o Ram Kishore, Seva Gram, Vardha.	179
22.	Psychological Foundations of Craft-Education.	Sri L. B. L. Verma, M. A., M. Ed., Professor, Agrawal Vidyalaya, Allahabad.	186
२३.	हमारे कार्यकलाप तथा कार्य-क्रम	... ...	१८७
२४.	शिक्षा जगत के समाचार	... ...	२०४
२५.	सम्पादकीय	... ...	२१४

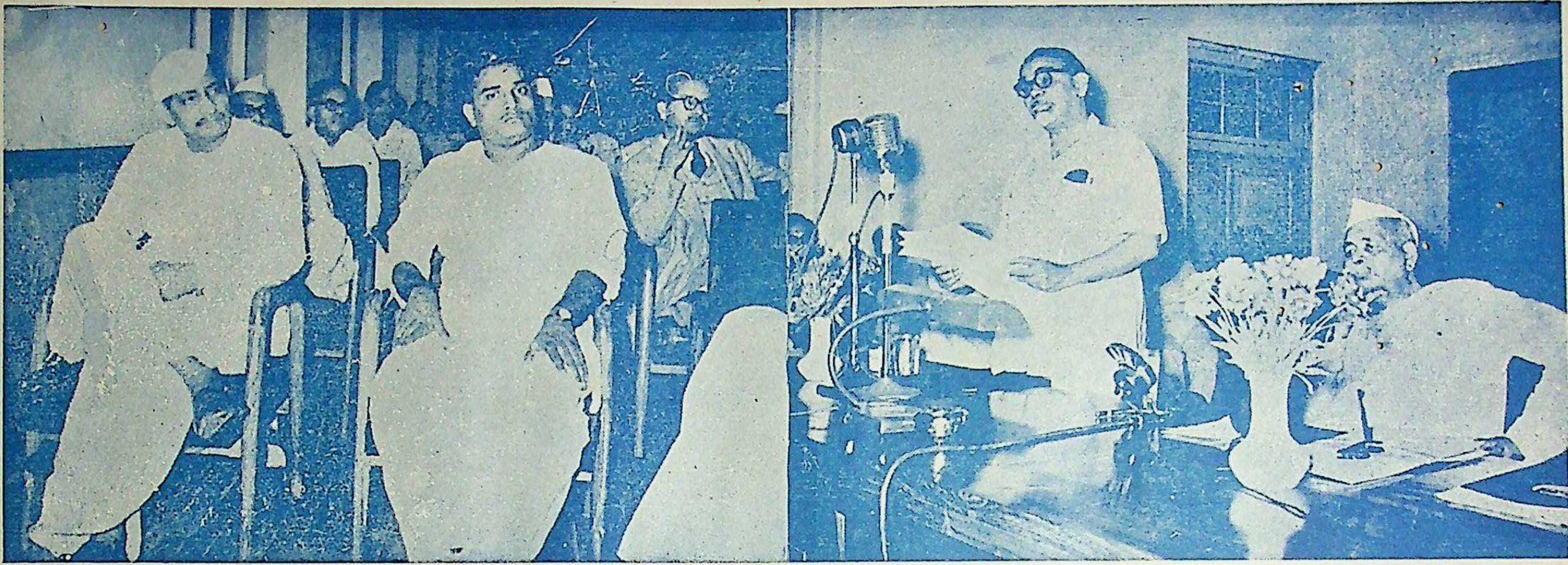

राज्य पुनर्संगठन कमीशन के सदस्य, सरदार के० एम० पानिकर, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद के लखनऊ में होने वाले वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर उद्घाटन भाषण दे रहे हैं।

वर्ष ७ **शिक्षा** जूलाई १९५४

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्तमान संस्कृत-शिक्षा और वेदों का अध्ययनाध्यापन

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

हमारा संस्कृत साहित्य अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संस्कृत भाषा की भी महत्ता सर्वथा इस दृष्टि से स्वीकार्य ही है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का सारा उदात्तपन इसके साथ सम्बद्ध है.। दर्शन, धर्मविज्ञान, विज्ञानकला और ललितकलायें आदि भारत की प्रसिद्ध देन इसी भाषा में सुरक्षित हैं। वर्तमान समाज के विकास को देखते हुए यदि इस विषय की कोई प्रेरणा हमें सामाजिक निर्माण के स्वरूप को बताने की मिल सकती है तो वह भी संस्कृत और संस्कृत साहित्य से ही मिलेगी। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत का अध्ययनाध्यापन भारतीयों के लिए एक अनिवार्य सी वस्तु है। उत्तरप्रदेशीय सरकार सदा धन्यवाद की पात्र रहेगी कि उसने सस्कृत के अध्ययन को प्रगति पर ले जाने का सर्वप्रथम प्रयास किया और अब भी वह सतत प्रयत्न कर रही है। संस्कृत शिक्षा के विषय में सारे भारत के शिक्षण सूत्र में एकतानता होनी चाहिये। आशा है वह प्रयत्न सदा चलता रहेगा।

संस्कृत भाषा सदा लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की रही है। इस तथ्य को वेद से लेकर अर्वाचीन काल के संस्कृत वाङ्मय ने समानरूप से स्वीकार किया है। वैदिक साहित्य में कर्मकाण्डी लोगों को दोनों वाणियों का बोलने वाला कहा गया है—वैदिक वाणी और लौकिक वाणी। कर्मकाण्ड-काल में वैदिक वाणी का प्रयोग करते हैं और व्यवहार-काल में लौकिक वाणी का। इसलिए संस्कृत भाषा के सदा से दो रूप चले आ रहे हैं—लौकिक और वैदिक। इसी आधार पर हमारा संस्कृत वाङ्मय भी सदा वैदिक और लौकिक दो प्रकार का रहा है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में दोनों वाणियों की संकीर्णता का थोड़ा सा भास मिलता है परन्तु वह प्रयोग सफल नहीं हुआ। दोनों भाषाओं के

व्याकरण-नियम भी सदा पृथक् रहे। वेदों के व्याकरण-नियम लौकिक व्याकरण-नियम से भिन्नता पहले भी रखते थे और अब भी रखते हैं। इनके इन नियमों का संग्रह प्रातिशाख्यों में पाया जाता है—जो आज स्यात् ही कहीं पढ़ाई जाती हों और कहीं उनकी पढ़ाई है भी तो बहुत नगण्यरूप में। वर्तमान पाणिनीय व्याकरण लौकिक और वैदिक दोनों व्याकरण-नियमों का संग्रह है। इसके आधार पर बने हुए प्रक्रिया के ग्रन्थों में 'वैदिक-प्रक्रिया' नाम से एक अलग प्रकरण ही बना दिया है—जबकि अष्टाध्यायी में दोनों प्रकार के नियम प्रकरणशः साथ ही हैं। वैदिक-प्रक्रिया को वेद में लागू होने के कारण छोड़ दिया जाता है; जिससे लौकिक संस्कृत का निष्णात होने पर भी वैदिक-संस्कृत का परिज्ञान नहीं हो पाता। यद्यपि दोनों का परिज्ञान विद्यार्थी को होना चाहिये। व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पंतजलि यह प्रतिज्ञा करते हैं कि उनके भाष्य में मूल अष्टाध्यायी की भाँति लौकिक और वैदिक दोनों प्रक्रियाओं और दोनों प्रकार के शब्दों का प्रतिपादन किया गया है। भाष्यकार यह भी कहता है कि व्याकरण पढ़ने का उद्देश्य षडङ्ग सहित वेद के अध्ययनाध्यापन और रक्षा के लिये है। उसके इस कथन का महत्व कितना अधिक हो जाता है जब यह विचार सामने आता है कि वेद सभ्यता और ज्ञान की वह निधि हैं—जो विश्व के पुस्तकालय में अपना सर्वप्रथम स्थान रखते हैं। अतः उनका अध्ययनाध्यापन तो होना ही चाहिए। वर्तमान समय में संस्कृत शिक्षा के मुख्य केन्द्र संस्कृत कालेज बनारस में अष्टाध्यायी को प्राचीन व्याकरण के शिक्षा पटल में रख देने से लौकिक और वैदिक दोनों व्याकरणों का ज्ञान विद्यार्थी को हो सकता है परन्तु इसकी ओर प्रोत्साहन अभी न्यून है। बहुत थोड़े विद्यार्थी इस विषय को लेते हैं। इस ओर अधिक प्रोत्साहन विद्यार्थियों को दिया जाना चाहिये। साथ ही इस अध्ययनाध्यापन के प्रकार में भी परिवर्तन होना चाहिए। इसके पढ़ाने का दृष्टिकोण वही नहीं होना चाहिए जो प्रक्रिया के ग्रन्थों के पढ़ाने का है। अष्टाध्यायी की पढ़ाई सूत्रों और प्रयोगों के आधार पर अच्छी तरह चलायी जा सकती है।

वेदों के अध्ययनाध्यापन के दो क्रम आजकल देखे जाते हैं। पहला क्रम वह है जो विश्वविद्यालयों और कालेजों में कुछ चुने हुए सूक्तों के रूप में वेद पढ़ाये जाते हैं। सूक्तों का संग्रह बहुधा विदेशी विद्वानों के भाष्यों के साथ होता है जिसका भारतीय विद्यार्थी पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ वेदों के प्रति एक बुरी धारणा अवश्य बन जाती है जो एक प्रेजुडिस का रूप धारण कर लेती है। इस क्रम में वेद के मूल अर्थ तक पहुँचने का कोई साधन नहीं पाया जाता है। विद्यार्थी के लिए केवल इतना कहने का अवसर अवश्य हो जाता है कि उसने वेद भी पढ़ा है। "स जनास इन्द्रः" और अस्य वामीय सूक्त एक बहुत उदात्त भावना के पोषक और वैज्ञानिक तथ्य से युक्त हैं परन्तु पढ़ने वाले टीकाओं तक रहकर उस भावना तक नहीं पहुँच पाते। वस्तुतः इन बातों में पड़ना ही नहीं चाहिए कि वेदों का काल क्या है? उनमें व्यक्तियों के इतिहास हैं—या नहीं—उनमें

क्या है ? यह देखना चाहिए, इससे पहली समस्यायें सुलझ सकती हैं। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि वेद को पाठ्यक्रम में यदि इस क्रम के अनुसार रखा जाता है तो उसके मूलार्थ तक पहुँचने के लिए वैदिक-व्याकरण और निरुक्त का भी कुछ परिज्ञान सहायक रूप में कराया जाना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी अपने आप भी वेद के सूक्तों के अर्थ समझने में कुछ समर्थ हो सकेंगे। साथ ही वेद के अर्थ को समझने के लिए पाश्चात्य विद्वानों के सूक्त संग्रहों को हटाकर नवीन भारतीय विद्वानों के ऐसे ग्रन्थ रखने चाहिए। अब तो ऐसे भी भाष्यकार वेदों के निकल रहे हैं जिनका विचार यह है कि सभी वेदमंत्र आध्यात्मिक धारणाओं के पोषक हैं। अरविन्दाश्रम से निकलने वाले भाष्य लगभग इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। महाभारत काल तक उसके बाद भी बहुधा वैदिकों का यही विचार रहा है कि वेदमंत्रों के आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ही अर्थ होते हैं। इसको कसौटी पर कसने के लिये पूर्वोक्त क्रम में कोई साधन नहीं प्रस्तुत किया जाता। अतः यह पहला वेद पढ़ाने का क्रम अत्यन्त ही त्रुटिपूर्ण और अधूरा है। इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

वेदाध्ययन का दूसरा क्रम संस्कृत की शिक्षा देने वाले कालेजों का है जिनमें गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस सबसे बड़ा और अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वैसे तो कई प्रान्तीय विश्वविद्यालयों, संस्कृत-समितियों के द्वारा भी संस्कृत की शास्त्री, तीर्थ, आचार्य, आदि की परीक्षाओं का पाठ्यक्रम चलाया जाता है और इनमें वेद विषय की शिक्षायें भी दी जाती हैं परन्तु अखिल-भारतीय रूप इस दिशा में गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस को ही प्राप्त है। अब तो उत्तर प्रदेशीय शासन उसे संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप दे रहा है। यह कालेज और दूसरी समितियाँ आदि जो वेद का अध्यापन कराती हैं वह पहले कहे गये क्रम से पृथक् हैं। यहाँ वैदिक और साधारण परीक्षाओं के ढंग से परीक्षाओं का क्रम रख दिया गया है जो मध्यमा से प्रारम्भ होता है। प्रथमा में कुछ अध्यायों का कण्ठस्थ करना और सामान्य पाठ्यक्रम है। वेद विषय में केवल वेद सम्बन्धी विषयों की ही परीक्षायें चलती हैं और साधारण विभाग का क्रम वेदातिरिक्त सामान्य संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध रखता है। इसमें व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि विषय समाविष्ट हैं। जब कि वेद विभाग में केवल वेद सम्बन्धी विषय ही हैं। यहाँ पर केवल वेद सम्बन्धी शिक्षा की ही चर्चा करनी है। प्राचीन समय में लोग वेदों की रक्षार्थ मंत्रों को कण्ठस्थ रखते थे। अब भी थोड़ी संख्या में ऐसे वैदिक पाये जाते हैं जिन्हें अपनी अपनी शाखा के अनुसार वेद कण्ठस्थ हैं। ऐसे दो एक वैदिक मिले हैं जो ऋग्वेद को उल्टे सीधे कहीं से पूछने पर ज्यों का त्यों सुना सकते हैं। ये सभी धन्यवादहि हैं। परन्तु वेदों के अर्थ को बिना जाने केवल रट लेने से कर्मकाण्ड का ही कार्य चलता है और मंत्रों की रक्षा होती है, अर्थ बिना जाने उनमें निहित तत्वों का परिज्ञान नहीं होता। और इससे दैनिक जीवन के विकास में वे सहायक नहीं हो पाते। वेद मंत्रों की एक प्रक्रिया यज्ञ की

सिद्धि के लिये है और कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने में उसका प्रयोग है—यह ठीक है परन्तु वेद मंत्रों के अर्थ नहीं वे केवल यज्ञ में बिना अर्थ बोले जाने के लिये ही हैं—यह धारणा प्रशस्त नहीं है। यास्क और जैमिनि आचार्यों ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह प्रकट किया है कि अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्म सम्बन्धी तीन प्रकार के अर्थ वेद मंत्रों के पाये जाते हैं। इन अर्थों का जानना मानव कल्याणार्थ उपयोगी होगा। वर्तमान वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम में कई आचार्यों के भाष्य भी रखे गये हैं परन्तु उनका उपयोग विद्यार्थियों की इच्छा और आर्थिक सुविधा पर है। पहले तो वेद-विभाग में विद्यार्थी ही बहुत थोड़े होते हैं और हुये भी तो इन भाष्यों को कौन पढ़ता है। कर्मकाण्ड की ही दृष्टि से जो पहले से चली आ रही है, वेदों की शिक्षा थोड़ी सी दी जा रही है। वेदार्थ को विद्यार्थी समझें इसके लिये एक 'नैरुक्त-प्रक्रिया' इस विभाग में और प्रारम्भ की गई परन्तु इसमें विद्यार्थी बहुत ही न्यून अथवा न के बराबर ही रहते हैं। शास्त्री तक थोड़े दो चार विद्यार्थी भले ही पढ़ते हों आचार्य तक स्यात् कोई ही पहुँचता हो। अतः वेदार्थ के दृष्टिकोणों को देखने का अवसर ही उसे नहीं मिलता है। शेष वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम में अब निरुक्त, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र और थोड़े से भाष्य आदि भी रख दिये गये हैं परन्तु पढ़ाने का स्तर लगभग कर्मकाण्ड के उपयोग से आगे नहीं बढ़ता। वेदों की ओर, न पढ़ने वालों की ही अधिक रुचि है और न स्यात् पढ़ाने वालों की ही। पढ़ाने वाले भी स्यात् भारत में इने गिने ही हों। यद्यपि अब वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम के बनाने में पर्याप्त सतर्कता रखी गई है परन्तु पढ़ाने वाले वे हैं जो या तो कर्मकांड के अनुसार वेदों को पढ़कर आये हैं अथवा व्याकरण आदि विषयों को पढ़ा है और निरुक्त आदि बिना पढ़े ही वेद सम्बन्धी निरुक्त आदि शास्त्रों की शिक्षा देते हैं। कुछ गुरुकुलों में भी वेद की शिक्षा दी जाती है जो अर्थ को दृष्टि में रखकर दी जाती है। परिणाम में सफलता संस्कृत पाठ्यक्रम के वेद-शिक्षा विषय के क्रम से इसमें अधिक पायी जाती है। फिर भी अभी वेदानुसंधान का यहाँ पर भी कोई रूप नहीं है।

वेदों की शिक्षा प्रशस्त रूप से दी जावे—इसके लिए वेदांगों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है। उपवेद तो बहुधा लुप्त ही हैं। केवल आयुर्वेद मिलता है। उपाङ्ग दर्शन हैं अतः वे सब यदि बढ़ा दिये जावें तो वेद का पाठ्यक्रम ही बहुत बड़ा हो जावेगा। फिर भी साधारण ज्ञान आवश्यक है। अङ्गों में छः में से शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द और व्याकरण तो वेद के अध्ययन के लिए आवश्यक है। यद्यपि ज्योतिष वेदार्थ के जानने के लिए विषय रूप में बड़ा ही उपयोगी है परन्तु वह एक स्वतन्त्र ही विषय रह सकता है। कल्प में श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों का समावेश है। ये वेद को समझने में सहायक हैं। निरुक्त शास्त्र तो परम ही सहायक है। इनमें श्रौत और गृह्य कर्मकांडों से सम्बन्ध रखते हैं जो पौरोहित्य और याज्ञिक उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में भी कर्मकांड का प्रतिपादन है परन्तु उनके अध्ययन से वेदों

के समझने में सहायता अत्यधिक मिलती है जबकि उनको कर्मकांड की दृष्टियों से ऊपर उठकर पढ़ा पढ़ाया जावे। यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ब्राह्मणों में वेदों के बहुत से वैज्ञानिक अर्थ खोले गये हैं। वैसे यदि विचारा जावे तो निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों का वेद के परिज्ञान के साथ अधिक सम्बन्ध है। आरण्यक भी ब्राह्मणों के ही भाग हैं। निरुक्त में वेदार्थ के लिये जिन निरुक्तियों का प्रदर्श मिलता है वे भी ब्राह्मण ग्रन्थों से आधारित हैं। इसलिए इन्हें एकान्ततः कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला नहीं समझना चाहिए। आज तक वेद की दिशा में अध्ययन कराने वाले लोग मीमांसा श्रौतसूत्र और ब्राह्मणों का सम्बन्ध जोड़कर वेद के अध्ययन का सम्पादन विशुद्ध कर्मकाण्ड के ही आधार पर करते थे। उवट, महीधर और सायण के भाष्य भी विनियोग परक ही हैं। हां किन्हीं स्थलों पर विनियोग वहीं मिला तो दूसरा अर्थ कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययनाध्यापन का बहुधा स्वरूप कर्मकाण्ड परक ही बर्ता जा रहा है। वेदों को अमुक वर्ण या व्यक्ति लोग पढ़ें, अमुक न पढ़ें — यह भी भेदभित्ति कर्मकाण्ड को ही लेकर खड़ी हुई थी।

वेदों के अध्यापन करते समय संहिताओं के सार्थक अध्ययन पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। संहिताओं में अनेक ज्ञान के रत्न मिलते हैं। समाज के निर्माण का मूल सूत्र और सिद्धान्त पुरुषसूक्त के विराट् सम्बन्धी विचार से मिलता है। ऋग्वेद का १० वें मंडल का १२९ सूक्त, ७२ सूक्त और १९० वें सूक्त से सृष्टि विद्या का दार्शनिक और वैज्ञानिक स्तर का ऊँचे दरजे का विचार मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त में विज्ञान सम्बन्धी बातें मिलती हैं। अथर्व के अस्यवामीय सूक्त में यही धारणा मिलती है। अथर्व का स्कम्भ सूक्त, उच्छिष्ट और ब्रह्मौदन सूक्त सृष्टि और अध्यात्म विद्या के रहस्य को बतलाते हैं। इसी प्रकार "केन पार्ष्णी आभृते" इस सूक्त में शरीर विज्ञान का और अथर्व काण्ड ८।सूक्त ५ में कृषि विज्ञान का वर्णन है। इस प्रकार वेदों के मूल सूक्तों पर यदि विचार किया जावे और विद्यार्थी को उनके अर्थ को जनाने का प्रयत्न किया जावे तो समाज विज्ञान, विज्ञान, सृष्टि विज्ञान, आयुर्वेद विज्ञान, दर्शन आदि अनेक धारणायें मिल सकती हैं। वेदों के पढ़ने पढ़ाने में मुख्य बात देवताओं की परिभाषाओं को समझने की है। इन्हीं में वैज्ञानिक आध्यात्मिक आदि सभी धारणायें छिपी हैं। ऋग्वेद १।४०।५ में इस बात का प्रतिपादन है कि वेद मन्त्र देवताओं का घर है। अर्थात् ये देवता वेद मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय हैं अन्य कुछ नहीं। यास्क का निरुक्त देवताओं के अर्थों पर अच्छा प्रकाश डालता है और उसके अनुसार ये देवता वैज्ञानिक तत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं ठहरते। वह अग्नि को पृथिवी स्थान, इन्द्र अर्थात् वायु को अन्तरिक्षस्थान और सूर्य को द्युस्थान मानता है। इन्हीं तीन स्थानों में मुख्य वैज्ञानिक तत्वों का सन्निवेश उसके अनुसार है। विष्णु का अर्थ भी यास्क सूर्य मानता है। इस प्रकार देवताओं का अर्थ समझ लेने पर विद्यार्थी को वेदों के मन्त्र

वैज्ञानिक अर्थ को देते हुये दिखलाई पड़ेंगे। जब इन देवताओं का उसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण मालूम हो जावेगा तो मन्त्र अध्यात्म का प्रतिपादन करते हुए मिलेंगे । अर्थ जानने के लिए ये देवता कुंजी हैं। इन्द्र, रुद्र, अग्नि, आदित्य, आदि देवता वेद मन्त्रों में मिलते हैं। इनको यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को उठा कर देखा जावे और उनके आधार पर पढ़ाया जाये तो वेद का बहुत कुछ ज्ञान विद्यार्थी को मिल सकता है। उदाहरणार्थ संक्षेप में इन देवताओं का ब्राह्मण ग्रन्थों से अर्थ दिखलाया जाता है। तैतिरीय ब्राह्मण २।२।१०।४ में बतलाया गया है कि इन्द्र वह है जिसमें इन्द्रियाँ सार्थक होती हैं—अर्थात् आत्मा। पाणिनीय व्याकरण ५।२।६ सूत्र से "इन्द्रिय" शब्द की सिद्धि भी इसी धारणा पर आधारित है। शतपथ ब्राह्मण ४ ६।७।११ और ४।१ ३।१६ के अनुसार क्रमशः इन्द्र का अर्थ सूर्य और वायु है। शतपथ ११।६।३।६ के अनुसार विद्युत का नाम इन्द्र है। पुनः शतपथ २।३ १।७ में परमेश्वर को इन्द्र कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र देवता के विविध अर्थ ब्राह्मणों में प्राप्त हैं। 'रुद्र' के विषय में शतपथ ५ ३।१।१० में कहा गया है कि वह अग्नि है। पुनः शतपथ ६।१।३।३८ में इसे अग्नि मान कर इसके आठ रूप गिनाये गये हैं—जो बहुधा साधारण रूप से रुद्र के नामों में प्रयुक्त किये जाते हैं। वे ८ रूप हैं—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्देव और ईशान। नवाँ रूप कुमार है। शतपथ १।७।३।८ में पुनः इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि यह रुद्र देव अग्नि ही है और इसके ये शर्व आदि नाम हैं। शर्व ऐसे नाम से इसे पूर्व के लोग और 'भव' नाम से वाहीक लोग पुकारते हैं। वस्तुतः रुद्र पशुपति है और वह अग्नि है। जब इसे बहुवचन में प्रयोग किया जाता है तो इससे १० प्राण और ११ वाँ आत्मा गृहीत होता है। शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।७ में यह वर्णन समुपलब्ध होता है। रुद्रनाम से महान् देव परमात्म शक्ति का भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है। अग्नि का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ में देते हुए लिखते हैं कि यह सृष्टि की रचना में सर्व प्रथम उत्पन्न की गयी अत: "अग्नि" होने से इसे अग्नि कहा जाता है। शतपथ ६।१।१ ११ —इसके लिए प्रमाणरूप में देखा जा सकता है। शतपथ ६।४ २।२५ में—घर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति और सूर्य से अग्नि का बोध होता है। यजुर्वेद १८५० में ये सारे नाम एक ही मंत्र में आये हैं। शतपथ ६।७।१ २० और १।३।३।१६ में क्रमश: आत्मा और ब्रह्म को अग्नि कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शतशः स्थलों पर अग्नि के भिन्न भिन्न अर्थ और उसके कार्य तथा गुण बताये गये हैं, जिनके पढ़ने से ज्ञान की अच्छी अभिवृद्धि हो सकती है। ब्राह्मणों में (गोपथ उ० ६।१४) आदित्य सूर्य कहा गया है, ये १२ हैं। बहुवचन में इनसे १२ मासों का ग्रहण होता है। अदिति के पुत्र आदित्य आठ हैं—इसका वर्णन ऋग्वेद १०।७२ सूक्त में मिलता है और शतपथ ३ १।३ ३ में मिलता है। इस दृष्टि से अदिवि प्रकृति है और उसकी सात प्रकृति विकृतियें और आठवाँ जगत् का पिण्डभूत सूर्य है। मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र और विवास्वान् और अर्यमा ये सप्त अदिति के पुत्र-विकार हैं और आठवां

विकार "मार्तण्ड" है । इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों का वर्णन मिलता है । यदि इनके आधार पर वेदों के देवों का निर्णय करके वेद की शिक्षा दी जावे तो इस दिशा में अच्छी सफलता मिल सकती है ।

इसी प्रकार दूसरी वस्तु निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों से मिलती है—यौगिक प्रक्रिया की है । इनके अनुसार वेद के सभी शब्द यौगिक हैं । इस यौगिकता का परिज्ञान हो जाने पर मन्त्रों का अर्थ समझने में अत्यन्त सरलता हो जाती है और अर्थ भी अच्छे से अच्छा भासित होने लगता है । वेद के शब्द यौगिक हैं इसका वेद से ही शब्दों का विचार करने पर स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । वेदों में एक ही शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों रूप में प्रयुक्त है । एक ही स्थल पर दो बार एक ही शब्द का प्रयोग बिना ऐसा माने संभव नहीं । नीचे की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जावेगी ।—

महीमवनिम्—	ऋ०	४।१९।६
उर्वी पृथ्वी —	ऋ०	१.१८५।७
उर्वी पृथ्वी —	ऋ०	६।७.१
अत्ति भूमिं पृथिवीम्—	ऋ०	५.८५।४
भूमिं पृथिवीम्—	अ०	१२.१।७
यथेयं पृथिवी महीदाधार—	ऋ०	१०।६०।९
शुक्राय भानवे—	ऋ०	७।४.१
सूर्यस्य हरितः—	ऋ०	५।२९।५
इन्द्रं मघवानम्—	ऋ०	७।२८.५
तोकाय तनयाय—	ऋ०	६।१।१२
आ मही रोदसी —	ऋ०	९।४१।५
मही अपारे रजसी—	ऋ०	९.६८।३
अश्वं न वाजिनम् —	ऋ०	७।७।१
अत्यं न सप्तिम् –	ऋ०	३।२२।१
तरसे बलाय—	ऋ०	३।१८।३
अत्यं न वाजिनम्—	ऋ०	१।१२९।२

निरुक्त में लिए गये वैदिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में वैसे ही समानार्थक देखे जाते हैं । निरुक्त का आधार ब्राह्मणग्रन्थ मालूम पड़ते हैं । नीचे की शब्द सूची इस पर प्रकाश डालेगी—

पता	निघण्टु		ब्राह्मण	पता
१।१४	अत्यः	अश्व	अत्योऽसि (अश्व)	तैत्तिरीय ३।८।९।१
३।१७	अध्वरः	यज्ञ	अध्वरो वै यज्ञः	शतपथ १।४।१।३८

१।१२	अन्नम्	उदक	अन्नं वाऽऽप:	शतपत	५।३।५।१७
२।७	अर्क:	अन्न	अन्नमर्क:	,,	१.१.१।४
३.४	अस्तम्	गृह	गृहा वाऽस्तम्	,	२.५.२।२६
२।११	अदिति:	गौ	अदितिर्हि गौ:	,,	२।३।४।३४
१।१	अदिति:	पृथिवी	इयं वै पृथिव्यदिति:	,,	१।१.४.५
१।११	अदिति:	वाक्	वाग्वा अदिति	,,	६।५।२।२०
१।१०	अद्रि:	मेघ	गिरिर्वाऽद्रि:	,,	७.५।२।१८
१.३	अमृतम्	हिरण्य	अमृतं वै हिरण्यम्	,,	६।४।४.५
२।७	आयु:	अन्न	अन्नमु वाऽआयु:	,,	६.२।३।१६
२।७	इषम्	अन्न	अन्नं वा इषम्	कौषीतकी	२८।५
२।७	इडा	अन्न	अन्नं वा इडा	ऐत्तरेय	८।२६
१।१	इडा	पृथिवी	इय (पृथिवी) इडा	कौषीतकी	६।२
२।११	इडा	गौ	गौर्वा इडा	शतपथ	३।३।१.४
२।७	ऊर्क्	अन्न	अन्नं वा ऊर्क	,,	३.२।१।३३
३.६	कम्	सुख	सुखं वै कम्	गोपथ उ०	६।३
१।२	चन्द्रम	हिरण्य	चन्द्रं हिरण्यम्	तैतिरीय	१।७.६।३
२।३	जन्तव:	मनुष्य	मनुष्या वै जन्तव:	शतपथ	७।३।१.३२
३।४	दुर्या:	गृह	गृहा वै दुर्या:	,,	१।१।२।२२
१.११	धेनु:	वाक्	वाग्वै धेनु:	ताण्ड्य	१८।६।२१
२.७	नम:	अन्न	अन्नं नम:	शतपथ	६.३.१।१७
२।१०	नृम्णम्	धन	नृम्णानि धनानि	,,	१४।२।२।३०
३.१७	प्रजापति:	यज्ञ	यज्ञ: प्रजापति:	,,	११.६।३.६
१।१२	रेत:	उदक	आयो हि रेत:	ताण्ड्य	८।७।६
३.१७	विष्णु:	यज्ञ:	विष्णुर्वै यज्ञ:	ऐत्तरेय	१.१५
२।६	शव:	बल	बलं वै शव:	शतपथ	७।३।१।२६

इस तालिका में दिखलाये गये शब्द निघण्टु में जो निरुक्त का संग्रह भाग है और ब्राह्मण ग्रन्थों में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। यदि इस प्रकार की प्रक्रिया विद्यार्थी को मालूम हो जावे तो वह दृढ़ता और सन्तोष के साथ वेदों के अध्ययन में अग्रसर हो सके। इसके अभाव में वेद मंत्रों को पढ़ते समय जब उसकी दृष्टि असंघटनीय अर्थों की ओर जा पड़ती है तो उसे इनके पढ़ने की इच्छा ही नहीं होती। इस अरुचि से उसका उत्साह मारा जाता है। यद्यपि इस दिशा में अब जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह प्रशस्त है परन्तु उसके पढ़ाने और पढ़ने की दृष्टि भी वैसी ही होनी चाहिए। निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन पूर्व लिखी दृष्टियों से वेदाध्ययन के लिये अत्यन्तावश्यक

है। व्याकरण का परिज्ञान प्रकृतिप्रत्यय आदि को समझने भर का तो अवश्य ही होना चाहिए। साथ ही प्रातिशाख्य का ज्ञान जरूरी है। यजुर्वेद १३।५७ "विश्वामित्र" पद आया है। पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।३।१३० से यह शब्द पाणिनीय व्याकरणानुसार वर्तमान टीकाकारों की दृष्टि से तब सिद्ध होता है जब इसे विश्वामित्र के रूढ़ अर्थ में लिया जावे। विश्व का मित्र विश्वामित्र है—इस अर्थ में यह व्याकरण सूत्र सहायक नहीं है। परन्तु वेद में विश्वामित्र इसी सर्व मित्र के अर्थ में ही आया है। ऐ० ६।२० में कहा गया है कि विश्व का मित्र विश्वामित्र और इसका सार विश्वमित्र है। इस अर्थ को देने के लिए यजुः प्रातिशाख्य में "नरहामित्रेषुच" सूत्र पढ़ा गया। इसका अर्थ है कि 'नर, हा, और मित्र' शब्द बाद में हों तो विश्व शब्द को दीर्घ आदेश होता है। अष्टाध्यायी के पूर्वोक्त सूत्र से जो भाव नहीं सिद्ध होता था वह प्रातिशाख्य ने सिद्ध किया। इस लिये प्रातिशाख्यों का अध्ययन भी ऐसी दृष्टियों से उपयोगी है। स्वरों के ज्ञान के विषय में भी प्रातिशाख्यों का ज्ञान उपयोगी है।

इन सब बातों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के विषय में छात्रों की अनुसंधान की प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिए। इस प्रवृत्ति का अध्यापक और अध्ययनार्थी दोनो में अभाव सा ही देखा गया है। यह कार्य केवल ग्रन्थों के अर्थ विद्यार्थियों के सामने कर देने से नहीं सम्पन्न होगा। इसमें घोर अध्ययन और खोज की आवश्यकता है। जिन ब्राह्मण ग्रन्थों से वेदार्थ खुलता है उनकी संख्या का भी पता कुछ थोड़े ही लोग रखते हैं। लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थों की तो बात ही क्या? अब काण्व शाखीय शतपथ ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण प्रकाशित हो चुके हैं। चरक ब्राह्मण, अग्निष्टोमीय ब्राह्मण, श्वेताश्वर ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, पैङ्गी ब्राह्मण, शाट्यायन ब्राह्मण, कंकति ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण, कालबवि ब्राह्मण, शैललि ब्राह्मण, रौरुकि ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण, औखेय, हारिद्रविक, तुम्बरु और आरुणेय ब्राह्मणों का ग्रन्थों में वर्णन मिलता है परन्तु हैं ये अप्राप्य। ऐसे ही बहुत सा वैदिक साहित्य अप्राप्य है। यदि इधर अनुसंधान की प्रवृत्ति हो जावे तो सन्देह नहीं कि कितने ग्रन्थ-रत्न प्राप्त हो जावेंगे। इस लिये अनुसंधानीय वृत्ति पैदा करना भी परमावश्यक कार्य है।

* * *

शिक्षा व मनोविनोद

बी० एस० माथुर

प्रस्तुत लेख के शीर्षक में ऐसे दो शब्दों का संयोग किया गया है जिनका कोई संयोग होना साधारण दृष्टि से असंगत प्रतीत होता है। सम्भवतः रूढ़िग्रस्त व्यक्ति इस योग को पसन्द भी न करें। साधारण जन की दृष्टि में "शिक्षा" का समस्त उत्तरदायित्व स्कूलों पर है तथा मनोविनोद का स्थान स्कूल के बाहर, घर तथा मित्रों आदि में है। ऐसी स्थिति में 'शिक्षा' तथा "मनोविनोद" का परस्पर कोई सम्बन्ध भी हो सकता है, यह उनके लिए अकल्पनीय बात है। उनके विचार से शिक्षा प्राप्ति में मनोविनोद तथा मनोविनोद में शिक्षा का कोई स्थान नहीं है।

परन्तु फिर भी, यह कहना अयुक्ति-युक्त न होगा कि शिक्षा व मनोविनोद मनुष्य-जीवन के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं और मनुष्य के विकास में दोनों का ही स्थान महत्वपूर्ण है। यदि हम यह मानते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को भावी जीवन के लिए तैयार करना है तो इस तैयारी के लिए शिक्षा में उसकी समस्त क्रियाओं —बौद्धिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक— का समावेश होना अनिवार्य है। मनुष्य एक पूर्ण इकाई है, उसकी समस्त क्रियाओं का परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान का मत है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य में उसकी शिक्षा का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ने लिखने इत्यादि की शिक्षा देना ही नहीं है और न तो शिक्षा का यह अर्थ है कि बच्चा कुछ नियत समय तक डेस्क पर झुक कर पुस्तकें पढ़ता रहे। यदि हम यह चाहते हैं कि उसकी शिक्षा प्रभावात्मक और लाभदायक हो तो उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह शिक्षा प्राप्ति में आनन्द ले सके, दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा में मनोरंजन का थोड़ा सा पुट होना जरूरी है, इस विषय में सारे शिक्षाविज्ञ पेस्टोलोजी, हरबर्ट, फ्रायबिल, मोन्टेसोरी, ड्यूई, गांधी और टैगोर एकमत हैं। खेल पद्धति, संगीत, नृत्य आदि के शैक्षणिक मूल्य को वे भलीभाँति समझते हैं, इन बातों को वे केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं समझते। रेडियो, फिल्म, ग्रामोफोन, ड्रामा आदि जो चीजें आज तक केवल क्षणिक मनोरंजन का साधन समझी जाती थीं, अब शिक्षा का उत्तम साधन मानी जाने लगी हैं क्योंकि इनसे मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करने पर उनकी उसमें न तो रुचि नष्ट होती है न बच्चे थकते ही हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित शान्तिनिकेतन में संगीत, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं का सम्बन्ध शिक्षा के अन्य विषयों के साथ किया गया है, वहाँ शिक्षा खुले मैदान में दी जाती है। मनोरंजन के साथ शिक्षा

देने का यह एक अभूतपूर्व प्रयोग है। वर्तमान काल के शिक्षाविज्ञ इस प्रकार शिक्षा में नवीनता लाने के दृढ पक्ष में हैं।

फ्रायबिल का कथन है कि "Play is the hand-maid to education" यह कथन पूर्ण सत्य है। जो व्यक्ति बाल-मनोविज्ञान से परिचित नहीं हैं वे ही इस कथन से सहमत नहीं होंगे, अन्यथा समस्त बाल-मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति इस बात को मानते हैं। मनोविज्ञान का एक सत्य और है कि प्रत्येक बालक (और वयस्क भी) खेल तथा मनोरंजन चाहते हैं। यदि हम उपरोक्त दोनों सत्यों को ध्यान में रखकर बच्चों के स्कूल तथा स्कूल के बाहर के जीवन को व्यवस्था करें तो जो अनुगमताएं हम आजकल के नवयुवक और नवयुवतियों में पाते हैं वे ही अनुगमताएं आगे आने वाले नवयुवक और नवयुवतियों में न आ पाएं। परन्तु यह समस्या हमारे सामने दो रूपों में आती है, पहला—कक्षा में शिक्षा का सम्बन्ध मनोरंजन से किस प्रकार किया जाय और दूसरा—अवकाश के समय की मनोरंजनार्थ क्रियाओं तथा शैक्षणिक क्रियाओं का सम्बन्ध कैसे किया जाए? इसमें से समस्या के प्रथम रूप के निवारणार्थ कुछ उपाय किये जा रहे हैं परन्तु दूसरे की अभी तक अवहेलना ही की जा रही है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि स्कूलों में केवल नाम के लिए पाठ्यक्रमेतर क्रियाएँ (Extra-curricular activities) रख ली जाती हैं। सामान्यतः विद्यार्थी यह नहीं समझ पाते कि अपने अवकाश का किस प्रकार सदुपयोग किया जाए।

बहुत से लोगों को आधुनिक क्रिया-केन्द्रित शिक्षण पद्धतियों के बारे में एक शिकायत यह है कि उनमें पैसा ज्यादा लगता है। लेकिन वस्तुतः उनका यह सन्देह है। इसमें संदेह नहीं कि इन पद्धतियों में अध्यापक की योग्यता आत्म-निर्भरता, उत्साह, उसकी बुद्धिमता आदि की अधिक आवश्यकता होती है इसलिए इन पद्धतियों की सफलता के लिए अधिक योग्य अध्यापकों की जरूरत है। डाल्टन योजना, मोन्टेसरी पद्धति, बेसिक प्रणाली तथा शान्ति-निकेतन की शिक्षण-शैलियों की सफलता अधिकांश में अध्यापक की कल्पना एवं व्यक्तित्व पर निर्भर है। यदि अध्यापक की कल्पना प्रखर नहीं है यदि वह डरपोक और आलसी है तो उसके हाथ में आकर फिल्म, रेडियो, ग्रामाफोन, एकशन साँग (क्रियात्मक-गीत) केवल मोरंजन के हीन साधन मात्र बन कर रह जाएंगे, वह उनसे कुछ शैक्षणिक लाभ नहीं उठा पाएगा। अस्तु, मनोरंजन के साथ शिक्षा की उचित मात्रा होनी चाहिए। दोनों का मिश्रण दोनों की उचित मात्राएँ लेकर करना चाहिए और अध्यापक को इस "मिश्रण" पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए।

साधारणतया, हमारे देश में माता-पिता यही सोचते हैं कि स्कूल की आखिरी घन्टी के साथ ही बच्चों की पढ़ाई समाप्त हो जाती है। माता-पिता के अतिरिक्त स्कूल के अध्यक्ष भी पाठ्यक्रमेतर क्रियाओं तथा मनोरंजन को कोई महत्व नहीं देते, वे भी यही समझते हैं कि श्रेणी में विषयों की शिक्षा देना ही उनके लिए बहुत है, उसके साथ ही

उनका काम भी समाप्त हो गया। माता-पिता तथा अध्यापकों के इस विचार का एक कारण यही है कि वे मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को भूल जाते हैं या जानते नहीं कि बच्चा अपने जीवन के प्रत्येक क्षण शिक्षा ग्रहण करता है। इसी विचार के आधार पर अब extra-curricular activities के स्थान पर Co-curricular activities शब्द को मान्यता दी गई है। इस तरह हम देखते हैं कि बच्चे पर प्रत्येक क्षण ध्यान देना आवश्यक है, उसकी मनोरंजनार्थ क्रियाओं को ऐसा रूप देना चाहिये जिससे उसे शिक्षा भी प्राप्त हो।

अस्तु माता-पिता तथा अध्यापकों के लिए यह विषय कि उनके बच्चे अवकाश के समय क्या करते हैं, सब से अधिक मनोयोग और चिन्तन का विषय है, क्योंकि हमारे बच्चों के लिए ऐसी क्रियाएं जो स्वास्थ्यकर शैक्षिक क्रियाएँ भी हों और उनसे बच्चों का मनोरंजन भी हों, नहीं के बराबर हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ शिक्षा बच्चे स्कूल में ग्रहण करते हैं वह भी स्कूल से बाहर आकर भूल जाते हैं। किसी खेल में भाग लेना, सूचना पत्र तथा अन्य हलका फुलका साहित्य पढ़ना भी उतना ही मनोरंजक होता है। स्कूलों से बच्चों को ऐसे स्थानों की सैर कराने ले जाना चाहिए जो ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों। बच्चों के लिए विशेष रूप से शिक्षाप्रद फिल्में दिखाना, रेडियो से विद्यार्थियों को प्रोग्राम सुनवाना, उनके क्लब बनाना, उनके लिए लाभदायक पुस्तकालय स्थापित करना, इत्यादि ऐसी बातें हैं जो मनोरंजन भी करती हैं और शिक्षा भी देती हैं। अभी तक हमारे यहाँ बच्चों के लिए उचित साहित्य की बहुत कमी है। परन्तु अब भारत सरकार ने बच्चों और नव शिक्षितों के लिए साहित्य रचना की एक स्कीम जारी की है। विभिन्न राज्यों की सरकारें तथा प्राइवेट संस्थाएँ भी ऐसा काम आसानी से कर सकती हैं।

क्लब एवं सोसाइटी शिक्षा के प्रखर साधन माने गए हैं। इनके सदस्यों, बच्चे और बूढ़ों, को उनकी मानसिक और शारीरिक आवश्यकताओं के लिए यहाँ से उचित खाद्य-सामग्री प्राप्त होती है। अपने साथ के अन्य व्यक्तियों से मिलने जुलने की नैसर्गिक प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। सभा सोसाइटियों एवम् क्लबों की उपादेयता सबसे अधिक इसीलिए है कि उनका जन्म मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है। परन्तु शोक की बात यह है कि अभी ऐसी चीजें हमारे स्कूलों में प्रवेश नहीं पा सकीं, उनसे बहुत दूर हैं। हमारे स्कूल इस आदर्श से बहुत दूर हैं।

परन्तु अब हमें अपनी इन असफलताओं से पूरी तरह शिक्षा लेनी चाहिये। हम माता-पिता होकर भी अपने बचों के स्कूलों को कुछ सहयोग नहीं देते जिससे उनकी शिक्षा लाभदायक बन सके। हममें से जो स्वयं अध्यापक हैं वे भी ऐसी संस्थाओं, क्लबों, सोसाइटियों आदि की उपादेयता पर कुछ विचार नहीं करते। अध्यापक वर्ग इन चीज़ों को अपने क्षेत्र के बाहर की चीज़ें समझता है। यदि कुछ स्कूलों में ऐसी व्यवस्था है भी तो

वे बिचारी बिल्कुल निर्जीव सी पड़ी हैं। हमें उनमें नव प्राण फूँकने की जरूरत है, हमें ऐसे उपाय करने चाहिये कि हम उनकी संख्या और उपादेयता को बढ़ा सकें। हमें यह समझ लेना चाहिये कि ऐसी संस्थाएँ बच्चों को सामाजिक गुणों; सामूहिक कार्य, उत्तरदायित्व सम्हालने आदि की शिक्षा देती हैं; अतएव वे हमारी शिक्षा व्यवस्था के अनिवार्य अंग हैं। इसके अतिरिक्त इनसे बच्चों का मनोरंजन भी हो जाता है जिससे श्रेणि के नीरस पाठों के बाद उनमें सजीवता आ जाती है।

इसी सम्बन्ध में ड्रामों का भी बहुत महत्व है। छपे हुये अक्षरों की अपेक्षा सजीव पात्रों द्वारा खेला गया नाटक अधिक प्रभावशाली और चिरस्थायी होता है। नाटक के पात्र, स्टेज-सजाने वाले, प्रोम्पटर, इत्यादि सब उसे खेल कर अनुपम शिक्षा ग्रहण करते हैं। यदि हम 'किंग-लियर' नाटक केवल पुस्तक से पढ़ा दें तो इतना बच्चों पर प्रभाव नहीं पड़ता जितना उसे खेल कर और दर्शकों के रूप देखकर पड़ेगा। इस प्रकार उनका मनोरंजन भी होता है और वे शिक्षा भी आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। अवकाश का सदुपयोग करने का भी यह बहुत अच्छा साधन है, इसीलिए शिक्षा-विज्ञ इस साधन को अत्यधिक महत्व देते हैं। अवकाश का सदुपयोग करने की शिक्षा को ग्रहण करना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना।

हमारे देश में आजकल प्रौढ़ अथवा समाज शिक्षा का बहुत बड़ा प्रचार हो रहा है। प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को अवकाश के समय पढ़ना लिखना व अन्य शिक्षा प्राप्त करने के लिए कहा जाता है। हमारे यहाँ के साधारण किसान अथवा अन्य प्रौढ़ व्यक्ति अपने अवकाश को हुक्का पीने या इधर उधर की बातें करने में व्यतीत करते हैं। यह मनोरंजन निरर्थक है। समाज-शिक्षा कार्यक्रम में उन्हें शैक्षिक मनोरंजन प्रदान किया जाता है। अनेकों फिल्मों, सूचनाओं, वाद विवाद, पुस्तकालय आदि के द्वारा मनोरंजन और शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। इस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति का मनोरंजन भी होता है और वह उपयोगी बातें भी सीखता है। इस प्रकार उसे अपने जीवन को अच्छी तरह व्यतीत करने की शिक्षा मिलती है।

चित्रकला की शिक्षा

रामचन्द्र शुक्ल, एम० ए०, पी० डिप०

अंग्रेजों ने भारतवर्ष को उस समय छोड़ा जब वह अपनी अवनति की सीढ़ी पर भलीभाँति चढ़ चुका था। भारत का सामाजिक, मानसिक, आर्थिक तथा चारित्रिक पतन हो चुका था। परन्तु दुख तो इस बात का है कि अभी भी हम अपने को सँभाल नहीं पाये हैं। राजनैतिक बागडोर हमने अवश्य अपने हाथ में ले ली है परन्तु अभी भी हमने अपने पैरों पर खड़ा होना नहीं सीखा। हमारी स्थिति वही है जो अधिक काल के बाद पिंजड़े से उन्मुक्त पक्षी की होती है। ऐसा पक्षी पिंजड़े से निकलकर कुछ दूर जाकर पुनः पिंजड़े की ओर जाता है क्योंकि उसके पंख कमजोर हो जाते हैं। उसे स्वाधीन रहने में कठिनाई प्रतीत होती है। उसी भाँति आज हमारे समाज की स्थिति है। हम आज भी उसी दृष्टिकोण से कार्य कर रहे हैं जैसा पराधीनता के समय करते थे। आज भी हम वही भाषा बोलते हैं जो पिंजड़े में हमें रटायी गई थी। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा में हमारा वही दृष्टिकोण है जो पहले था।

ऐसी परिस्थिति में यदि कोई अपनी आवाज कला के लिए उठावे तो उसे भय का आभास होता है कि कहीं उसकी आवाज नक्कार खाने में तूती की आवाज न हो जाय। ऐसी स्थिति में हिम्मत नहीं पड़ती कला ऐसे गम्भीर विषय पर कुछ विचार करने या कहने की। हम सामाजिक तथा आर्थिक जटिलताओं में इस प्रकार फँसते जा रहे हैं कि कला के ऊपर गम्भीरता पूर्वक विचार करने का हमारे पास समय ही नहीं है। हमने अभी तक यही भली भाँति नहीं समझा कि स्वतंत्र भारत में कलाओं का क्या महत्व है। हम अपने जीवन में प्रगति लाने के लिए, सुखी और सम्पन्न होने के लिए इस समय पुनः निर्माण की योजनाएँ बना रहे हैं। शिक्षा में भी नई-नई योजनाएँ सामने आती जा रही हैं परन्तु अभी तक हम यह निश्चित नहीं कर पाये हैं कि हमारे जीवन में किस प्रकार की शिक्षा का उपयोग है। क्या हमें वैसी ही शिक्षा चाहिये जैसी पाश्चात्य देशों में है या हमें अपनी शिक्षा तथा प्रगति का आधार अपनी संस्कृति में खोजना है? आज इस प्रकार के अनेकों प्रश्न हमारे सम्मुख हैं।

वैसे तो अंग्रेजों के समय से ही भारत में कलाओं की शिक्षा भी हो रही है। स्कूलों तथा कालेजों में भी ड्राइंग इत्यादि पढ़ाई जाती रही है। कला विद्यालयों में चित्रकला की शिक्षा दी जा रही है परन्तु इस प्रकार की शिक्षा का उपयोग क्या है यह संशयात्मक है। आज कला की शिक्षा की वही परिपाटी है जो अंग्रेजों ने भारत में आरम्भ की थी।

अंग्रेजों ने प्रत्येक प्रान्त में दो एक कला विद्यालय स्थापित किए। भारतीय स्कूलों में ड्राइंग की भी शिक्षा दी जाने लगी। कला विद्यालय तो कलाकार उत्पन्न करने का प्रयत्न करते रहे और स्कूलों में ड्राइंग केवल बच्चों के मन बहलाव के लिए पढ़ाई जाने लगी। ड्राइंग का प्रयोग केवल यह था कि स्कूलों में जब बच्चे पढ़ते-पढ़ते थक जांय तो बीच-बीच में उनका इस कार्य के द्वारा मनोरंजन किया जाय। यह भी उनके लिये एक प्रकार के खेल का केवल साधन मात्र थी।

कला तथा ड्राइंग की शिक्षा का जो तरीका प्रचलित हुआ वह भारतीय परम्परा, भारतीय वातावरण के अनुकूल न होकर पाश्चात्य तरीकों से अधिक प्रभावित रहा। इस विषय पर किसी ने अधिक ध्यान न दिया और इसी से प्रसन्न हुए कि कम से कम कला का प्रचार तो हुआ। परिणाम यह हुआ कि कला की शिक्षा का कोई स्तर निश्चित न हो सका, यद्यपि प्रचार होता रहा। कला विद्यालयों से प्रतिवर्ष अनेकों कलाकार वहाँ की शिक्षा पाकर निकलने लगे। इस समय भारतवर्ष में आवश्यकता से अधिक कलाकार इन विद्यालयों से निकल चुके हैं। प्रत्येक शहर में इस प्रकार के कलाकार फैल चुके हैं और उसी प्रकार आज भी फैल रहे हैं। दुख के साथ कहना पड़ता है कि इनमें से अधिकतर ऐसे हैं जिनको समाज में कहीं जगह ही नहीं है। ये अभी पेट का प्रश्न भी नहीं हल कर पाए हैं, केवल शीशियों के लेबुल रंगने तक ही रह जाते हैं। कला का प्रश्न हल करना तो अभी इनके मस्तिष्क में भी नहीं आया है। यदि हम इन्हें समाज के कीटाणु कहें तो शायद अतिशयोक्ति न होगी। इनका समाज में कोई उपयोग नहीं है। और यह समाज की दया पर जीवित हैं। इनमें से कुछ साधारण स्कूलों में अध्यापक हैं और अधिकतर समाज की ड्योढ़ी पर सर मार रहे हैं। इनकी शिक्षा पर समाज ने जो समय तथा पैसा व्यय किया है उसका कोई उपयोग नहीं है। इन विद्यालयों का यदि कोई निरीक्षण करे या इनके कार्य पर कोई निरीक्षण समिति बैठाई जाय और आंकड़े इकट्ठे किये जांय तो इन विद्यालयों की निरर्थकता विदित हो सकती है।

इन विद्यालयों में अधिकतर वे विद्यार्थी कला की शिक्षा पाते हैं जिनको साधारणतया अशिक्षित कहा जा सकता है अर्थात् जिन्होंने अनिवार्य शिक्षा भी नहीं पाई है। इनमें अधिकतर पांच वर्ष की शिक्षा होती है और उसके बाद वे विद्यार्थी कलाकार बन जाते हैं, बनकर कहाँ जाते हैं यह नहीं मालूम। जैसा हमने ऊपर कहा है इनमें से अधिकतर प्रारम्भिक शिक्षालयों में या हाई स्कूलों में अध्यापक होने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ ऐसे भी अध्यापक लिये जाते हैं जिन्होंने केवल ड्राइंग का कोर्स पास किया है। इसलिए यहाँ भी जगह इन्हें नहीं मिलती। कुछ थोड़े से औद्योगिक कलाओं में भी स्थान पा जाते हैं पर अधिकतर तो कलाकार बनकर ही बाहर निकलते हैं पर भीतर कभी नहीं पहुँच पाते।

ये कलाकार जैसा मैंने ऊपर कहा है अधिकतर अशिक्षित होते हैं। यह परिपाटी

इन विद्यालयों में उस समय से ही है जब यहाँ अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने भारतीय कला तथा उद्योग के विकास के लिये यह विद्यालय खोले थे। उनका तात्पर्य यह नहीं था कि यह कलाकार स्कूलों में कला की शिक्षा देंगे। न इसका उस समय समय था, न उपयोग ही। स्कूलों में तो केवल ड्राइंग पढ़ाई जाती थी, चित्रकला का तो आज भी स्कूलों में प्रचार भलीभांति नहीं हो पाया। इसलिये इन कलाकारों का उपयोग स्कूलों में भी नहीं हो पाता। चित्रकला विद्यालय भी इतने नहीं हैं कि उनमें यह स्थान पा सकें। अब प्रश्न यह है कि ये कलाकार जायें कहां?

लोगों का यह विचार है कि चित्रकला साधारण स्कूलों में पढ़ाई नहीं जा सकती और न उसका लाभ ही है। चित्रकला और विषयों से भिन्न है, इसकी शिक्षा तो कला विद्यालयों में ही हो सकती है। जिन बालकों की इसमें विशेष प्रतिभा हो उन्हें आरम्भ से ही इन विद्यालयों में भेज देना चाहिये। इसी प्रकार और ललित कलाओं की शिक्षा भी अलग-अलग विद्यालयों में होनी चाहिये। चित्रकला या कला एक विशेष प्रतिभा है जो सब बालकों में नहीं होती इसलिये इसकी शिक्षा सब के लिये आवश्यक नहीं। इस प्रकार के विचार अंग्रेजों के समय से उत्पन्न हुए और आज भी हम उन्हीं को सही समझे बैठे हैं। कला को हम सबके लिये आवश्यक नहीं समझते और यही कारण है कि स्कूलों में चित्रकला सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य नहीं है। आज भी हमारा दृष्टिकोण वही है। हम आज भी निश्चित विभागों में शिक्षा देना हितकर समझते हैं। कला को हम ईश्वरीय वरदान समझते हैं और इस भ्रम में पड़कर इसे पाने के लिए सबको अधिकारी नहीं समझते। जिस प्रकार हिन्दू समाज में चतुर्वर्ण व्यवस्था में हम केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय को शिक्षा पाने का अधिकारी समझते थे, वे ईश्वरीय वरदान लेकर उत्पन्न होते थे। शिक्षा का अधिकार केवल इन्हीं दो वर्गों को था। इस चतुर्वर्ण व्यवस्था का जो दुष्परिणाम हमने देखा है उससे हमारी आंख अभी भी नहीं खुली। आज कौन कह सकता है कि वैश्य या शूद्र के लिए विद्या की आवश्यकता नहीं है? आज हमारा इसी में कल्याण है कि बिना जाति-पांति का भेद रक्खे सभी को शिक्षित बना दें। कोई पैदा होकर ही कोई हक लेकर नहीं आता, न कोई ईश्वरीय वरदान लेकर आता है। सबको समान अधिकार है। उसी भांति आज यह सोचना कि कला की शिक्षा कुछ चुने हुए व्यक्तियों को ही मिलनी चाहिए या उनको मिलनी चाहिए जो इसके लिए जन्मजात प्रतिभा लेकर आते हैं; बिल्कुल निर्मूल है। कला का कार्य प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए यदि कलाओं से सामाजिक, मानसिक हार्दिक लाभ है तो। और आधुनिक मनोविज्ञान इस बात की पुष्टि करता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कला विद्यालय या टेक्नीकल स्कूलों का महत्व नहीं है। इसका भी महत्व है। परन्तु प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को निश्चित विभागों (Water tight Compartments) में भेजना उचित नहीं। व्यावसायिक (Professional)

शिक्षा प्राप्त करने के लिये ये कला विद्यालय उपयुक्त हैं। जो व्यक्ति भविष्य में चित्रकला का कार्य करके ही अपनी रोजी चलाना चाहेंगे वे आगे चलकर इन कला विद्यालयों में थोड़े दिन शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे तो बहुत थोड़े से व्यक्ति होंगे जो कला को अपना व्यवसाय बनाना चाहते हों; अधिकतर तो आनन्द के लिये ही, अपने जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिये ही इन कलाओं का अभ्यास करते हैं और हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उनको ऐसी कला की शिक्षा से अलग रक्खें।

अत: जिस प्रकार विद्यालयों में और विषयों की शिक्षा मिलती है उसी प्रकार कलाओं की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। साहित्य, इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा गणित के साथ-साथ कलाओं की भी शिक्षा होनी चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में इन विषयों के ज्ञान की आवश्यकता है वैसे ही कला की भी। व्यक्ति का विकास केवल किसी कला में ही हो और दूसरी दिशाओं में उसका विकास नहीं, यह हम नहीं चाहते। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व सामंजस्यपूर्ण होना चाहिये। विद्यार्थी केवल चित्रकला करना न सीखे अपितु चित्रकला का और कलाओं, विद्याओं तथा विज्ञानों के साथ समन्वय करता चले, उसका दृष्टिकोण संकुचित न होने पावे।

आलोचना का दार्शनिक स्वरूप

प्रतापसिंह चौहान, एम० ए०, साहित्यरत्न

हिन्दी आलोचना का इतिहास बहुत प्राचीन न होते हुये भी, अब तक अनेक वर्गों में विभक्त हो चुका है। उदाहरण के लिए हम रस प्रणाली, मनोवैज्ञानिक प्रणाली, मार्क्स-वादी प्रणाली, समन्वयात्मक प्रणाली आदि-आदि रख सकते हैं। किन्तु जहाँ रस के ऊपर अधीष्ठित् आलोचना मनोभूमि का साधारणीकरण करके अति असाधारण हो जाती है, वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना मनोभावों को खण्डशः देखने के कारण विश्लेषणात्मक होकर एक ऐसी पर्यवेक्षणा बन जाती है जो अपने आप में अधिक सार्थक होने के कारण व्यक्ति के लिए बिल्कुल निरर्थक होती है। राजनैतिक वादों के ऊपर आधारित आलोचना विशिष्ट राजनैतिक विचारधारा का प्रतिपादन करने के कारण एकांगी तो होती ही है, पर कभी कभी तो उसका मूल्य गाली गलौज की परिधा को भी नहीं लाँघ पाता। समन्वय-वादी आलोचना सुन्दर-असुन्दर, हितकर-अहितकर तथा कटु-मृदु में समझौता कराने के प्रयास में कभी कभी तो प्रतिपाद्य-सत्य से दूर होकर बिल्कुल चूँ-चूँ का मुरब्बा बन जाती है।

आलोचना के इस प्रकार विकृतांगी होने का प्रमुख कारण यह है कि वह वस्तु कैसी है ? इसके विश्लेषण में अधिक ध्यान देती आई है, और इस विश्लेषण में मन के अधिष्ठाता होने के कारण मन की प्रेय दशा का ही अधिक स्पष्ट चित्र उतर पाया है, वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं हो सका। और प्राय: यही कारण रहा है कि मन की प्रियता के फलस्वरूप प्राप्त निराकरण तथा आपत्तियाँ अधिकांश में अत्यन्त ही भ्रामक तथा निरुद्देश्य रही हैं। और संभवत: यही कारण है कि कृतियों की मात्रा में अत्यन्त अभिवृद्धि होने पर भी राष्ट्र तथा साहित्य का अधिक लाभ होने के अतिरिक्त उनमें संशयात्मक तथा हानिकर भावनाएँ अधिक भर गई हैं। प्रियता की ओर मन की इस चतुर्मुखी छूट के कारण ही विज्ञान ने ऐटम-बम तथा उद्रजन बम ऐसी भयंकरतम संहारकारी शक्तियों का आविष्कार किया है तथा साहित्य ने दुनिया रीत और रोटी में बाँट दी है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक हमारी आलोचना एक सुव्यवस्थित, श्रेयस्कर, निष्पक्ष विचार-धारा के ऊपर अधीष्ठित् न होगी तब तक उसके द्वारा प्रदर्शित मार्ग सर्वमंगलकारी, प्रशस्त तथा सुस्थिर नहीं हो सकता। हम उसे एक ऐसी रेखा कह सकते हैं जो किसी अबोध शिशु ने बालू पर मन-तरंग से प्रेरित होकर निर्मित की हो, और जो अपने आप में उद्देश्य हीन होने के कारण दूसरे के लिए भी निरर्थक है।

ऊपर मैंने सुव्यवस्थित तथा निष्पन्न विचारधारा की बात कही है। मेरा उस विचारधारा से किसी दार्शनिक पीठिका संवलित विचार-प्रवाह की ओर संकेत है। प्रायः दर्शन और दार्शनिकता के अर्थों को लेकर जन साधारण में बड़ा विवाद है। प्राय: लोग दर्शन को 'विरक्ति' परक अर्थ में ग्रहण करते हैं और इसीलिये उसे वृद्धों तथा साधु-सन्यासियों की—जिनको जीवन में किसी प्रकार का राग नहीं रह गया है— वस्तु समझते हैं। संभवतः भारत में इस अर्थ का ग्रहण शंकर के मायावाद को लेकर हुआ है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की बहुश्रुत तथा सर्व प्रसिद्ध उक्ति—जो अब सूक्ति बन चुकी है -- इस भ्रम के मूल में रही है। और प्रस्थानत्रयी का शांकर–भाष्य भी इस मत की पुष्टि में कम उत्तरदायी नहीं रहा। साधु-सन्यासियों तथा परिव्राजकों ने भी इस मत के प्रचार तथा प्रसार में पर्याप्त सहायता दी है और दे भी रहे हैं। अतएव सर्वसाधारण का मूल अर्थ की आत्मा से परिचित न होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। किन्तु भारतीय मनीषी-ऋषियों ने 'दर्शन' को इस अर्थ में कभी भी ग्रहण नहीं किया। उनकी चिन्तना जीवन को सर्वाङ्गीण सुखी बनाने के लिए रही है। उसका जीवन कभी मृत्यु को नहीं प्राप्त होता। मृत्यु तो उसके लिए एक संक्षिप्त विराम है। जिस प्रकार मानव दिन के अथक परिश्रम से अत्यन्त श्रान्त तथा श्लथ होकर निद्रा के रूप में कुछ समय के लिए विश्राम करता है, उसी प्रकार जीवन से थक कर वह कुछ समय के लिए महा निद्रा (मृत्यु) में विश्राम करता है। मानव ही नहीं सम्पूर्ण सृष्टि को इस प्रक्रिया का सामना करना पड़ता है। इस प्रकिया को एक सुव्यवस्थित, शांत तथा सुखपूर्वक चलाने के लिए समय-समय पर जिन चिन्तनाओं की उद्भावना की गई है, उन्हीं को दर्शन के नाम से अभिहित किया गया है। यह ठीक है कि दार्शनिक चिन्तनायें विभिन्न समयों में देशकालानुसार भिन्न रही हैं। इसलिए वे सभी दार्शनिक प्रक्रियायें अपने प्रकारों (Farms) में भिन्न दीखती हुई भी अपने लक्ष्य में सदा अभिन्न रही हैं। संक्षेप में भारतीय दर्शन की मान्यता जीवन दर्शन के रूप में रही है। वह सदा से ही जीवन की व्याख्या करके उसे सुचारु रूप से चलाने में विश्वास करता आया है। उसने जीवन को कभी जीवन और मृत्यु के युग्मों में नहीं देखा। वह तो सदा से ही उसकी अखंडता में विश्वास करता आया है। अत: यदि उसने पारलौकिकता के ऊपर भी प्रकाश डाला है, तो कोई पाप नहीं किया और न इसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता की ही गन्ध मिलती है। भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व की दार्शनिक विचारधारा श्रेय को लेकर चलने के कारण एक ही मूल सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करती आई है। किसी देश की दार्शनिक परंपरा ने कभी भी अहितकर तथा अमंगलकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। इस बात को पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मन के प्रेयत्व द्वारा परिचालित विचारधारा के फलस्वरूप अमंगलकारी साहित्य से देश, समाज तथा राष्ट्र का अमंगल नहीं हुआ। समय समय पर ऐसे अवसर आये हैं जो राष्ट्र के लिए अत्यन्त ही भयावह रूप से घातक सिद्ध हुये हैं। मन की इस दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों में जिन्हें मैंने

ऊपर श्रेय तथा प्रेय की संज्ञा दी है—अनादि काल से संघर्ष चला आ रहा है। किन्तु संघर्ष में अन्त में श्रेय की ही विजय हुई है। दैवी शक्तियों ने सदा ही आसुरी शक्तियों पर विजय पाई है। राम और रावण, कृष्ण और दुर्योधन इन्हीं प्रवृत्तियों का प्रतीक रूप से पृथक-पृथक प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे दर्शनों ने मन के इन दोनों पक्षों की विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से सुसंबद्ध व्याख्या की है। काव्य तथा साहित्य के अन्य अंग-उपांगों में दर्शन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की सरस, अनुभूति पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। महाभारत कालीन संस्कृति, जिसके कारण महाभारत ऐसा युद्ध हुआ मन की प्रेयता तथा उसकी निरंकुशता का सर्वोत्कृष्ट भयंकर उदाहरण है। यदि इस महायुद्ध के कारणों तथा तत्कालीन सामाजिक औचित्य तथा अनौचित्य का भली-भाँति पर्यवेक्षण करके विश्लेषण उपस्थित किया जाये तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि तत्कालीन साहित्य ही अन्य साधनों के बावजूद इस सबके मूल में दृष्टिगोचर होगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि साहित्य ही के द्वारा विचारों का प्रसरण तथा प्रचार अत्यन्त सहज रूप से होता है। साहित्य ही के द्वारा राष्ट्र का निर्माण होता है, साहित्य ही उनके विध्वंस का कारण बनता है। बिहारी के एक दोहे ने जयपुर नरेश पर चमत्कारी प्रभाव किया था। रूसो के क्रान्तिकारी विचारों को शेली ने अपने काव्य में बाँधकर एक वृहत क्रान्ति की सृष्टि की थी। इसी प्रकार अन्य उदाहरण विभिन्न देशों के इतिहासों में भरे पड़े हैं। यहाँ पर मेरे कहने का केवल इतना ही तात्पर्य है कि साहित्य ही किसी राष्ट्र के समाज, राजनीति तथा संस्कृति में विघटनकारी तत्वों का समावेश करके उसे मन की अनेक दासताओं में आबद्ध कर सकता है और वही उसे मंगलमय वरदान भी दे सकता है।

साहित्य के मूल्य को हमारे प्राचीन आचार्यों ने समझा था। और इसीलिए जहाँ उन्होंने काव्य के भाव तथा कौशल पक्ष की विवेचना करते हुए उसे उत्तम, मध्यम तथा अधम की कक्षाओं में विभक्त किया है, वहीं उन्होंने मनके उन अवान्तर भेदों के आधार पर सर्जित काव्य की भी चर्चा की है, जिसकी उत्पत्ति मन की विभिन्न परिस्थितियों तथा वातावरण के कारण होती है। मनोदशा की वह सरिता दर्शन की भाषा में पंचकोशों के नाम से प्रसिद्ध है। दर्शन की पंचकोशों की कल्पना वास्तव में बड़ी अद्भुत है। मन के सारे व्यापार इसी परिवेश के अन्दर आ जाते हैं। ये पंचकोश हैं—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश। सृष्टि का सारा व्यापार इन्हीं के अन्तर्गत चला करता है। मैं अब इन विभिन्न कोशों के व्यापार (Function) की प्रक्रिया क्रमशः उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा। मेरा इस विस्तार में जाने का केवल यही कारण है कि हम यह जान सकें कि काव्य अथवा साहित्य में श्रेय का ध्यान रखकर हमारे आचार्यों ने साहित्य के परिमार्जन तथा परिष्कार के साधन उपस्थित किये थे। और चूँकि मन ही संसार की सारी क्रियाओं के मूल में है, इसलिए उन्होंने मन की ही विभिन्न दशाओं का अध्ययन करके उसको इन पंचकोशों में वर्गीकृत

किया था।

दर्शन ने शरीर को तीन विभागों में विभाजित किया है। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। इसी क्रम से मन की भी तीन दशायें हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। यह क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। हमारा स्थूल शरीर पंच भौतिक है, जिसे हम स्पर्श करके अनुभव कर सकते हैं, जिसे हम देख सकते हैं, वह अन्न पर आधारित है। यह जब चेतनावस्था में रहता है तो हम उस दशा को जाग्रतावस्था कहते हैं। हमारा सूक्ष्म शरीर जिसका दूसरा नाम लिङ्ग शरीर भी है, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निर्मित है। अर्थात वह पंचभूतों द्वारा निर्मित स्थूल शरीर से सूक्ष्म है, उसका ज्ञान स्थूल साधनों द्वारा नहीं हो सकता, वह तो मन के द्वारा ही जाना जा सकता है। स्वप्नावस्था में कुछ कुछ हम उसी का अनुभव करते हैं। मैं यह नहीं कहता कि स्वप्नावस्था में जो अनुभव हमें होते हैं, वे लिङ्ग शरीर हैं, वरन् वे अनुभव लिंग शरीर के होते हैं। कारण शरीर लिंग शरीर से भी सूक्ष्म है। शरीर की इस अवस्था का पूर्ण ज्ञान मन को नहीं हो सकता; उस अवस्था तक पहुँचने तक मन का तादात्म्य अपने उस परम आधार के साथ हो जाता है, जिसके विकार क्रमशः लिंग तथा स्थूल शरीर हैं। जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में जब हम किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखते हैं उस अवस्था का केवल इतना ही वर्णन कर सकते हैं, कि आज हमें इतनी गहरी निद्रा आई कि किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखा, बड़ा आनन्द रहा। उसमें मन एक ऐसी अवस्था का अनुभव करता है, जो केवल आनन्दमयी है, मन के वास्तविक स्वरूप आत्मा का भी स्वभाव आनन्द ही है।

उपर्युक्त शरीर के भेदों तथा मन की दशाओं की विवेचना मैंने इसलिए की है क्योंकि उनका पंचकोशों से घनिष्ट संबंध है। अन्नमय कोश के व्यापार स्थूल शरीर तथा लिङ्ग शरीर के व्यापार हैं। ये व्यापार कर्मेन्द्रियों तथा अधिक से अधिक ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं पर अधिष्ठित हैं। अतएव जब तक मन की स्थिति उस कोश पर रहती है तब तक वह भौतिक वस्तुओं की ओर उन्मुख रहता है, अर्थात् भौतिक वस्तुयें मन को दुख सुख के द्वन्द्वों के आवेष्ठन में बाँधे रहती हैं जो सभी का अभीष्ट है। कवि का मन जब इस कोश पर स्थित होता है, तो वह बड़ी निम्नकोटि की कल्पनायें करता है, उसकी अनुभूति तन की भूख से ऊपर नहीं उठ पाती। वह इन्हीं को जीवन का परम—चरम लक्ष्य समझ लेता है। प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश क्रमशः मन की श्रेयोन्मुखी भूमियाँ हैं। इन मनोभूमियों की विशेषताओं की व्याख्या के विस्तार में जाना न तो यहां आवश्यक ही है और न इस निबंध में इसके लिये अवकाश ही है। हमें तो केवल यहां पर यह देखना है कि अन्नमय कोश पर स्थित मन से प्रसूत काव्य कौन से विघ्नों का सूत्रपात कर सकता है, जो समाज और राष्ट्र के लिये किस सीमा तक अमंगलकारी और घातक सिद्ध हो सकते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज प्रायः सभी देशों के व्यक्तिओं का मन अन्नमय

112717

कोश पर ही स्थित है। मन की इस स्थिति का कारण, और चाहे कुछ भी हो, पर एक कारण तो स्पष्ट ही है कि आज व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी न होकर, बहिर्मुखी हो गई हैं, केन्द्रोन्मुखी न होकर परिधोन्मुखी हो गई हैं। आज प्रायः मानव श्रेय को सोचने की कौन कहे उसके स्वरूप को भी स्थिर नहीं कर पा रहा है, उसको पहचानने की भी क्षमता उसमें नहीं रही। जो अच्छा लगता है खाता है, जो अच्छा लगता है पहनता है, जो अच्छा लगता है सुनता है, जो अच्छा लगता है पढ़ता है, जो अच्छा लगता है कहता है। उसके सम्पूर्ण व्यापारों में प्रियता का ही साम्राज्य है। वह केवल भावना में ही बहने लगा है, विचार की पृष्ठ भूमि उसके पीछे नहीं है। उसके प्रेय के अनुसार उसकी विचार धारा भी बन गई है। बिना किसी पुष्ट, श्रेयस्करी चिन्तना के अभाव में वह अन्धों के हस्ति-निरूपण की भांति सत्य का निरूपण कर रहा है। पर सब से बड़े दुख तथा आश्चर्य की बात तो यह है कि दर्शनों के रूप में ज्ञान का इतना बड़ा संचित भंडार होते हुये भी वह उसका उपयोग नहीं करता, आंखों के होते हुए भी नहीं देखता। अमृत के महासागर में डूबा होने पर भी आज मृत्यु से भयभीत है।

संसार के विभिन्न कार्य व्यापारों में तो इस प्रकार का उद्वेलन तथा मंथन हो ही रहा है, किन्तु सब से भय तथा दुःख की बात तो यह है, कि आज का साहित्यिक भी इससे नहीं बच पाया। वह भी आज श्रेय छोड़ बैठा है, प्रेय की ही साधना में रत है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है उसने दुनियाँ को रीत और रोटी में बाँट दिया है। रीत और रोटी की उसकी यह उपासना संसार को विनाश की ओर जिस तीव्र गति से लिये जा रही है, उसकी माप असंभव है। उसके द्वारा प्रसूत साहित्य से आज प्रायः प्रत्येक व्यक्ति का मन रुग्ण हो गया है। उसकी इस मानसिक अस्वस्थता का प्रभाव उसके शरीर पर भी अनेक रोगों के रूप में देखा जा सकता है। अतः ऐसा रुग्ण मन लेकर वह कब तक जी सकेगा ईश्वर ही जाने!

काव्य, उपन्यास, कहानी तथा साहित्य के अन्य अंगों में प्रेय की ही विचार-धारा का एकाधिपत्य दृष्टिगोचर होता है। आजकल साहित्यिक अपने इस प्रेय-मत के समर्थन में नाना प्रकार के तदनुरूप सिद्धान्तों को भी गढ़ता जा रहा है। इस दुर्गति का एक कारण उसकी प्राचीन के प्रति एकान्त अवहेलना है। वह सम्पूर्ण प्राचीन को जीर्ण-शीर्ण मानता है। प्राचीन के प्रति भी उसकी स्थूल दृष्टि है। वह फल के सुविचारित सिद्धान्तों को भी आज के लिए ठीक नहीं समझता। इसीलिए वह उन सिद्धान्तों का अध्ययन किये बिना ही उन्हें हेय समझता है, उन्हें वह रूढ़ि कहता है और वह नये नये सिद्धान्तों की उद्भावना में सतत प्रयत्नशील है। निश्चय ही उसके यह सिद्धान्त प्रेय की ही भूमि पर स्थापित हैं, और इसी कारण उसके निरूपित साहित्यिक सत्य की स्थापनायें भी प्रतिवर्ष बदलती रहती हैं। इन मान्यताओं के आधार पर निर्मित साहित्य भी एक बसन्त से दूसरा बसन्त नहीं देख पाता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनका यह

साहित्य स्थायी नहीं है।

श्रेय से च्युत होने के कारण आज का साहित्यिक व्यापारी हो गया है। वह ऐसी रचनाएँ करता है, जिसकी बाजार में माँग है और चूँकि जनता की माँग प्रेय के ऊपर आधारित है, इसलिए आज की माँग से कल की माँग बिल्कुल भिन्न होती है। इस दशा में जिस प्रकार के साहित्य का निर्माण हो रहा है, वह स्थायी हो भी कैसे सकता है। इसलिए आज का साहित्यिक भौतिक रूप से जनता का दास हो गया है। सच्चे कलाकार के गुणों से उसकी स्थिति बहुत दूर हो गई है। अब वह मनीषी, परिभू, स्वयंभू, नहीं रहा। अज्ञेय तथा यशपाल के उपन्यासों में हमें उसी प्रेय भावना के दर्शन होते हैं। अंचल, नरेन्द्र, भारतभूषण आदि कवियों की रचनाएँ भी उसी प्रेय भावना की भाष्य हैं। कुछ कवियों ने अपनी कविताओं को दार्शनिक पृष्ठभूमि देने के लिए तदनुकूल सिद्धान्त भी गढ़ लिये हैं। एक महाकवि ने अपने काव्य में मृत्यु की अमरता का संदेश देते हुये सारे जीवित प्राणियों को ही मृत्यु से आक्रान्त करके उनके सारे आनन्द और उल्लास को डकार जाने का प्रयास किया है। एक दूसरी कविता में उन्होंने इस सर्वमान्य वेदान्त के सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को उलट कर 'जगत सत्यं ब्रह्ममिथ्या' की प्रतिष्ठा की है। ऐसी ही भ्रामक स्थापनाओं से आज का साहित्य भरता जा रहा है। प्रेय की भावना में एक दोष और भी होता है, और वह दोष है उसके नूतनान्वेषण का। अतएव, वे सिर पैर के नित्य जीवन सिद्धान्त बनते जाते हैं।

पर सबसे दुःख की बात तो यह है कि आज का आलोचक भी इन साहित्य स्रष्टाओं की हाँ में हाँ मिलाता चला जा रहा है। पथ-प्रदर्शन के महनीय कार्य को करने के कारण, आलोचना का साहित्य में वही स्थान है, जो शरीर में नेत्रों का। अतएव, यदि आलोचक अपने उत्तरदायित्व का ठीक रूप से वहन नहीं कर सकता, तो वह देश तथा राष्ट्र के लिये महान अपराध करता है और यह अपराध किसी भी दशा में क्षमा करने योग्य नहीं है। आज हिन्दी साहित्य को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समान एक समर्थ, निर्भीक, तथा निश्पक्ष आलोचक की आवश्यकता है, जो साहित्य में तीव्रगति से बढ़ते हुये कूड़ा-कर्कट को साफ कर सके तथा उसे एक सुव्यवस्थित श्रेयोन्मुखी दार्शनिक विचारधारा में प्रतिष्ठित कर सके। मैं इन पंक्तियों के माध्यम से उन सभी समर्थ आलोचकों का आवाहन करता हूँ, जो हिन्दी साहित्य को प्रेय के इस विनाशकारी खतरे से निकाल कर उसकी प्रतिष्ठा श्रेय और प्रेय के सुन्दर समन्वय में कर सके।

नवीन पाठ्यक्रम में विज्ञान का स्थान

मोहन स्वरूप मेहरोत्रा एम० एस-सी०, एल० टी०, एम० एड०.

पिछले कुछ वर्षों से प्रदेश की शिक्षा प्रणाली में सुधार करने की बड़े जोरों की चर्चा चल रही है। दार्शनिक, शिक्षा शास्त्री, राजनीतिज्ञ, सामाजिक कार्यकर्ता आदि सभी ने वर्तमान शिक्षा के विषय में अपना-अपना असन्तोष प्रगट किया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली शिक्षित व्यक्तियों को किसी उद्देश्य पर नहीं पहुँचाती है। प्रदेश की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा दी जानी चाहिए इसका अनुभव सभी को अधिकाधिक हो रहा है। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर हमारे प्रदेश की सरकार ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अभिनवीकरण की योजना प्रस्तुत की है। इस योजना के अन्तर्गत आरंभिक पाठशालाओं से लेकर उच्चतर माध्यमिक स्तर तक के वर्तमान विद्यालय, सामाजिक विद्यालयों (Community Schools) का रूप धारण कर लेंगे, जिनमें समाज की संस्कृति, परम्परा, भौतिक आवश्यकताएँ, एवं आर्थिक साधनों के समकक्ष जीवन बिताया जायगा। प्रदेश की सरकार इसी उद्देश्य से प्रथम चरण के रूप में प्रदेश के ग्रामीण जूनियर हाई स्कूलों को पूर्ण समाज-विकास केन्द्रों के रुप में बदलने का निश्चय कर चुकी है जो अपने आसपास की ग्रामवासी जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

जूनियर हाई स्कूलों का पाठ्यक्रम वैसे ही भरापूरा हो गया है, तिस पर भी सुधारक लोग और भी विषयों को सहेतुक उसमें स्थान दिलाने का प्रयत्न सदा करते रहते हैं। अतएव यह उचित ही है कि ग्रामीण जूनियर हाई स्कूलों के नवीन पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जाने वाले प्रत्येक विषय के स्थान की नवीन रूप से विस्तार पूर्वक परीक्षा की जाय।

विज्ञान का प्रभुत्व

वर्तमान युग में विद्यालयों के पाठ्यक्रम में विज्ञान का स्थान इतना निश्चित रूप से स्थिर हो चुका है कि इसके पाठ्यक्रम में निर्धारित करने के प्रश्न का कोई प्रतिवाद नहीं कर सकता। वास्तव में प्रत्येक विद्यालय, चाहे वह माध्यमिक हो अथवा आरंभिक, अपने छात्रों को इस विषय की कुछ न कुछ शिक्षा देने की चेष्टा करता है। शिक्षा चाहे दोषपूर्ण हो या अल्प ही हो किन्तु शिक्षा देने की भावना विद्यमान रहती है।

विज्ञान की इस प्रभुता को सर्व सम्मत सिद्ध करने में अनेक कार्यशील वर्ष लग चुके हैं और तब उसको यह स्थिति प्राप्त हो पायी है। अतएव अब यह उचित ही है कि हम

ठीक से देखें कि जन सामान्य के साधारण शिक्षण का अंग विज्ञान को क्यों बनाया जाता है ? किस प्रकार के विज्ञान की शिक्षा हम देंगे ? और आगे हम किस प्रकार से यह शिक्षा देंगे ?

पाठ्यक्रम में किसी विषय को सम्मिलित करने का सामान्य नियम

पाठ्यक्रम में विज्ञान को सम्मिलित करने में बहुत से कारण दिये जा सकते हैं और इसके औचित्य के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पाठ्यक्रम में किसी विषय को सम्मिलित किये जाने के लिए दिये जाने वाले विविध हेतुओं के विषय में प्रस्तुत किये गये सामान्य विचारों के विश्लेषण को मोटी तौर पर तीन शीर्षकों में बाँट सकते हैं :—

(१) उपयोगिता :—यह छात्रों के दैनिक जीवन में सहायक अथवा उनके भावी व्यवसायों में आवश्यक है।

(२) अनुशासन :—यह उन्हें चिन्तन की शिक्षा देता है और उनके मस्तिष्क को तीव्रता प्रदान करता है।

(३) सांस्कृतिक :—इसका सम्मिलित करना इसलिए उचित है कि यह हमारे सामाजिक वंशानुक्रम का एक आवश्यक अंग बन गया है।

इस लिए यह परम उचित है कि हम इन्हीं दृष्टियों से पाठ्यक्रम में विज्ञान के वास्तविक स्थान का मूल्यांकन करें।

१—विज्ञान का उपयोगितावादी मूल्य

प्रथम—

सामाजिक आवश्यकताएँ : समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए विज्ञान का अध्ययन अवश्य लाभदायक है। समाज के लिए विज्ञान मुख्यतया दो रीतियों से लाभदायक है :—(१) व्यावसायिक शिक्षण एवं (२) नागरिकता के शिक्षण की दृष्टि से। आइये अब हम इन पर कुछ विस्तार के साथ क्रमशः विचार करें।

१—**व्यावसायिक शिक्षण** :—वर्तमान समय में किसी जाति की प्रवृत्ति, अपितु उसके अस्तित्व की आवश्यकता यही है कि उसे अत्यन्त कुशल, शिल्प शास्त्री, विशेषज्ञ व्यक्ति निरन्तर प्राप्त होते रहें। किन्तु जूनियर हाई स्कूल के विज्ञान के पाठ्य ग्रन्थों का यह उद्देश्य नहीं ठहराया जा सकता कि वे ऐसे विशेषज्ञों को पैदा करें। शिल्प-शिक्षण भली प्रकार से केवल विशेष रूप से सज्जित संस्थाओं में और वह भी १६ वर्ष की आयु के पश्चात् ही आरम्भ किया जा सकता है। किन्तु, स्पष्टतया, सामान्य शिक्षण के अंगीभूत रूप में किसी प्रकार की शिक्षा के लिए व्यावसायिक कारण उन छात्रों के अनुपात पर निर्भर होते हैं, जो उस ज्ञान को आगामी जीवन में व्यावसायिक रूप से अपने व्यवहार

में लायेंगे। हमारी ग्राम वासिनी जनता का एक बहुत बड़ा भाग कृषि को ही व्यवसाय के रूप में ग्रहण करता है जिसके लिए विज्ञान का ज्ञान आधार के रूप में परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त अभिनवीकरण एक या अधिक शिल्पकलाओं में विशेषज्ञ बना देता है। यह आरम्भिक विज्ञान सम्बन्धी व्यावसायिक ज्ञान बालक को शिल्पकला में दक्षता प्राप्त करने के अधिक योग्य बना देता है। वास्तव में शिल्प कला सम्बन्धी व्यवसायों के ग्रहण करने को विद्यार्थी जीवन की वैज्ञानिक अभिरुचि एवं उसके विकास पर एक सीमा तक निर्भर होना चाहिए। इस व्यावसायिक कारण को इस बात से एक और अधिक पुष्टता मिल जाती है कि प्रस्तावित अभिनवीकरण, शिक्षित बेकारों को साहाय्य देने तथा शिक्षित नवयुवकों के ग्रामों से नगरों में चले जाने के कारण आये दिन अधिक गरीब होते हुए ग्राम्य जीवन को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से एक संकटकालीन योजना है।

यह आरम्भिक व्यावसायिक शिक्षण तीन तरह से लाभदायक सिद्ध हो सकता है। सर्व प्रथम—इस शिक्षण को प्राप्त करने वाले किशोर नवयुवक अपने माता-पिता को उनकी व्यवसाय-वृत्ति में सहायता देने में समर्थ बन जायँगे। दूसरे—विद्यालय से निकलने वाले बालक तुरन्त ही अपनी जीविका-उपार्जन कर सकेंगे। तीसरे आगे की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से शिल्पकला सम्बन्धी विद्यालयों में प्रवेश चाहने वाले लोग उस शिक्षण के लिए अधिक योग्य सिद्ध होंगे।

२—नागरिकता का शिक्षण :—हमें ऐसे लोगों को पैदा करने की आवश्यकता है जो विज्ञान से प्राप्त होने वाली शक्तियों एवं अवसरों तथा उनके व्यवहार में होने वाले उत्तरदायित्वों एवं उत्पातों से पूर्ण परिचित हों। राज्य की उचित रीति से प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उसका मानसिक वातावरण, जिसमें कि उसके निवासी रहते हों, उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के अनुकूल सिद्ध हो। वैज्ञानिक लोग उसी दशा में अच्छा कार्य करते हैं जब कि उनके प्रयासों को अन्धानुकरणात्मक विरोध का सामना न करना पड़े और युग की भावना उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण बनी रहे। इसके अतिरिक्त अपने कार्य क्षेत्र में विज्ञान का बुद्धिमत्तापूर्ण सोत्साह उपयोग करते हुए ज्ञानवान् प्रशासक या राजनीतिज्ञ, जनमत से—जो उसके कार्यों का महत्व समझता है—स्वस्थ प्रोत्साहन प्राप्त करता है। साधारण नागरिक की इस प्रकार की भावना के आधार के लिए विस्तृत ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित नहीं है। इसका केवल यही आशय होता है कि वह बुद्धिमत्ता से प्रयोग किये जाने वाले मानव समस्याओं के समाधान के साधन के रूप में—विज्ञान को देखने की प्रकृति अपना लेता है।

अन्त में, पूर्ण रीति से वैज्ञानिक विषयों में सामान्य नागरिक के बुद्धिमत्तापूर्ण सहज सहयोग पर आधुनिक समाज की प्रभावात्मक प्रगति उत्तरोत्तर निर्भर रहती है, यथा—बाधाओं का निराकरण, व्याधियों का निग्रह, शिशुओं की देख-रेख एवं पोषण आदि,

आदि। जन साधारण एवं वैज्ञानिक प्रशासक के बीच इस प्रकार के सहयोग के बीज सामान्य शिक्षण में उपस्थित रहने चाहिए।

द्वितीय

व्यक्तिगत आवश्यकताएँ : निम्नलिखित चार रूपों में व्यक्तियों के प्रति विज्ञान की उपयोगिता का अध्ययन किया जा सकता है : (१) व्यावसायिक उपयोग (२) अव्यावसायिक उपयोग (३) 'प्रकाश' तथा (४) ज्ञानात्मक आनन्द। इनमें से प्रथम—व्यावसायिक उपयोग—का विवेचन हम भली प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में ही कर चुके हैं।

२—अव्यावसायिक उपयोग

वैज्ञानिक ज्ञान को सामान्य जीवन में व्यवहृत करने के लिए अवसरों की संख्या बड़ी तीव्रता से बढ़ती जा रही है। कोई भी आदमी इसका प्रतिवाद नहीं कर सकता कि वैज्ञानिक तथ्यों एवं नियमों का साधारण परिचय मात्र भी प्रायः अधिक उपयोगी हो सकता है। उदाहरण के रूप में जीव विज्ञान का कुछ परिचय स्वास्थ्य विज्ञान के अध्ययन के लिए सर्वोत्तम आधार शिला का कार्य करता है और व्यावहारिक स्वास्थ्य विज्ञान सम्बन्धी उपदेशों में निहित तथ्यों का सुन्दर ज्ञान उसे कार्य रूप में परिणत करने में परम सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त बालक अपने शरीर एवं उसकी कार्य प्रणाली के विषय में केवल इसी दृष्टि से नहीं जानना चाहते हैं कि इस प्रकार का ज्ञान उनको कभी सहायक हो सकता है, अथवा नागरिकता के लिए वह आवश्यक है, अपितु इसलिए कि वे भ्रान्ति में पड़े होते हैं, एक जिज्ञासा रखते हैं, इसके प्रति उनके हृदयों में अनुराग रहता है और कभी-कभी भयभीत से रहते हैं—और उनके प्रश्नों का समाधान एवं भय का निराकरण होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमारे छात्र बड़े होते हैं और केवल नागरिक या कार्यकर्ता ही नहीं होते अपितु माता-पिता, उद्यानपालक आदि-आदि के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इन रूपों में तथा अन्य प्रकार की सैकड़ों निजी वृत्तियों में समय-समय पर उनको ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो तत्वतः वैज्ञानिक होती हैं। स्वाभिमानी लोग स्वाधीन रहना चाहते हैं और इस पर भी वे किसी कार्य को केवल वैसे ही नहीं करना चाहते अपितु उसके कारण का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। कदाचित् यह विज्ञान के शिक्षण के लिए पर्याप्त तर्क नहीं हो सकता किन्तु निश्चय ही हमारे निदर्शनात्मक साधनों के संग्रह में एक तथ्य का कार्य करता है। यह साधन केवल ज्ञान के रूप में ही स्वतः उपयोगी नहीं है अपितु व्यावहारिक विचार धारा के बालक में सिद्धान्तों के अध्ययन के प्रति यह एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति जाग्रत कर देता है। वह अपने स्तर के अनुसार उपयोग में इसकी परिणति के विषय का परिचय प्राप्त करना चाहता है। यह भी एक कारण इस बात में

है कि बागबानी एवं कृषि, अपनी उपयोगिता के अतिरिक्त भी, सामान्य शिक्षण की पूर्ति में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। उचित रीति से पढ़ाने पर वे आधुनिक जीवन में उनके सर्वव्यापी व्यवहार एवं सिद्धान्त के मध्य में रहने वाले सम्बन्ध को प्रदर्शित करते हैं।

३—'प्रकाश'

विज्ञान के बहुत से ऐसे रूप हैं जो व्यवहार में नहीं लाये जा सकते फिर भी वे प्रकृति के मध्य में मनुष्य के स्थान को स्थिर करने में सहायक हैं। जीव विज्ञान इस प्रकार के साधन के रूप में बहुत 'प्रकाश' डालता है। परम विस्तृत विवर्त (Evolution) का सर्वदिग्दर्शक चित्र इसका उदाहरण है -पार्थिव परिस्थितियों पर विजय प्राप्ति का चिरन्तर संघर्ष; फुफ्फुस एवं जङ्घाओं का अर्जन ; कोष के भीतर रहने वाले अंडे, तथा उष्णरुधिर; संतान की निरन्तर उपचीयमान देख-रेख; हस्त और नेत्रों का पूर्णता को प्राप्त हुआ नियन्त्रण; विद्या की प्रगति, स्मृति एवं प्रभेदज्ञान; सामाजिक सहयोग, औजारों का व्यवहार, शिल्प कुशलता एवं कानून तथा विज्ञान एवं कलाओं की परम्पराओं का अनुक्रमण आदि-आदि के रूप में इस प्रकार का ज्ञान एक व्यापक इतिहास की भावना को जन्म देता है। वह भावना है—मानव की जातीय चेतना, जो बराबर संघर्ष करती रही है। यद्यपि इसे सामाजिक अथवा वैयक्तिक उपयोग में नहीं लाया जा सकता, तथापि शिक्षण में इसका एक निश्चित स्थान है ही।

४—ज्ञान का आनन्द

विज्ञान के कुछ रूप ऐसे हैं जो सीखने के योग्य हैं क्योंकि उनमें बड़ा 'कौतुक' निहित है। बच्चे यह जानना चाहते हैं कि पहिये कैसे घूमते हैं, वस्तुएँ कैसे बनायी जाती हैं, पशु किस प्रकार व्यवहार करते हैं आदि-आदि। आगे चलकर उनका इस प्रकार का अनुराग अवकाश कालीन अध्यवसायों का आधार बन सकता है, जो प्रौढ़ जीवन पर्यन्त रहता है। इस प्रकार शिक्षा शास्त्रियों की एक बड़ी समस्या—किसी प्रकार बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे अपनी छात्रावस्था एवं आगामी जीवन के अवकाश को उचित-रीति से उपयोग में ला सकें—विज्ञान को विद्यालय के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने से भली भांति सुलझ गयी है।

२—विज्ञान का अनुशासन की दृष्टि से महत्त्व

विज्ञान के शिक्षण के महत्व के विषय में दिया जाने वाला यह कारण शिक्षा अथवा साधारणीकृत शिक्षा के स्थानान्तरण की संभावना के विश्वास पर आधारित है। विज्ञान से ही स्पष्ट एवं प्रबल चिन्तन की कुछ शक्तियाँ विकसित होती हैं; यथार्थ और सूक्ष्म परीक्षण मनुष्य को ठीक-ठीक ज्ञात होते हैं। यह सब बहुत आवश्यक गुण हैं और इनको अधिक विस्तार में हर तरह से सहायता देनी चाहिए। प्रयोगात्मक साक्षात्कार से निश्चित

रूप से यह ज्ञात हुआ है कि शिक्षण के स्थानान्तरण की संभावनाएँ, जैसी पहले समझी जाती थीं, उनसे कहीं कम हैं। जहाँ पर कार्य शक्ति के दो रूप आरंभिक समान रीति के होते हैं वहाँ पर उन्नति का स्थानान्तरण, एक दूसरे की एकाकारता के परिमाण में, एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप पर हो सकता है। किसी यंत्र विद्या के द्वारा भी स्थानान्तरण हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे कि उष्णता की शिक्षा में, जिस क्षेत्र में यंत्र विद्या का उपयोग किया गया है उससे अतिरिक्त क्षेत्रों में भी उसका व्यवहार हो सकता है।

छात्र जीव विज्ञान के नियन्त्रित प्रयोगों से परिचित हो सकता है, पर उसको इसका लेशमात्र भी विचार नहीं होगा कि किसी पेटेन्ट औषधि अथवा विज्ञापन सम्बन्धी उद्भावना अथवा शिक्षण की नवीन पद्धति के महत्व की जाँच में भी इसी प्रकार की प्रणालियों का उपयोग किया जा सकता है। वह दिये हुए एक वैज्ञानिक उदाहरण में इस बात का पता लगा सकता है कि अनुक्रम (Sequence) निश्चित रूप में हेतु, तथा परिणति को नहीं व्यक्त करता है। किन्तु उसको इसका लेशमात्र भी भान नहीं होता कि यही बात राजनीति अथवा व्यक्तिगत सम्बन्धों के विषय नें भी लागू होती है। अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि युक्ति-सिद्ध पद्धतियों को विशिष्ट निश्चित वस्तुओं से, जिनमें कि उनका प्रथम संबन्ध देखा जा चुका है, पृथक कर दिया जाय और छात्रों को इस योग्य बना दिया जाय कि वे उनका साधारण रीति से प्रयोग कर सकें—यही समस्या सामने आती है। यह इस रीति से संभव हो सकता है कि जहाँ कहीं भी अवसर मिले वहाँ हम वैज्ञानिक पद्धति का निदर्शन, केवल विज्ञान में ही न करके, सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में करें और किसी विशिष्ट प्रयोग पर ही बल न देकर हर एक परिस्थिति में उसके साधारण प्रयोग पर ही बल दें। जितने ही भिन्न प्रकार के उदाहरण होंगे, उतनी ही तत्परता से उनमें निहित विचारों को छात्र जान सकेंगे। इस प्रकार के कार्य के फल स्वरूप पाठ्यक्रम उसी प्रकार एक युक्ति संगत स्थिति में पूर्ण हो जायगा जिस प्रकार कि मानव लाभ का सामान्य विचार अपने स्तर पर पूर्ण बन जाता है।

यह सिद्ध हो चुका है कि अपने शिक्षाक्रम में शिक्षार्थी को यदि निहित सिद्धान्तों से परिचित करा दिया जाय और फिर इन सिद्धान्तों का सावधानी से दूसरे क्षेत्रों में प्रयोग किया जाय तो उन्नति—जिसकी कि हमें आशा करनी चाहिये—इस दूसरे क्षेत्र में भी दिखाई पड़ेगी।

केवल पद्धति पर्याप्त नहीं है। मानसिक पद्धतियों के स्थान पर स्पष्ट चिन्तन का अधिक महत्व है। नयी पीढ़ी को इस वैज्ञानिक भावना को अत्यावश्यक विचार के रूप में ग्रहण करना चाहिए जिससे उनमें आत्म निरीक्षण, सार्वजनिक साहस एवं यथार्थ तथ्यों के सम्मुख नत होने का गुण उत्पन्न हो। इसी रूप में विज्ञान के विकास के इतिहास का वास्तविक मूल्य हो सकता है। किन्तु, केवल विज्ञान का शिक्षक ही नहीं, अपितु सभी अच्छे अध्यापक स्वतः अपने आदर्श के द्वारा इस दिशा में अधिक कार्य कर सकते हैं।

अन्त में प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि जहाँ पर केवल व्यवहृति के स्थान पर आदर्श को अपना लक्ष्य बनाया गया है—जैसे कि स्वच्छता का आदर्श—वहाँ पर कार्य का उस क्षेत्र से पूर्णतया भिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ता है जिस क्षेत्र में उसका पहले व्यवहार हो चुका था।

३—विज्ञान का सांस्कृतिक महत्व

विज्ञान का अपना निजी साहित्य है और वह उतना ही सशक्त एवं उन्नतिकारक आकर्षण उत्पन्न कर सकता है जितना कि अन्य कोई मानव सम्बन्धी अध्ययन। दुर्भाग्य-वश विज्ञान की शिक्षा के इस पक्ष की भूतकाल में बड़ी अवहेलना की गयी है, और छात्रों को विज्ञान की अधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक, वैचित्र्यपूर्ण एवं जीवनचरित्र सम्बन्धी घटनाओं के परिचय की ओर प्रवृत्त करने की नाममात्र की भी चेष्टा नहीं की गई। गैलिलिओ, न्यूटन, आर्किमिडीज, फैराडे डारविन, सर जगदीशचन्द्र वसु प्रभृति महान् विज्ञान वेत्ताओं के कार्यों के ज्ञान से अधिक प्रोत्साहन प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान युग में कोई भी ऐसा आदमी यथार्थ रूप में सुसंस्कृत नहीं समझा जा सकता यदि वह प्राकृतिक जगत् की विज्ञान सम्बन्धी खोजों के महान् साहसिक विचारों के द्वारा अपनी कल्पना शक्ति को आन्दोलित नहीं कर सका है।

विज्ञान का पाठ्यक्रम

ग्रामीण जूनियर हाई स्कूलों के निमित्त विज्ञान के शिक्षण के उद्देश्यों पर इस प्रकार विचार करने के पश्चात् अब हम तत्सम्बद्ध द्वितीय प्रश्न—हम किस प्रकार के विज्ञान की शिक्षा देंगे—पर विचार करना आरम्भ करते हैं। कदाचित उपरिनिर्दिष्ट विचारों के मनन के फलस्वरूप निम्नलिखित बातें विज्ञान के पाठ्यक्रम के विषय में सम्मुख आजाती हैं :—

(क) साधारण जीवन के साथ अनेक विन्दुओं से सम्बन्ध रखने वाले, मोटी तौर पर सोचे गये, विज्ञान के पाठ्य विषय का महत्व ;

(ख) स्कूलों का विज्ञान सम्बन्धी पाठ्य विषय, वास्तविक मानव परिस्थितियों से प्रोत्साहन प्राप्त करके उन्हीं के मध्य से, विकसित हो , तथा

(ग) व्यापक सामान्यता के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर बल देने की परमावश्यकता , क्योंकि जब इनको पूर्ण रीति से समझ लिया जायगा तब इनका लाभकारक उपयोग सरलता से विस्तृत किया जा सकेगा।

इस से यह परिणाम निकलता है कि कम से कम आरम्भिक अवस्था में हम विज्ञान के पाठ्य विषयों का इतनी अधिक उदारता से संग्रह करें जितनी अधिक सम्भव हो ताकि

उनमें विस्तृत वर्ग आ जायँ। अतएव ग्रामीण जूनियर हाई स्कूलों के अनिवार्य विज्ञान के पाठ्य विषयों में भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, स्वच्छता, कृषि, भूगर्भ विज्ञान एवं ज्यौतिष का संग्रह होना चाहिए, इनमें किशोर बालकों के लिए महान् आकर्षण भरा हुआ है।

इन विभिन्न शाखाओं में से प्रत्येक से संगृहीत समस्याएँ विज्ञान के क्षेत्र में छात्रों के लिए बड़ी महत्वपूर्ण होंगी, चाहे वे तुरन्त ही विद्यालय छोड़ें या आगे दूर तक अपना अध्ययन जारी रखें। विषयों की बहुरूपता एवं उनका स्थापन इस प्रकार से होना चाहिए कि वह प्रत्येक छात्र की अभिरुचियों, प्रवृत्तियों एवं योग्यताओं को प्रकाश में ला सकें ताकि उसे उसके भविष्य के विषय में परम बुद्धिमत्ता पूर्ण सम्मति दी जा सके। इसके अतिरिक्त उसे उन अनेक मुख्य विशिष्ट विज्ञानों के तत्वों, महत्व एवं सीमाओं के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय, ताकि वह अपने आगामी अध्ययन का निश्चय करने में बुद्धिमत्ता से विचार कर सके।

इसके अतिरिक्त विस्तृत चुनाव के समय हमारा मार्ग दर्शक सिद्धान्त ऐसा होना चाहिये जिसमें पहली बात यह ध्यान में रहे कि छात्र कक्षा भवन के बाहर कौन-कौन सी क्रियाएँ संभवतया करते हैं और दूसरी यह कि अध्ययन का कौन सा विशेष विषय, किन रीतियों से इन क्रियाओं के सुचारु रूप से करने में कारण बन सकता है।

तत्वों की उपस्थापन विधि

जितना ही हम विज्ञान के पाठ्य विषय के इन विचारों के अनुसार संयोजित करने का प्रयास करते हैं उतना ही अधिक हमें खण्डीकरण एवं शैथिल्यापादन की औचित्यपूर्ण आलोचना का डर है। इस प्रकार की वस्तुओं के संमिश्रण की परिस्थिति में एक सीमा तक पूर्णता लाने की योजना 'प्रसंग पद्धति' (Topic method) है। इस पद्धति को व्यवहार में लाकर हम असंख्य विषयों को दैनिक महत्व के कुछ मुख्य प्रसंगों से संबद्ध कर देते हैं। जैसे—कपड़ों का धोना, लाभदायक एवं हानिकारक कीड़े-मकोड़े, हमारे उपवनों की धरती आदि-आदि। 'प्रसंग पद्धति' के द्वारा प्राप्त होने वाली पूर्णता, प्रसंगों के पारस्परिक सम्बन्ध की मात्रा के ऊपर निर्भर रहती है। इस पद्धति के महत्व के विषय में यह कहा जाता है कि भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान की मौलिक एकता प्रगट की जाती है। अन्ततोगत्वा जब तक इस एकता की व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है तो यह कोरी कल्पना मात्र प्रतीत होती है, और यद्यपि यह प्रगट है कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इसकी सत्ता का वास्तव में अनुभव करता है, तथापि यह संभावना दिखाई देती है कि यह वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में ही एक आदर्श के रूप में निवास करती है, न कि उनके कार्यों के परिणामों में। फलत: यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान की एकता शिक्षक के मस्तिष्क में ही एक आदर्शमय लक्ष्य के रूप में मूलतया

रहती है। यद्यपि वह स्पष्टतया उसके पाठ्य ग्रन्थों में नहीं प्रगट हो सकती। विज्ञान के अध्ययन में हमारा मुख्य विषय 'चेतन' हो और प्रत्येक वस्तु जिसका अध्ययन करें उससे सम्बन्ध रखती हो।

शिक्षा योजना का सर्वोत्तम केन्द्र

जूनियर हाई स्कूलों के हमारे छात्र संवर्धनशील बालक हैं, न कि पूर्ण विचारक। अतएव विज्ञान का पाठ्य विषय समकेन्द्रिक एवं क्रमश: उपचीयमान हो और जीवन के अत्यन्त सामान्य अध्ययन से आरम्भ हो। उचित रीति से तैयार किया गया यह पाठ्य-विषय शिक्षा योजना के सर्वश्रेष्ठ केन्द्र के रूप में सिद्ध होगा, क्योंकि यह बच्चों की कुछ परमशक्तिमयी सहज अभिरुचियों को सीधे प्रभावित करता है। इस रीति से विज्ञान का पाठ्य विषय विद्यालय के पाठ्य क्रम के सम्पूर्ण विषयों को व्यवहाररूप से परस्पर संबद्ध बनाने में प्रर्याप्त रूप से उपयोगी हो सकता है।

शिक्षा का नवीन विधि के लिए मनोवैज्ञानिक आधार

अन्त में हम तृतीय प्रश्न की ओर आते हैं कि हम इसकी कैसे शिक्षा देंगे? हम यहाँ पर विज्ञान के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों पर विचार नहीं करेंगे, किन्तु विज्ञान की शिक्षा की नई विधि के निमित्त वैज्ञानिक आधार का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

मानव की यान्त्रिक रचना कुछ इस प्रकार की हुई है कि उसके अपने तथा परिस्थितियों के बीच सहज विशिष्टता के रूप में सदा एक प्रकार का प्रसार होता रहता है और उसकी संपूर्ण क्रियाएँ इन्हीं प्रसारों का समाधान करने की चेष्टा का प्रतिनिधित्व करती हैं। व्यक्ति सदा अधिक या कम मात्रा में किसी आन्तरिक प्रेरणा का समाधान करन के लिए ही क्रियाशील रहता है। क्योंकि उसका कुछ इस प्रकार का निर्माण किया गया है कि यदि प्रसार का अभाव कुछ अधिक समय तक रहे, तो वह स्वत: ही एक प्रेरणा को उत्पन्न कर देता है—जिसको श्रान्ति को दूर करने की प्रेरणा कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह जिस प्रेरणा का समाधान करने की चेष्टा कर रहा हो उसके प्रति वह सचेत भी हो। जब वह उस प्रेरणा के प्रति सचेत होकर किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है तब उसके सम्मुख एक उद्देश्य रहता है। किन्तु उसका सम्पूर्ण कार्य कलाप इन्हीं शब्दों में प्रगट किया जा सकता है कि व्यक्ति अपनी सहज प्रेरणाओं का समाधान करने के उद्देश्य से ही अपनी परिस्थितियों के साथ पारस्परिक क्रिया के द्वारा सतत संघर्ष किया करता है।

वैयक्तिक व्यवहार की प्रकृति की यह विचार-धारा विद्यार्थी के अनुभवों का निरन्तर निर्माण—शिक्षा के ऊपर तात्विक बल देती है। व्यक्ति के वर्तमान व्यवहार की समता में पुनर्व्यवस्था के द्वारा शिक्षा, अधिक संग्राइक बनती है उन सब तत्वों को एक में

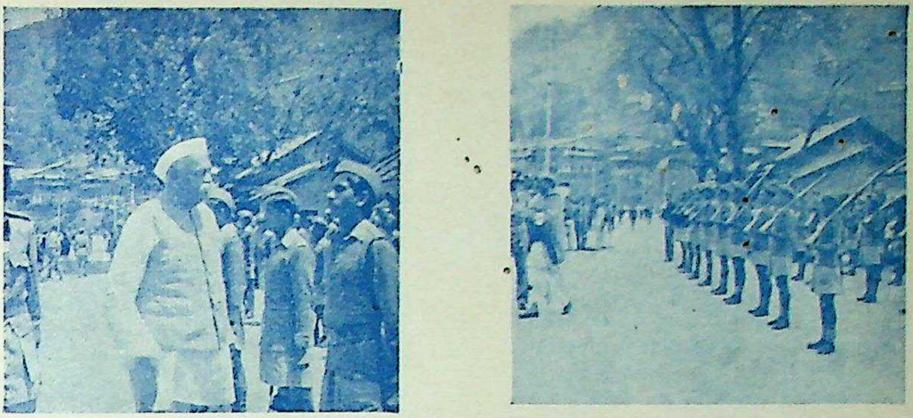

मुख्य मन्त्री तथा शिक्षा मन्त्री द्वारा नैनीताल में छात्र-सैनिकों की परेड का निरीक्षण ।

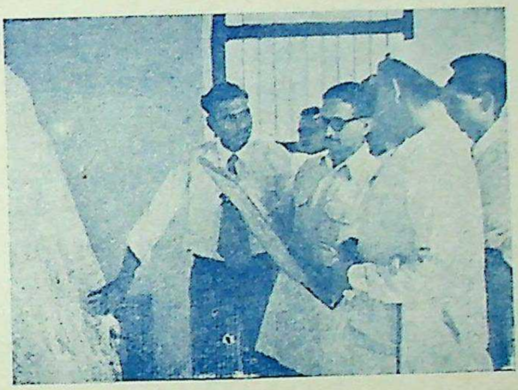

देहरादून में शिक्षा मंत्री सम्राट् अशोक के एक शिला-लेख का अवलोकन करते हुये ।

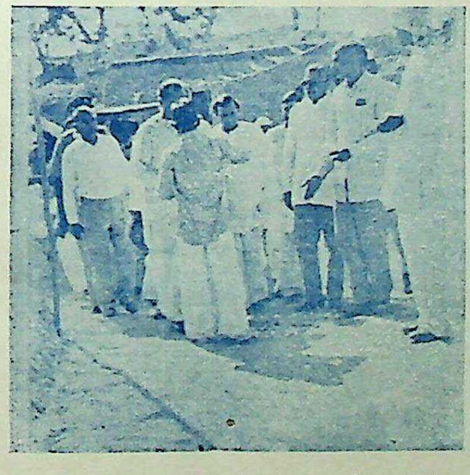

जूनियर हाई स्कूल सिरोर, जिला मैनपुरी के
छात्र डा० सीताराम को तिलक लगाते हुये ।

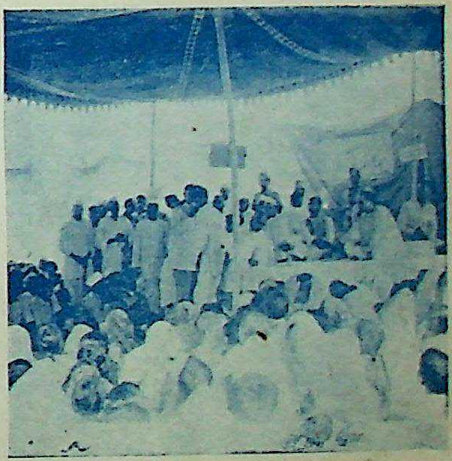

छात्रों के बीच डा० सीता राम
भाषण कर रहे हैं ।

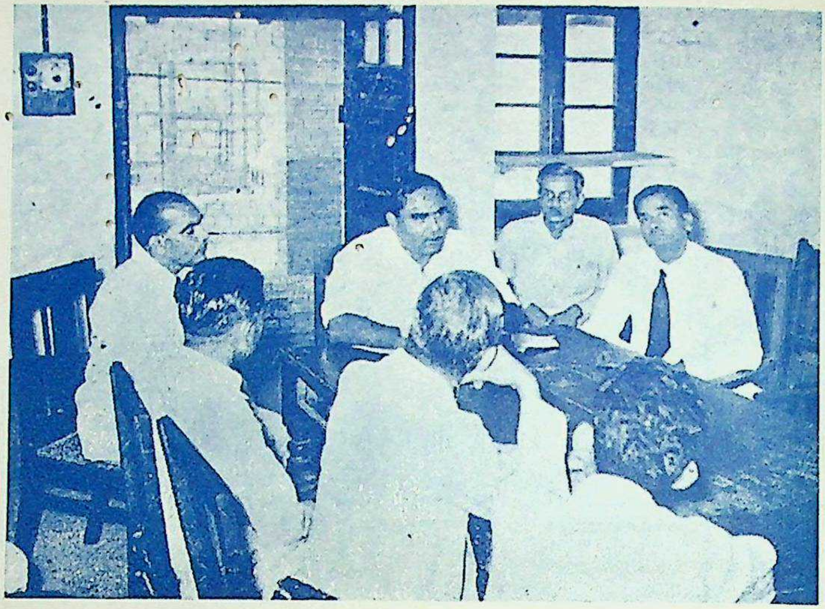

अतिरिक्त शिक्षा सचालक श्री राजा रांव सिंह आई० ए० एस० राजकीय प्रशिक्षण विद्यालय, लखनऊ में पाठशालाओं में चलाई जाने वाली नवीन कृषि योजना के विषय पर अध्यापकों के बीच भाषण करते हुये ।

प्रसार-शिक्षण केन्द्र मुजफ़्फर नगर में एक शिक्षार्थी खेत जोतते हुये ।

समाहृत करती हुई, जिनका कि व्यक्ति की व्यवहार समता तथा वर्तमान परिस्थिति के साथ सार्थक सम्बन्ध है, वह अधिक पूर्णता का स्वरूप धारण करती है।

शिक्षा की दृष्टि से इसका अभिप्राय यह होता है कि शिक्षाक्रम, व्यक्ति के भाव प्रधान जीवन के साथ साथ उसके शारीरिक एवं मानसिक जीवन के साथ पूर्णतया संग्रथित है; और यदि शिक्षा को अधिक प्रभावात्मक एवं सन्तोष प्रदायक बनना है तो फिर व्यक्ति को उसकी पूर्णता के रूप में समझा जाय और उचित रीति से उसके साथ व्यवहार किया जाय। अस्तु, इस मनोविज्ञान के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी आदमी के साथ सहायक की दृष्टि से व्यवहार करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी चेष्टाओं को प्रगति देने वाले तथ्यों के प्रति हम सदा सजग रहें। विज्ञान की शिक्षा के क्षेत्र में यह पर्यालोचना शिक्षण की व्यापक सूझ के स्वरूप पर बल देने का सकेत करती है, विश्लेषण एवं संश्लेषण के साथ साथ चलने पर जोर डालती है, और अनुगमन एवं निगमन दोनों को उपयोग में लाने वाले विचारपूर्ण चिन्तन पर अधिक आग्रह प्रदर्शित करती है। यथार्थ सूचनाएँ, शारीरिक व्यायाम और स्मरण को अधिक सार्थक उद्देश्यों में लगाया जाना चाहिएँ।

कृषि प्रधान जूनियर हाई स्कूलों में गणित का स्थान एवं उद्देश्य

एन० के० बेनर्जी
आचार्य, राजकीय प्रशिक्षण महा विद्यालय इलाहाबाद

मुख्यतया गणित अपने मानसिक शिक्षण के कारण, जो इसके द्वारा प्राप्त होता है, पढ़ाया जाता है और दूसरे इसलिए कि इससे यथार्थता का ज्ञान उत्पन्न होता है। मस्तिष्क में आत्म-विश्वास एवं स्वातन्त्र्य की भावना को उत्पन्न करने में गणित बहुत उपयोगी है। कृषि प्रधान जूनियर हाई स्कूलों के बालकों को ऐसी मानसिक शक्ति से युक्त होना परमावश्यक है, जो उन्हें स्वतन्त्र भारत के कृषि-विशारद् सफल नागरिक बना सके। इसलिए स्कूलों में उनको मानसिक प्रयास करने की शिक्षा देनी चाहिये और उनके इन प्रयासों को सफल भी होना चाहिए। इसके लिए उनके पाठ्यक्रम में गणित के अतिरिक्त अन्य कोई विषय अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता, जो उनके दैनिक सामान्य कृषक जीवन में आने वाली प्रतिदिन की समस्याओं के समकक्ष ही समस्याओं को सुलझाने की दिशा में उनके मन को प्रवृत्त कर सके।

प्रत्येक आयु के छात्रों के स्तर के अनुसार ही समस्याओं को प्रस्तुत करने की गणित की क्षमता के विषय में, अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यह एक विश्रुत मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बालकों की आरंभिक अवस्था में उनके प्रयासों को सफल सिद्ध होना चाहिये, अन्यथा उनमें विषय के प्रति उदासीनता एवं अनुत्साह उत्पन्न हो जायगा। इसके लिए क्लिष्ट तथा अनावश्यक रूप से जटिल प्रश्नों को सावधानी से दूर रखना चाहिये। कक्षा में दिये जाने वाले प्रश्नों को अवगमन एवं प्रयास, दोनों दृष्टियों से सरल होना चाहिये, और ग्रामीण बालकों के अनुभवों से निकट सम्बन्धित होना चाहिये। केवल इसी रीति से उनके समक्ष गणित के अध्ययन की उपयोगिता एवं आवश्यकता का व्यक्त करना संभव होगा। विद्यालय के प्रत्येक पाठ्य-विषय के लिए यह परमावश्यक है कि बालकों में उनके प्रत्येक कार्य के प्रति एक सफलता की भावना उत्पन्न हो सके। उनमें इस संतोष-प्रदायिनी भावना को जाग्रत करने में गणित की समता में विद्यालय की कोई क्रिया समकक्ष नहीं ठहर सकती, क्योंकि इसके द्वारा किसी प्रश्न का ठीक समाधान करने से सफलता की अनुभूति बड़ी शीघ्रता से होती है। दूसरी क्रियाएँ और विशेषतया श्रमिक क्रियाएँ इस संतोष अथवा संशय निवृत्ति की भावना को जन्म देती

हैं किन्तु केवल किये जाने वाले कार्य की पूर्णावस्था में ही. ऐसा संभव है। पर इस रीति से उतनी जल्दी सफलता नहीं प्राप्त हो सकती, जितनी कि गणित के द्वारा।

यथार्थता का महत्त्व, जो गणित की विशेषता है, और जो सदा इस विषय का अद्भुत गुण माना गया है, उसके मूल्य के विषय में शिक्षण की दृष्टि से अधिक विस्तारपूर्वक कहना व्यर्थ ही होगा। क्योंकि इसमें अस्पष्टता के विचार के लिए कोई स्थान नहीं है। छात्र को कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ेगा—यहाँ पर आलस्यपूर्ण मस्तिष्क के लिए बचकर भाग निकलने का कहीं अवकाश नहीं है। यथार्थ विचार के साथ ही यथार्थ भाषा का आगम होता है और इसके लिए कानून के बाद गणित का ही स्थान है। गणित निगमन एवं अनुगमन के लिए अवकाश प्रदान करने में सिद्धहस्त है—और यह दोनों विशेषताएँ बालकों की तर्क बुद्धि को विकसित करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सहायक हैं। बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि अनुमिति, सहज बोध, एवं कल्पना शक्ति के अवसरों की उपलब्धि गणित के अध्ययन की मूल विशेषतायें है।

गणित के अध्यापन का प्रधान महत्व इस बात से ज्ञात होता है कि यह पाठ्यक्रम के अन्य सब विषयों की अपेक्षा स्मरण शक्ति से बहुत कम और तर्क शक्ति से अधिक काम लेने को बाध्य करता है, क्योंकि यहाँ आवृत्तिमय स्मरणशक्ति के लिए नहीं के बराबर ही अवकाश है। संक्षेपतः इस विषय की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) सरलता, (२) यथार्थता, (३) परिणाम की ध्रुवता, (४) मौलिकता (५) सामान्य कृषक जीवन की तर्क शक्ति की समानता, (६) अधिक प्रतिभावान व्यक्तियों के अनुकूल बढ़नेवाली तर्क शक्ति का परिमाण। यदि छात्रों को गणित के वास्तविक तत्वों का दर्शन ठीक से करा दिया जाय, तो वे जीवन में तथ्यों को विवेकपूर्ण दृष्टि से देखने लगें और वे मानसिक आत्म विश्वास तथा विचार स्वातंत्र्य प्राप्त कर लें, और ये सब गुण उनको इस देश के सफल नागरिक बनाने में निश्चय ही बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

अन्त में यह भी एक तथ्य है कि आधुनिक सभ्यता के युग में गणित का एक उपयोगितावादी मूल्य भी है। नवीन युग के नागरिक को इस प्रकार की मानसिक शिक्षा देनी होगी जो उसे गणित विषयक भाषा का रस प्राप्त करने में समर्थ बना सके—आजकल के समय में ग्राफों एवं आँकड़ों से पूर्ण, रीतियों के द्वारा ज्ञान के विभिन्न विभागों की दी जाने वाली विविध उपयोगी सूचनाओं को समझने के लिए गणित का अध्यापन परमोपयोगी है। किसी व्यक्ति की शिक्षा वास्तव में तब तक शिक्षा नहीं कही जायगी जब तक कि वह अभिव्यक्तियों की इन प्रणालियों में अपने को दक्ष नहीं सिद्ध कर लेगा।

प्रारंभिक गणित भी, जो आजकल के विभिन्न स्तर वाले जूनियर हाई स्कूलों में पढ़ाई जाती है, उतनी ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि नवीन वातावरण में प्रत्येक कृषक को अपने खेत की दैनिक उन्नति का लेखा जोखा देखने एवं अपने आर्थिक मामलों के

विवरण को ठीक रखने के लिए गणित के सामान्य चारों नियमों—जोड़, बाकी, गुणा एवं भाग—को अपने व्यवहार में लाने की आवश्यकता पड़ेगी ही। उसे अपनी भूमि के क्षेत्रफल एवं उसकी उपज की नाप जोख में कुशलता प्राप्त करनी होगी। प्रतिशत, समानुपात एवं अन्य समता की रीतियों की जानकारी —अपने खेतों के व्यय तथा श्रम का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के सर्वश्रेष्ठ उपायों का परिचय उसके लिए परमावश्यक है। ग्राफों एवं आंकड़ों वाली रीति से कार्य करने से उसे अपने साधनों के गुप्त अभिप्रायों पर अधिक प्रकाश डालने का सामर्थ्य प्राप्त होगा।

सामान्य शिक्षण में अंकगणित के महत्व के विषय में प्रायः काफी चर्चा हो चुकी है। हम कुछ तथ्यों की ओर संकेत करके इसकी इस प्रकार सांनदर्शन व्याख्या कर सकते हैं कि कल का आने वाला नागरिक अपने आस पास घटित होने वाली घटनाओं में अधिक अभिरुचि रखेगा। वह पुस्तकें एवं समाचार पत्र पढ़ेगा, अनेक प्रकार के प्रचारों का कुशलता से सामना करके उसे उसमें से वास्तविक तथ्य को ढूँढ़ निकालना होगा, इसके लिए उसे उन साधनों से सन्नद्ध करना होगा जिनकी सहायता से वह अपना काम चलाये। अंकगणित का पाठ्य विषय, गणित के द्वारा सुलभ होने वाले मानसिक अनुशासन के अतिरिक्त देश के प्रत्येक नागरिक के लिए एक मूल्यवान् संपत्ति है—उस प्रकार के नागरिक के लिए, जिसे उत्पन्न करने का विद्यालयों की नई संस्था अपना लक्ष्य बना चुकी है, इसका कुछ कम महत्व नहीं है। इस प्रकार अंक गणित का प्रत्येक प्रकरण उसे इस योग्य बना देगा कि वह अपने कार्य को अधिक योग्यता एवं पटुता से कर सकेगा। यह उसे अपने कार्य में अधिक आनंद एवं सन्तोष प्राप्त करने तथा भविष्य में अपनी उन्नति को निश्चित करने में सहायता देगा। गणित विषयक भाषा में उसके कार्य का विवरण उन लोगों का पथ प्रदर्शन करेगा जो उसके अनुभवों से लाभ उठाना चाहेंगे।

बीजगणित, जो अंक गणित का सामान्यीकरण-रूप है, उसके कार्य संचालन में अधिक सूक्ष्मता से देखने में सहायक होगा और इस प्रकार उसे अपने आगामी जीवन के कृषि व्यवसाय की उन्नति को विवेकपूर्ण समझने में सहायक होगा। विषय की इस शाखा का संक्षेप-स्वरूप और तदुत्तर अंकगणित प्रणाली का सामान्यीकरण उसके दृष्टिकोण को अवश्य व्यापकता प्रदान करेंगे। बीज गणित दृढ़ सांकेतिकता को जन्म देता है और इसीलिए यथार्थ विश्लेषण की ओर मनुष्य को प्रवृत्त कर देता है। सांकेतिकता सामान्यी करण को प्रकाश में लाती है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि बीजगणित गणना को बहुत दूर तक सरल बना देता है—बीज-गणित के संकेतों एवं नियमों के विवेकपूर्ण व्यवहार से कम परिश्रम एवं समीकरण के द्वारा समस्याओं का समाधान इसके उदाहरण हैं। विचार के समस्त क्षेत्रों में, जिनमें संख्या या माप का काम पड़ता है, साधारण गणना अथवा जटिल प्रश्नों का समाधान इन दोनों को सुसाध्य बनाने में

बीजगणित एक रूप से यन्त्र का कार्य करता है। और भी एक परम विचित्रता यह है कि यह यंत्र निर्मायक के रूप में सिद्ध होता है।

ज्यामिति छात्र को तर्क पूर्ण चिन्तन से युक्त बनाती है और इस प्रकार जीवन के जटिल कार्यों के आशय की उचित रीति से व्याख्या करने के योग्य उसे बना देती है। ज्यामिति का एक पाठ उन सब मनोवैज्ञानिक रीतियों के उपयोग की ओर स्वतः सरलता से प्रवृत्त कर देता है, जो छात्र की नवीन दीक्षा को अधिक पूर्ण एवं प्रभावात्मक बना देता है। संयोगात्मक, विश्लेषणात्मक, आनुमानिक, यौक्तिक, गवेष्णात्मक तथा प्रयोगात्मक ये सब पद्धतियाँ गणित की इस शाखा के शिक्षण के लिए उपयोग में लायी जा सकती हैं। अध्यापक को अपने कार्य में बहुत अधिक यथार्थ एवं तर्कपूर्ण होने की चेष्टा में अपने छात्रों के मनोवैज्ञानिक स्तर के ऊपर जाने के लोभ के प्रति सदा सावधान रहना चाहिए—वह स्तर, जिस पर उसके छात्र अपने मानसिक विकास के द्वारा पहुँच चुके हैं, कभी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार प्रारंभिक गणित का शिक्षण अपनी तीनों शाखाओं—अंकगणित, बीजगणित एवं ज्यामिति—के साथ छात्रों के औचित्यपूर्ण मानसिक विकास के लिए परमावश्यक है, क्योंकि वे भविष्य में सफल कृषक बनने के लिए शिक्षित किये जा रहे हैं।

राज्य की उत्पत्ति पर भारतीय सिद्धान्त

शारदा प्रसाद दुबे

हाथी के पाँव में सब के पाँव आ जाते हैं और राजधर्म में सभी धर्मों का समावेश होता है। राज्यराज धर्म के मूल में स्थित है। इस राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुयी, और इसका क्या स्वरूप है; इस विषय पर भारतीय राजशास्त्रविदों ने पूर्ण प्रकाश डाला है। इनकी विचारधारा का महत्व योरोपीय विचारकों से किसी प्रकार न्यून नहीं है। इसके ज्ञान के लिये हमें इतिहास की शरण लेनी पड़ेगी और परिपक्व विवेचन ऐतिहासिक पद्धति द्वारा ही सुगम होगा। अनेक संस्थाओं की भाँति प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति दैवी अधिकार सिद्धान्त या शक्ति सिद्धान्त पर आश्रित समझी जाती थी। परन्तु ध्यान रहे कि यह शक्ति और अधिकार असीम नहीं थे, और राजसत्ता को शासित वर्ग से ही प्राप्त हुये थे।

दैवी अधिकार के सिद्धान्तवादियों का कथन है कि राजसंस्था का निर्माता मानव या मानव समुदाय नहीं है। राज्य ईश्वर प्रणीत है और राजा को समग्र अधिकार भी ईश्वर ही से प्राप्त हुये हैं। साधारणतः संहिता और ब्राह्मण काल के भारतीय आर्यों में राजसत्ता की प्रथा प्रचलित थी। प्रो० ए० वी० कीथ का कथन है कि ऋग्वेद में राजा द्वारा शासन के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार की शासन प्रणाली का विवरण नहीं दिया गया है। यह राजा अपने को ईश्वर या ईश्वरांश समझता था। शासित वर्ग के प्रमुख लेखक और वक्ता उसे प्रसन्न रखने के लिये या देश में अनुशासन की उपस्थिति के लिये उसे साधारण स्तर से पर्याप्त उच्च उठा हुआ मानते थे। यह भी मानना पड़ेगा कि उसे केवल मानव मानने वालों कटु सत्यवादी विचारकों का अभाव नहीं था।

ऋग्वेद राजा की उत्पत्ति पर अधिक प्रकाश नहीं डालता। उस काल का एक शासक अपने को अर्द्धदेव कहता है। उसे इन्द्र के सदृश शत्रुहन्ता की संज्ञा दी गयी है। अथर्ववेद में भी राजा के देवत्व का वर्णन आता है। यजुर्वेदीय संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में क्षत्रिय इन्द्र के सदृश और ब्राह्मण वृहस्पति के समान कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण भी संहिताओं की पुष्टि करता है। ताण्ड्य महा ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की तुलना प्रजापति से की गयी है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वाजपेय यज्ञ करने वाला राजा प्रजापति हो जाता है। यही ब्राह्मण अन्यत्र कहता है कि वाजपेय याजिन राजा प्रजापति की सन्तान हो जाता है।

ब्राह्मण साहित्य के अनुसार राजा देवताओं के सदृश हैं। स्मरण रहे कि इस साहित्य के अधिकतर वर्णन संकेतात्मक तथा रहस्यात्मक हैं। देवतागण स्वयं यज्ञों के अधीन हैं।

राजा भी यज्ञों से ही शक्ति सम्पन्न हो सकता है। इतना ही नहीं, वह अन्य यज्ञ करने वालों के अधीन है। प्रजा पर सुव्यस्थित शासन करने के लिए राजा को देवत्व प्रदान किया गया है। एकाको होते हुए भी राजा अनेक लोगों पर अश्वमेध याजिन होने के कारण शासन करता है। वह राजसूय भी करता है, और इस प्रकार प्रत्यक्ष रूपेण प्रजापति का प्रतिनिधि बन सकता है। वह धृतव्रत होता है और श्रोत्रिय की सहायता से केवल पुण्यकर्म सम्पादन करने की सामर्थ्य रखता है। स्पष्ट है कि ऋषियों ने केवल पुण्यात्मा सम्राट की कल्पना की थी।

मनुस्मृति में राजा के दैवी मूल का विशद विवरण मिलता है। कहा गया है कि संसार में अराजकता फैल गयी थी। चराचर जीवों की रक्षा के लिये परमात्मा ने राजा का निर्माण किया।[1] उसकी सृष्टि इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के अंशों से हुयी।[2] इस प्रकार ईश्वर निर्मित राजा बड़ा ही तेजस्वी था। उसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी का, पराक्रम में विजय का तथा क्रोध में मृत्यु का निवास रहता है।[3] मानव धर्म शास्त्र राजा को केवल देवांश कहता है, पूर्ण देवत्व उसे कदापि नहीं प्रदान करता। राजा का देवत्व केवल अलङ्कारिक वर्णन का विषय है। यह रूपक केवल उसके तेज और पराक्रम को प्रकाशित करने के लिये बाँधा गया है। शासित वर्ग में अनुशासन उपस्थित करने के लिये भी राजा के ईश्वरांशत्व का भय दिखलाया जाता था। कुछ भी हो; प्राचीन भारतीय विचारक राजा को केवल नर देवता समझते थे, देवता नहीं।[4] मानव धर्म शास्त्र भी राजा को केवल नररूप में देवता कहता है। महाभारत में देव और नरदेव समान कहीं नहीं कहे गये हैं। विनय कुमार सरकार का मत है कि राजा का देवत्व उसके तेज और स्वामी के रूप में कार्य सम्पादन के महत्व के कारण है।[5] प्रमथनाथ बनर्जी का कथन है कि केवल पुण्यश्लोक राजा में देवत्व के गुण माने जाते थे। स्व० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर का मत है कि "राजा तभी तक नर देवता समझा जाता था जब तक कि वह पुण्यात्मा रहता था। पवित्र गुणों का अभाव होते ही वह अपनी

---

१. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सवतो विद्रते भयात।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥ मनुस्मृति, (७।३)

२. इन्द्रा निलयमार्काणा मग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती :॥ (मनुस्मृति ७।४)

३. यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्व तेजो मयो हि सः॥ (मनु० ७।११)

४. **Public administration, 71—Pramath Nath Banerji.**

५. **"The divinity that hedges the monarch is the glory and importence of the functions that he has to perform as Swamin."—Political Institutions, 179-180,**

उपाधि खो बैठता था।"[१] शुक्रनीति में अच्छे राजा को देव तुल्य और निकृष्ट राजा को राक्षसवत् कहा गया है। परन्तु भागवत पुराण के अनुसार राजा सर्व देव मय था। अग्नि पुराण भी इसी मत की परिपुष्टि करता है। नारद स्मृति में अवसर के अनुसार राजा को इन्द्र, अग्नि और वरुण के सदृश माना गया है। मार्कण्डेय तथा मत्स्य पुराण राजा में लोक पाल साम्य देखते हैं। यह लोक पाल साम्य मनुस्मृति के लोक पाल अंशत्व से भिन्न है। मनु और कामन्दक दोनों राजा के लिये विनय की बड़ी आवश्यकता बतलाते हैं। वेणु और पिजवन दोनों को अविनय के कारण पदच्युत होना पड़ा था। महाभारत भी राजा को आत्मसंयम का सुझाव देता है।

कुछ भी हो, समाज ने अवांछनीय राजा को पदच्युत करने तथा दूसरे राजा के निर्माण की शक्ति अपने हाथ में रखा था। यदि प्राचीन भारतीय राजा को सर्वथा देवता मान लेते, तो अपनी नैसर्गिक धार्मिक प्रवृत्ति के कारण उसे अपमानपूर्वक पदच्युत करने पर विचार कभी न करते। हिन्दू राजा पर अनेक बाह्य एवं आभ्यन्तरिक नियंत्रण होते थे। उसके लिए स्वेच्छाचारी होना सम्भव नहीं था। किसी भी धर्म में मनुष्य देवता पर अपनी इच्छा का आरोप करते नहीं पाया जाता। यदि प्राचीन भारतीय शासक नरदेव न होकर पूर्ण देव होता तो न तो उसके पदच्युत होने की बात की जाती और न उसके उत्तराधिकारी के निर्वाचन अथवा निर्माण की।

अनुशासन और विधि के प्रति निष्ठा की भावना से प्रेरित होकर दैवी उत्पत्ति और दैवी अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था। इङ्गलैण्ड के निवासी सर राबर्ट फिल्मर ने सत्रहवीं शती में राजा को आदम का उत्तराधिकारी माना था। उसने अपने पेट्रिआर्का नामक ग्रन्थ में लिखा है कि प्रारम्भिक काल में ईश्वर ने आदम को शासन शक्ति प्रदान की थी। फलतः आदम का वंशज और उत्तराधिकारी राजा ईश्वर निर्मित है, और साधारण मानव इसके कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। स्पेन, आस्ट्रिया तथा फ्रांस के सत्ताधिकारी अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे। जापान और चीन में भी राजा देवता समझा जाता था। प्रकट है कि जब संसार के सांस्कृतिक अग्रणी भारत ने राजा को देवांश तक मानना छोड़ दिया था, तब भूमण्डल के कतिपय देश इस साधारण मानव को देवता मानने में प्रवृत्त थे। भारतीय राजा का ईश्वरांशत्व केवल रूपकात्मक था। परन्तु योरोपीय राजा का देवत्व तथ्य माना जाता था। सत्रहवीं शती के मध्य में टामस हाब्स जैसे विचारक ने भी राज शक्ति की निरंकुशता का प्रतिपादन किया था। उसने राजा को ईश्वर तो नहीं कहा, परन्तु दैवी अधिकार के सिद्धान्त के बल पर शासन करने वाले राजा का समर्थन और इंगलैंड के

---

[१] **"A king is नरदेवता only so long as he is virtuous, and he ceases to be so the moment he goes to the bad"—Carmichael Lectures, 130.**

गृह युद्ध तथा प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए युद्ध करने वालों का विरोध किया। प्राचीन भारतीय विचारकों ने शतियों पूर्व मानव समाज का दिव्य चित्र खींचा था, परन्तु हाब्स महोदय ने आज के केवल तीन सौ वर्ष पूर्व उसी समाज का बड़ा ही कुत्सित चित्रण किया। पण्डित राज जगन्नाथ ने "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथं पूरयितुं समर्थः" केवल भावुकता से प्रेरित होकर प्रसङ्ग वश कहा था, परन्तु उन्हीं के समकालीन पाश्चात्य विचारकों ने खूब सोच समझकर राजा को देव तुल्य निरंकुश-शक्ति का अधिकारी बनाने के लिए मनों कागज और स्याही खर्च कर डाला।

शक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कथन है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के कारण हुयी है। इस सिद्धान्त पर भी भारतीय विचारकों के गवेषणात्मक मत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्राचीन काल में देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ। देवता हार गये और राक्षस विजयी हुए। देवों ने कहा कि हम राक्षसों से इसलिये पराजित होते हैं कि हमारा कोई राजा नहीं है। राजा का बनना आवश्यक है। इस आवश्यक कार्य को कर डालने के लिये सब एक मत हो गये।[1] यह राजा प्रारम्भ में युद्ध का सेनानी रहा होगा। इसने अपनी शक्ति एवं पराक्रम से लोगों को संघटित किया और शत्रु को रणक्षेत्र से मार भगाया। युद्ध काल का सेनापति शान्ति काल का राजा बन बैठा। समराङ्गण की तलवार अलग रखकर विधि द्वारा शासन करने लगा। वीरता राजत्व का सूचक चिह्न था। राजा को अथर्ववेद में व्याघ्र के सदृश पराक्रमी कहा गया है। वह व्याघ्र चर्मासन पर बैठकर दिशाओं में संक्रमण करता था और समग्र प्रजा उसे चाहती थी।[2] राजा अपने सहकारियों में सर्व श्रेष्ठ होता था। इसे वेदों में "सजातानां श्रेष्ठ" कहा गया है। यह महल और किले में रहता था। इसके प्रासाद में सहस्रों स्तम्भ होते थे। देवताओं का राजा वरुण—जो कि मानव राजा का प्रतीक है—सहस्र द्वार के प्रासाद में रहता था। उसके महल के स्तम्भ स्वर्ण निर्मित थे। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शासक अपनी शक्ति और वीरता के बल पर शासन करता था। क्लैब्य के लिये कहीं भी स्थान नहीं था। शक्ति को वह स्वेच्छाचार का रूप नहीं देने पाता था। उसे सदैव प्रजा वर्ग को प्रसन्न रखना पड़ता था। केवल पराक्रम के बल पर शासन करने वाले राज प्रभु को नीचा देखना पड़ता था। नीत्शे तथा वान लुडविग जैसे पाश्चात्य दार्शनिक विचारकों का मत है कि शक्तिशाली का शासन ही प्राकृतिक व्यवस्था है। शक्तिशाली निर्बलों को

---

[1] देवा सुरा वा एषु लोकेषु समयतंत…तां स्ततोऽसुरा अजयन्…देवा अब्रुवन्न राजतया वैं नो जयंति राजानं करवा महा इति तथेति। (ऐतरेय ब्राह्मण १।१४)

[2] व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे विक्रमस्य दिशो महीः (विशस्त्वा सर्वा वांछन्तुमा स्त्वद्राष्ट्र मधिभ्रशत् (अथर्व वेद, ४।८।३)

६

दबाकर शासन करता है, और उक्त दार्शनिकों के अनुसार यह प्राकृतिक और नैतिक दृष्टि से उचित है। कार्ल् मार्क्स के अनुसार, राज्य और सरकार शोषक वर्ग के यन्त्र हैं। प्राचीन काल में सैनिक राज्य, मध्य युग में सामन्त शाही और आज का औद्योगिक राज्य; सभी शक्ति और शोषण के लिये निर्मित हुये थे। दास, कृषक और मजदूर सदा से शोषित होते चले आ रहे हैं। यह शोषण राज्य के सहारे होता चला आ रहा है। अतएव राज्य का आधार शक्ति है। पाश्चात्य विचारकों ने राजशक्ति के सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों पर दृष्टिपात किया है, परन्तु भारतीय विचारकों ने अनाचारपूर्ण शक्ति की कल्पना नहीं की थी। अनाचार और स्वेच्छाचार का समावेश होते ही शक्ति समाप्त हो जाती थी, और राजा विशेष मानव न रह कर साधारण मनुष्य हो जाता था। उसे सिंहासन छोड़ कर कुशासन ग्रहण करना पड़ता था।

भारतीयों ने राज्य के प्रत्येक रूप पर विचार किया था। उन्होंने सामाजिक संविदा-सिद्धान्त (Social Contract Theory) को हाब्स, लाक और रुसो के लिये नया नहीं रहने दिया। हम इसे समयवाद भी कह सकते हैं। इसके अनुसार राज्य की स्थापना प्राकृतावस्था (State of Nature) के आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक संविदा या अनुबन्ध द्वारा की थी। राजा को कुछ शर्तें या पण स्वीकार करने पड़े थे। वेदों, स्मृतियों, महाभारत और दीघनिकाय में इस प्रकार सामाजिक अनुबन्ध द्वारा राज्य की उत्पत्ति पर विचार किया गया है। प्रजा-सत्तात्मक शासन प्रणाली वाले देशों के राजा राज्याभिषेक के अवसर पर शपथ लेते थे और प्रतिज्ञा करते थे कि मैं सुव्यवस्थित रूप से शासन करूँगा और मनमाने कामों से दूर रहूँगा। यह समयवाद का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। वेदों में कुछ मंत्र इस प्रकार के हैं जो समाज द्वारा राजा के निर्वाचन या नियुक्ति की ओर संकेत करते हैं। यहाँ एक मंत्र उद्धृत किया जाता है :

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंचदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥

राजा से राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर आसीन होने के लिये कहा जाता है। उससे दृढ़ आशा की जाती है कि वह अपने उग्र प्रभाव से समाज को वैभव प्रदान करेगा। समाज हर्ष पूर्वक उसका स्वागत करता था। समाज की ही कामना से वह सिंहासनारूढ़ होता था। एक बार पद प्रदान करने पर लोग चाहते थे कि राजा राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।[1] ऋग्वेद कालीन भारत में भी राज्याभिषेक के समय इसी प्रकार के मंत्र कहे जाते थे। समाज कुछ शर्तों के साथ राजा की नियुक्ति करता था। इस समाज में सभी प्रकार के लोग होते थे। वैदिक काल में राजा के लिये मणि ग्रहण का लाक्षणिक कृत्य होता था।

१—आ त्वाहार्षमंतर भूर्ध्रुव वस्तिष्ठा विवाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥
(अथर्ववेद ६।८७)

उस समय वह समाज की प्रत्येक श्रेणी के नागरिक की सहायता माँगता था। रथकार, कारीगर, सूत और ग्रामणी उससे सहयोग करते थे।[1]

महाभारत के शान्ति पर्व में राजा की उत्पत्ति पर भीष्म पितामह पूर्ण प्रकाश डालते हैं। राजा की उत्पत्ति के विषय में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर उन्होंने बतलाया कि प्राचीन काल में न तो राज्य था और न राजा। उस समय एक दूसरे की रक्षा का आधार एक मात्र धर्म था।[2] परन्तु कुछ समय पश्चात् धर्म का नाश होने लगा। अब समाज ने देवताओं के परामर्श से एक राजा बनाया। इस पीढ़ी का चौथा राजा या रक्षयिता वेणु था। वह स्वेच्छाचारी सिद्ध हुआ। प्रजा ने उसे राजच्युत ही नहीं किया, बल्कि प्राणदण्ड भी दिया। सिंहासन रिक्त होने के पश्चात् ऋषियों ने वेण के वंशज पृथु को राजा नियुक्त किया। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं दण्डनीति के अनुसार शासन करूँगा।[3] पृथु ने अपने प्रथम पूर्वज विरजस् की भाँति "मात्स्यन्याय" या जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली व्यवस्था का अन्त किया। उसने अपने शासन से प्रजा को प्रसन्न रक्खा। इस प्रकार पृथु राजा अर्थात् प्रजा को प्रसन्न रखने वाला कहा गया।[4]

बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय में भी स्वर्ण युग की कल्पना की गयी है। इस युग में लोग धर्म से आनन्दपूर्वक रहते थे। बाद को धर्म की हानि हुयी। अन्त में "महाजन सम्मत" नाम के एक व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। यह पुरुष दिव्य तथा अयोनिज था। लोगों ने इससे राजा होने और कुव्यवस्था का अन्त करने की प्रार्थना की। यह अनुरोध स्वीकार करके महाजन सम्मत राजा बन बैठा। अपनी सेवाओं के बदले में धान्य का एक अंश लेना भी स्वीकार किया। नारद और वृहस्पति भी इस प्रकार के स्वर्ण युग को मानते हैं। इस युग के पश्चात मात्स्यन्याय फैलता है और समाज अव्यवस्था को दूर करने के लिए एक राजा बनाता है। इस प्रकार संविदा द्वारा समाज ने राज्य संस्था को जन्म दिया। फ्रांसीसी विचारक रूसो भी आदिम स्वर्ण युग में विश्वास करता है। उसका सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त बहुत अंशों में प्राचीन भारतीय

१—ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन पर्ण मह्यं त्वं सर्वान कृण्वभितो जनान् ॥
(अथर्व वेद, ३।६)

२—नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दांडिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥
(महाभारत-शान्तिपर्व)

३—यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थ समान्वितम् ।
तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥
(महाभारत, ५६।१०२)

४—"रंजिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्दते"।
(महाभारत ५६।१२५)

संविदा सिद्धान्त से मिलता जुलता है। कौटिल्य के अनुसार भी राजा की उत्पत्ति मात्स्य-न्याय से अभिभूत प्रजा की रक्षा के लिये हुयी। वैवस्वत मनु प्रथम राजा बनाये गये। इस सेवा के लिये लोगों ने उन्हें धान्य का छठा भाग और पण्य तथा सुवर्ण का दसवाँ भाग देना स्वीकार किया। प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता काशी प्रसाद जायसवाल तथा डा० रमेशचन्द्र मजूमदार समयवाद या सामाजिक संविदा के सिद्धान्त के आधार पर प्राचीन काल में राजनिर्वाचन प्रणाली का अस्तित्व मानते हैं।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में ऐतिहासिक या विकास के सिद्धान्त की भी झलक प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया या विकास का परिणाम है। मानव जाति की प्रकृति सुलभ सामाजिक प्रवृत्ति धीरे धीरे विकसित होकर राज्य के रूप में परिवर्तित हो गयी। पहले मनुष्य परिवार में संघटित हुआ, और क्रमशः 'ग्राम' तथा 'विश्' के सोपानों को पार करता हुआ 'जन' तक पहुँचा। जन का प्रधान राजन् बनाया गया। आर्य समाज कुटुम्बों, ग्रामों, विशों और जनों में विभाजित था। ग्रामों के समूह को विश् कहते थे, और विश् के प्रधान को विश्पति। जन कई विशों के समूह को कहते थे। इस प्रकार के विकास का साक्षी ऋग्वेद है। कुटुम्ब में गृहपति को परिवार के सदस्यों पर पूर्ण प्रभाव प्राप्त था। वह अपने वशवर्ती किसी भी व्यक्ति को बेंच सकता था, बंधक रख सकता था या अपराध के लिये कठोरतम दण्ड देने में शक्त था। यही गृहपति धीरे धीरे विशपति बना और विशपति ने राजा का रूप धारण किया। यूनानी विचारक अरस्तू भी राज्य को कुलों या कुटुम्बों का विकसित रूप मानता है।

भारतीय विचारकों की विचार पद्धति भिन्न भिन्न भले रही हो, परन्तु राजा को मानव और राज्य को मनुष्य निर्मित मानने में सब एक मत हैं। शतपथ ब्राह्मण में राजसूय का विवरण मिलता है। इसके प्रसङ्ग में पुरोहित उपस्थित लोगों से कहता है कि यह मनुष्य आप लोगों का राजा है, हम ब्राह्मणों का राजा सोम है। यहाँ ब्राह्मण राजा को केवल मनुष्य कहता है। गौतम का कथन है कि राजा और विद्वान ब्राह्मण संसार के नियमों तथा विधि को धारण करने वाले हैं।[1] मानव कृत होने के कारण राजशक्ति सीमित थी। राजा के हाथ में राज्य सौंपा जाता था और वह उसका पालन अपना सर्व-प्रधान कर्त्तव्य समझता था। राज्य की उत्पत्ति पर प्रत्येक भारतीय सिद्धान्त बुद्धिवाद पर आश्रित है। इनके तर्क आधुनिक विचारकों के लिये प्रकाशस्तंभ का काम करते हैं।

---

[1] द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।

भारतीय सङ्गीत की समस्याएँ

(नई दिशा)

आर० डी० जोशी

किसी आंग्ल कवि ने कहा है :– Old order changeth yielding place to new. Lest one good custom should corrupt the world. इसका आशय स्पष्ट है। कोई भी प्रथा व्यवस्था कितनी ही अच्छी क्यों न हो उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। जड़ प्रकृति में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता रहता है। अतएव संगीत में भी परिवर्तन होना अपरिहार्य है। हम चाहें या न चाहें वह आएगा अवश्य। अब हम इतना ही देखना चाहते हैं कि यह परिवर्तन या 'नवीनता' किस प्रकार की है। कैसे आ रही है? क्या वह हमें कला की उन्नति का रास्ता दिखला रही है या अवनति का? अगर वह अवनति की ओर संकेत कर रही हो तो क्या हम उसकी गति को रोक सकते हैं?

आज हमारे कलाकारों में कुछ प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से प्रकट होने लगी हैं। पहिली प्रवृत्ति यह है कि कलाकार अपनी 'कला' को 'शास्त्रीय' जताना चाहते हैं। एक राग जब उठाएँगे तब उनका ध्यान उस राग की अधिक से अधिक आलाप और तान देने की ओर रहेगा। फलत: तैयारी अधिक होते हुए भी रंजकता कम होती है। साधारण सुनने वाला उकता जाता है क्योंकि वह बारीकियाँ समझ नहीं पाता। "Like every other kind of art music arouses the same emotion that produce it". अर्थात् जिस भावना में संगीत का उद्भव होगा वही भावना वह उद्दीपित करेगा। जब कलाकार के मन में केवल शास्त्र के आधार पर विशिष्ट स्वर-समूह से बनने वाले अधिक से अधिक आलापों और तानों का प्रदर्शन करना यही केवल इच्छा होगी तो इसमें आश्चर्य नहीं कि वह गायन भावरहित रहे। इसका परिणाम यह होता है कि साधारण श्रोतृवर्ग 'शास्त्रीय' संगीत से दूर भागता है, और काव्य गायन की लोकप्रियता बढ़ती जाती है। काव्य गायन का अपना भिन्न स्थान है। और उसको अभिजात 'संगीत' के स्थान पर आरोपित करने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा।

कलाकारों में पायी जाने वाली दूसरी प्रवृत्ति है 'मिश्र' और 'अप्रसिद्ध' राग गाने की। पाश्चात्य संगीत की भी छाया हमारे संगीत पर पड़ रही है। इसमें संदेह नहीं कि 'नवीनता' प्रगति का एक आवश्यक विषय है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक नवीनता प्रगति का चिन्ह होगी ही। कला के क्षेत्र में रुचि भिन्नता के

लिये बहुत अवसर है। जो विषय एक को अच्छा लगेगा वही दूसरे को संभव है कि अच्छा न लगे। फिर भी रुचि भिन्नता की एक मर्यादा होती है। यह मर्यादा स्थापित होने पर यह संभव न होगा कि जिस कृति को एक व्यक्ति उत्कृष्ट कहे, उसे दूसरा निकृष्ट समझे। संगीत के लिये 'रंजकता' अथवा 'रसिक हृदय आकृष्ट करने की सामर्थ्य' यह आवश्यक गुण है। इस कसौटी पर कस कर हमें 'संगीत' में आजकल पाये जाने वाली विशेषताओं की श्रेणी का निश्चय करना होगा।

साहित्य हो या ललितकला, उसमें देशकाल के विशिष्ट सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब दिखाई देता है। हमारे जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों पर दृष्टि डालने पर क्या दिखाई देता है? थोड़ी सी पूँजी में हम अपनी धनसंपदा का प्रदर्शन करना चाहते हैं। घर में चाहे पौष्टिक अन्न की कमी हो लेकिन वेष-भूषा में हम एक दूसरे की स्पर्धा करेंगे। थोड़े से ज्ञान की पूँजी पर हम विद्वान कहलाना चाहते हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में आज हम गहराई के अभाव का अनुभव कर रहे हैं। यही बात संगीत में भी है। कलाकार एक राग को घंटा भर क्यों गाता है? इसलिये कि श्रोतागण यह समझें कि उसने बहुत मेहनत की है। वैसे देखा जाय तो गानेवाला कितने गहरे पानी में है इसका अंदाजा उसके दस मिनट के गाने से भी हो सकता है। प्रत्येक राग की प्रकृति भिन्न होती है। उस प्रकृति को प्रकट करने का काम कठिन है। भैरवी की पाँच सौ तान लेना आसान है किंतु भैरवी गाकर करुण रस की अथवा भक्ति रस की उत्पत्ति करना इतना आसान नहीं है। रसोत्पत्ति के लिये गहरे भावात्मक अनुभव की आवश्यकता है। जब कलाकार देखता है कि इच्छित रस की उत्पत्ति करना अपने बस की बात नहीं है, तब वह उस भैरवी में पंजाबी ढङ्ग, मद्रासी ढङ्ग इत्यादि मिलाकर उसको वैचित्र्य पूर्ण बनाकर संतोष की सांस लेता है।

सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति के लिये वैचित्र्य का आश्रय लेना मनुष्य का स्वभाव है। 'मिश्र' राग गाने की या 'अप्रसिद्ध' राग गाने की प्रवृति का भी कारण हमें इसी में मिलेगा। हम यह नहीं कह सकते कि 'मिश्र' राग नहीं चाहिये। लेकिन कलाकार जब हर राग में किसी न किसी दूसरे राग का मिश्रण करने के निश्चय से ही गाने लगता है तब वह यांत्रिकता का ही दूसरा नमूना हो जाता है। यह कारीगरी है, कला नहीं है। सप्तक के बारह स्वर क्रम से लाने का प्रभुत्व जिन्होंने अपने गले पर पा लिया है, उनके लिये रागों का मिश्रण एक बच्चों का खेल है। गायक अपनी मस्ती में गा रहा हो और उसकी हृदय से इच्छा हुई कि वह इसी राग में दूसरे राग के स्वर ले, उसने देखा कि मिश्रण से कोई रसोत्कर्ष में हानि नहीं हुई तो उसको वह अपना सकता है। मैंने एक प्रसिद्ध गायक के मुह से शंकरा-वसंत सुना। श्रोताओं में दो पक्ष थे। गायक के चाहने वाले उसकी स्तुति कर रहे थे और दूसरे लोग उदासीन थे। शंकरा और वसंत भिन्न प्रकृति के राग होने के कारण समरस नहीं हो रहे थे। रससंगति में सौन्दर्य-दृष्टि की आवश्यकता होती है। इसका अनुभव हम रोज के व्यवहार में भी करते हैं। सफेद जूते और काले मोजे, खाकी

निकर, हरी या पीली कमीज और ऊपर किसी भड़कीले रंग की टोपी पहने हुए व्यक्ति कभी-कभी दिखाई देते हैं। रंग-वैचित्र्य और सौन्दर्य-दृष्टि के प्रभाव का इससे अच्छा कौन सा उदाहरण हो सकता है ?

मिश्र राग गाकर गायक एक और लाभ उठाता है। एक राग की चीज के विस्तार में जितना समय वह लेगा उससे दुगना समय उसी चीज में दो रागों का मिश्रण करके गाने में वह लगा देता है। और जहाँ श्रोताओं की दृष्टि में समय की लंबाई ही अच्छे गाने की कसौटी बनी हुई है वहाँ वह श्रेष्ठ गायक कहला सकता है।

जो बात मिश्र रागों को है वही करीब-करीब अप्रसिद्ध रागों की। बड़े-बड़े 'गुनिजन' अधिकतर अप्रसिद्ध राग गाने लगे हैं इसका परिणाम यह है कि जो अपनी गिनती बड़े गायकों में कराना चाहता है वह केवल अप्रसिद्ध राग गाने की ही कोशिश करता है।

'मिश्रराग' और 'अप्रसिद्धराग' के आकर्षण का एक और कारण है। संगीत शिक्षा का प्रसार भी बड़ी शीघ्रता से हो रहा है। चार या छः साल में ४०-५० राग सीखकर विद्यार्थी उपाधि पा लेते हैं। कलाकार यदि उन्हीं रागों को गावें तो उसमें विशेषता ही क्या रह जाती है ? मेरा आक्षेप विद्यार्थियों की उपाधि पर नहीं है। श्रोताओं में जब उपाधि प्राप्त किये हुए या संगीत की थोड़ी सी शिक्षा प्राप्त किये हुए लोग हों तो गायक उन पर अपनी छाप जमाने के लिये कोई नया राग गाना आवश्यक समझता है। कलाकार समझता है कि जितने आलाप और तान मैं सुनाऊँगा उतने आलाप और तान तो विद्यार्थियों के मुँह से भी लोगों ने सुनी होगी। उसके मन में कदाचित् ही यह विचार आता होगा कि यमन, विहाग, हमीर जैस राग जो—किसी संगीत-शाला के प्रथम वर्ष के विद्यार्थी गाते हैं—इनकी अपनी-अपनी प्रकृति है। चार या पाँच साल के परीक्षा के लिये किये हुये अभ्यास में प्रत्येक राग की प्रकृति को पहचानना भी विद्यार्थियों के लिये कठिन है। फिर उसको निर्मित करना तो दर किनार। वास्तव में यह कलाकार का काम है। आलाप तान तो राग के स्वरूप की खुलावट बढ़ाने वाला साज सिंगार है। राग के अन्तस्थ प्रकृति के स्वरूप का जिन्हें दर्शन हुआ है उन्हें उस राग को कई बार गाने में आनन्द ही आवेगा और वह श्रोताओं को भी अपने आनन्द का भागी बनाएंगे। अप्रसिद्ध राग गाने में कोई बुराई नहीं है, लेकिन उनका प्रचार जिस प्रकार किया जा रहा है वह कला की दृष्टि से अधिक प्रसंशनीय नहीं कहा जा सकता। बीस साल पहले बिलासखानी तोड़ी रागों में थी, आज वह साधारण कक्षा में गिनी जाती है क्योंकि मुश्किल से दो साल जिन्होंने संगीत का अभ्यास किया होगा वह भी कहीं से सुनकर उसे गाने लगते हैं। इसको प्रगति तब कहा जा सकता था जब कि ऐसे गाने वाले बिलासखानी तोड़ी की कोमलता अनुभव कर पाते और सहृदयता से गाते।

इन सब बातों का संकलित परिणाम यह दिखाई देता है कि जन साधारण 'शास्त्रीय' संगीत को नीरस और कुछ विद्वानों के समझने की चीज समझने लगा है।

उनको संतुष्ट करने के लिये कुछ गायक अब काव्य का आश्रय अधिक मात्रा में लेने लगे हैं। नये गीत बनाने का प्रयत्न हो रहा है। कहीं-कहीं प्रांतीय भाषा में पक्के गानों की रचना होने लगी है। इस सम्बन्ध में गाने में शब्द का महत्व क्या है इसका विचार करना अनुचित न होगा। संगीत स्वर-प्रधान है और शब्द का स्थान उसमें गौण है। इस बात को मानते हुए भी हम इस बात को नहीं भूल सकते कि जो भाव गायक स्वरों में अभिव्यक्त करना चाहता है, उसकी अभिव्यक्ति अधिक सहजता से करने में शब्द सहायक होते हैं। रसायन-शास्त्र में जिसे Calalytic Agent कहते हैं, उसका जो कार्य है वैसा ही कार्य संगीत में शब्दों का है। गेय काव्य की रचना की ओर अब भी हमारा ध्यान बहुत कम है। नये शब्द पुरानी बंदिश में रखने की चेष्टा हो रही है। हृदय से निकलने वाली कलाकृति को पुराने साँचे की क्या आवश्यकता है ? मराठी के बहुत से गाने ख्याल की बंदिश में हैं। क्यों न कवि-गायक—जिसे शास्त्र में वाग्गेयकार कहते हैं—अपने हृदय से निर्मित करे ? सांचे में शब्द ढालने का काम न करे।

वृन्दवादन

वृंदवादन का भारतीय संगीत में स्थान नहीं है क्योंकि भारतीय संगीत एकतानता (melody) आधारित है, और वृंदवादन की रचना (harmonics) स्वर-वैचित्र्य पर होती है। केवल एक साथ बहुत से वाद्य जैसे सितार, दिलरुबा, सारंगी इत्यादि बजाने से वह वादन 'वृंदवादन' नाम के पात्र नहीं होता। वृंदवादन में एक ही समय पर भिन्न-भिन्न वाद्यों से एक दूसरे को बढ़ावा देनेवाले भिन्न-भिन्न स्वर बजाये जाते हैं। वृंदवादन की बढ़ती हुई लोक प्रियता आज चित्रपटों में और ध्वनिमुद्रित संगीत में स्पष्ट हो रही है। एकतानता में वह सामर्थ्य है कि वह प्रत्येक स्थायी भाव को शांतता प्रदान करे इसके विरुद्ध 'आर्केस्ट्रेशन' में यह खूबी है कि वह धीर गंभीर स्थायी भाव में भी एक प्रकार की प्रक्षुब्धता निमार्ण कर देता है। आर्केस्ट्रेशन की तरफ अग्रसर होते हुए संभव है कि हम अमरीका के लोकप्रिय Jazz को भी अपनाएँ, जिसके अनिष्ट परिणामों से बचने के लिये R. C. Maccarthy ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी है :—

Jazz may justly be condemned from an artistic standpoint on the ground that it destroys a taste for better music, and viewed psychologically it comes under a more serious censure. It provokes to excitement, it stirs frivolous emotions of kind that can readily pass over its sex temptations. It steps up the speed of living which must be moderate if it is not to shake us apart as a nation.

One means for toning down the current mania for thrills and for excitement is to do away with unhealthy kind of music. This is not the only way of tempering the rush of modern life nor is it the most effective, yet it has its value. Jazz is both the effect of our present craze for movement and the cause of it.

(कला की दृष्टि से Jazz दूषणीय है, क्योंकि वह अभिजात संगीत का प्रेम नष्ट कर देता है । मानस शास्त्र की दृष्टि से वह और भी निंद्य है, क्योंकि वह भावावेग प्रक्षोभित करता है……आज जीवन की हर चीज की गति बढ़ाने की जो धुन हमारे सिर पर सवार हो रही है उसी को उत्तेजित करने में वह सहायक होता है)

आज लाचार होकर हमें यह कहना पड़ता है कि भारतीय संगीत की उपरिनिर्दिष्ट प्रवृत्तियों से प्रकट होनेवाली दिशा उत्कृष्ट संगीत की ओर से निम्न श्रेणी की ओर है । एक ओर कला में वर्तमान समाज का प्रतिबिंब हम देखते हैं दूसरी ओर समाज की भावनाओं का नेतृत्व करने का भी उत्तरदायित्व कलाकार का है । इस दृष्टि से अच्छे संगीत की कसौटी निश्चित करके उसके अनुसार संगीत में निर्माण होने वाले हर प्रकार को परखना हमारा कर्तव्य है ।

"वाग्-व्यापार का उद्गम"

बी० एन० चौबे

"वाच धेनुमुपासिता" इस श्रुति के अनुसार वाग् धेनु है। वह काम दुधा है। समस्त वाङ्मय इसी का रूपान्तर मात्र है। इसके चार स्वरूप हैं :—

१—परा
२—पश्यन्ती
३—मध्यमा, और
४—वैखरी

राजानक जयरथ अलङ्कार सर्वस्व की विमर्शिनी नाम की टीका लिखते समय सर्वप्रथम परा वाणी की ही परिभाषा करते हुये कहते हैं कि परा तो केवल ब्रह्म स्वरूपा ही है। (सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्) परा ही सरस्वती है। हमारे आचार्य सरस्वती के इस स्वरूप से परिचित थे। यही देवी उनकी आराध्या थी। "वन्देमहिं च तां वाचममृतामात्मन: कलाम्" —यहाँ महाकवि भवभूति उसी ब्रह्म की कला अमृत रूपा वाणी की उपासना कर रहे हैं। राजानक रुय्यक भी "नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्" इत्यादि मङ्गलाचरण में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपी त्रिविध विग्रहों को धारण करने वाली देवी परा वाणी को ही नमस्कार करके "अलंकार सर्वस्व" का आरम्भ करते हैं।

वस्तुत: 'परा' परा है। यह शब्द ब्रह्म की अपृथग्भूत शक्ति है, 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' और 'वैखरी'—इन तीनों का उद्गम स्रोत है। अथवा उसी परा देवी में जब बाहर उल्लास की भावना जाग्रत होती है तो वह 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी' रूप में त्रिविधि विग्रह धारण कर लेती है। यही समस्त पद पदार्थ का सार है। नाद रूपिणी यही समस्त प्राणियों में जीव रूप में वास करती है। सारे जगत् का वाग्व्यवहार इसी अनादि अनपायिनी सूक्ष्मा शक्ति की सत्ता से चल रहा है। कहा भी है—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यत: ॥
वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा स्मृति गोचरा।
द्योतिकार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम् ॥

अर्थात् आदि अन्त से रहित जो अक्षर तत्त्व ब्रह्म है वही अर्थ भाव से परिणाम को प्राप्त करता है, जिससे इस जगत् का व्यवहार चल रहा है। "वैखरी" शब्द रूपा है। "मध्यमा" स्मृति गोचर मात्र है। अर्थ की द्योतिका 'पश्यन्ती' किन्तु सूक्ष्मा परा तो केवल ब्रह्म स्वरूपा ही है।

'परा' का दूसरा विवृत रूप "पश्यन्ती" है। यह 'परा' रूप शब्द ब्रह्म की शक्ति का उन्मेष मात्र है। यहाँ भी न तो वर्णों का कोई विभाग है और न कोई अनुक्रम है। अन्त: सूक्ष्म बीज से अंकुर के समान स्वयं प्रकाश अन्तः स्वरूप-ज्योति का संहृत क्रम घनीभूत प्रथम विवर्त है। कहा भी है—

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूप ज्योतिरेवान्त: सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

अर्थात् विभाग हीन, पूर्ण रूप से संहृत क्रमवाली, स्वरूप ज्योति, सर्वविधायिनी शक्ति ही अन्त: सूक्ष्म रूपवाली अनपायिनी-क्षय हीना पश्यन्ती वाणी है। "पराया मध्यमायाश्चवस्थां तटस्था पश्यतीति पश्यन्ती"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार परा और मध्यमा की अवस्था को तटस्थ रह कर देखने वाली पश्यन्ती वाग् है।

पश्यन्ती के पश्चात् मध्यमा का स्थान आता है। यह अन्त: सङ्कल्प रूपा है। श्रोत्र ग्राह्य वर्णों की अभिव्यक्ति रहित, किन्तु मानसिक वर्णोच्चारण का क्रमरूप अनुपात का अनुवर्तन करने वाला वाग्विवर्त मध्यमा-वाक् कही जाती है। कहा भी है—

अन्तः संकल्प रूपा या क्रमरूपानुपातिनी,
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते।

अर्थात् अन्तः संकल्प रूप, क्रम का अनुपात रखने वाली, प्राण-वृत्ति को पार कर मध्यमा वाणी प्रवृत्त होती है। "द्वयोर्वाग्विवर्तयोः पश्यन्ती वैखरी संज्ञयोर्मध्ये वर्तनान्मध्यमेत्युच्यते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पश्यन्ती' और 'वैखरी' इन दोनों वाणी के विवर्त अतात्विक परिणाम के मध्य में रहने से मध्यमा वाक् कही जाती है।

परा का अन्तिम तथा वाह्य स्वरूप वैखरी रूपा वाणी है। सभी प्रकार के शब्द वैखरी के अन्तर्गत आते हैं। चेतन प्राणियों में प्राण-वायु का मुख में संचार होने से वैखरी की अभिव्यक्ति होती है। "विशिष्टं खमाकाशं मुखरूपं राति गृह्णातीति विखरः, प्राण वायु सञ्चार विशिष्टो वर्णोच्चारस्तेनाभिव्यक्ता वैखरीति"—इसके अनुसार विखर अर्थात् प्राण-वायु संचार-विशिष्ट वर्णोच्चारण से अभिव्यक्त हुई वाणी वैखरी है। कहा भी है—

स्थानेषु विवृते वायौ कृत वर्पा परिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्ति निबन्धना॥

अर्थात् कण्ठ आदि स्थानों में वायु के संचरित होने पर वर्णों का शरीर धारण करने वाली प्राणवृत्ति के सहयोग से बनने वाली वक्ता की वाणी वैखरी वाक् है।

इसी सम्बन्ध में पाणिनि मुनि ने बहुत सी महत्वपूर्ण बातें कही हैं, जो विशेष

उल्लेखनीय हैं। उन्होंने वर्णों की उत्पत्ति निम्न प्रकार से बतलाई है—

"❀शब्दोच्चारण के पूर्व आत्मा बुद्धि के साथ मिलकर अर्थ ज्ञान करता है, तदन्तर वह मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करता है। वह मन भी नाभि से नीचे मणिपूर चक्र में स्थित जठराग्नि को आघात पहुँचाता है और इच्छा से युक्त उस मन से आहत हुआ वह जठराग्नि नाभि स्थित समान वायु को प्रेरित करता है।"

कोई प्राणवायु को ही नाभि से उत्पन्न होने के कारण उसका ही मन से आघात मानते हैं। प्राणवायु का उद्भव नाभि से ही होता है। वह प्राणवायु हृदय में आकर अभिव्यक्त होता है—अतएव प्राणवायु का हृदय ही स्थान माना गया है। कहा भी है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि संस्थितः।
उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्व शरीर नः।

जठराग्नि से ऊपर की ओर प्रेरित हुआ वह वायु हृदय देश में आकर मेघ के समान गम्भीर ध्वनि को उत्पन्न करता है। इसे प्रातः सवन कहते हैं और इसी स्वर का प्रयोग गायत्री छन्द में होता है। वही वायु कण्ठ देश में आकर त्रिष्टुप्छन्द से युक्त मध्यम ध्वनि उत्पन्न करता है। यही वायु शिर में पहुँच कर तृतीय सवन के मन्त्रों के पाठ में उपयोग में आने वाले मयूर आदि के शब्द के समान अधिक तीव्रस्वर उत्पन्न करता है। वर्ण भी इसी से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार "उर : कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये" के अनुसार हृदय, कण्ठ और शिर इस प्रकार की वायु के तीन स्थान हैं।

इस प्रकार उठा हुआ वायु जब शिर पर आकर टकराता है और ऊपर जाने की जब इसकी गति रुक जाती है, तो यह नीचे की ओर आता है और ऐसी दशा में मुख के भीतर कण्ठ, तालु, दन्त, मूर्द्धादि स्थानों में टक्कर खा कर "अ" आदि ६४ वर्णों को उत्पन्न करता है। इन वर्णों के पाँच भेद हैं—

१. स्वर कृत भेद (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित)
२. काल कृत् भेद (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत)
३. स्थान कृत् भेद (उर, कण्ठ, जिह्वा, शिर, आदि)
४. आभ्यन्तर प्रयत्न कृत् भेद,
५. वाह्य कृत् भेद,

इस प्रकार उत्पन्न वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है। §

❀ पाणिनीय शिक्षा—(६—१०)

§ पाणिनीय शिक्षा—

त्रिषष्टिश्चतु, षष्ठिवी वर्णाः शम्भुमतेमलः।
प्राकृते, संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृताः। अनुस्वारो, विसर्गश्च ⌣क⌣ पौचापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च॥

संस्कृत भाषा में, या उससे पैदा हुई अन्य भाषाओं में (अपभ्रंश, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी आदि भाषाओं में) इतने ही वर्ण होते हैं। इनसे अधिक वर्णों का होना असम्भव है। इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा जी के मुख से हुई है। इस प्रकार से उत्पन्न वर्णों को दो भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें "स्वर" और व्यञ्जन" कहते हैं।

स्वर २१ हैं (अ आ आ ३ ; इ ई ई३ ; उ ऊ ऊ३ ; ऋ ॠ ऋ३ ; ऌ; ए ए३ ; ओ ओ३ ; ऐ ऐ३ ; औ औ३)। व्यञ्जनों की संख्या इस प्रकार है :—

स्पर्श —	२५ —	क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ
		ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न,
		प फ ब भ म,
यादि—अन्तस्थ	४	य र ल व,
ऊष्म	४	श ष स ह,
यम	४	कुं खुं गुं घुं
अनुस्वार	१	अं
विसर्ग	१	अः
जिह्वा-मूलीय	२	(≍ क) ; (≍ ख)
उपध्मानीय	२	(≍ प) ; (≍ फ)
द्विः स्पृष्ट	१	ऌ
	६३	

इस प्रकार वर्णों की कुल संख्या ६३ हुई। कुछ लोग "ऌ" को प्लुत भी मानते हैं (ॡ)।

इस सम्बन्ध में सब से अधिक महत्वपूर्ण बात इन वर्णों के उच्चारण-स्थान का निर्देश है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण की दृष्टि से, अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से विभाजन हुआ है। यह बात अगले पृष्ठ पर दिए हुए कोष्ठक से अधिक स्पष्ट हो जायगी।

वर्णोद्भव-स्थान-कोष्ठक[1]

कण्ठ	तालु	मूर्धा	दन्ताः	ओष्ठौ	नासिका	कण्ठ-तालु	कण्ठ-ओष्ठ	दन्तोष्ठ	जिह्वा-मूलीय
अ	इ	ऋ	लृ	उ	ञ	ए	ओ	व	≍क
क	च	ट	त	प	म	ऐ	औ		≍ख
ख	छ	ठ	थ	फ	ङ				
ग	ज	ड	द	ब	ण				
घ	झ	ढ	ध	भ	न				
ङ	ञ	ण	न	म	ं				
ह	य	र	ल	≍प					
:	श	ष	स	≍फ					

"अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः" इस सूत्र के अनुसार विसर्ग का उच्चारण स्थान कण्ठ ही है, किन्तु "अयोगवाहाः विज्ञेया, आश्रय-स्थान भागिनः" के अनुसार विसर्ग का, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का अपने आश्रय के स्थान के समान ही होता है। जैसे "रामः"। यहाँ अकार से परे जो विसर्ग है, उसका "कण्ठ" स्थान है। हरिः—यहाँ इकार के पश्चात् विसर्ग का "तालु" स्थान है।

यदि हकार[2] वर्गों के पंचम अक्षर (ङ ञ ण न म) तथा य र ल व से संयुक्त हो, तो उसका उच्चारण स्थान उर होता है। इसीलिए वह "उरस्य" कहलाता है। जैसे अपराह्ण अपह्नव, ब्राह्मण इत्यादि में हकार "उरस्य" है।

---

[1] १—अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोःकण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।

[2] २—हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तः स्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं तं विजानीयात्, कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥

प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—

१—अभ्यान्तर प्रयत्न – स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषत् विवृत, विवृत तथा संवृत।

२—वाह्य-प्रयत्न —विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्प प्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित।

नीचे दिये हुए कोष्ठक से इनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होगी—

अभ्यान्तरवाह्यप्रयत्न ज्ञानार्थकं कोष्ठकम्

अभ्यान्तर प्रयत्ना:	स्पृष्टा			ईषत्स्पृष्टा:	ईषद्विवृता:		विवृता:	संवृता:
संज्ञा:	स्पर्शा:			अन्त:-स्था:	ऊष्माण:		स्वरा:	
वर्णा:	क ख च छ ट ठ त थ प फ	ग ङ ज ञ ड ण द न ब म	घ झ ढ ध भ	य व र ल	श ष स	ह	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ	ह्रस्वोऽकार: प्रयोगे
वाह्य प्रयत्ना:	अ०प्रा० म० प्रा० विवारा: श्वासा: अघोषा:	अल्प-प्राणा: संवारा: नादा: घोषा:	म०प्रा० संवारा: नादा: घोषा:	अ०प्रा० संवारा: नादा: घोषा:	म०प्रा० विवारा: श्वासा: अघोषा:	म० प्रा० संवारा: नादा: घोषा:	उदात्तानुदात्त-स्वरिता:	

इस प्रकार वर्णों का स्थान प्रयत्नादि जान कर शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करना चाहिए। वर्णों के शुद्ध उच्चारण करने वाले को परलोक में मान की प्राप्ति होती है, और इस लोक में विद्वानों में आदर एवं सत्कार प्राप्त होता है (सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते—पाणिनीय-शिक्षा)। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्णोद्गम स्थान के ज्ञान होने पर ही शब्दार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्र इस बात पर अधिक जोर देता था। सम्पूर्ण शास्त्रों में, विविध कलाओं में निष्णात् व्यक्ति को भी तब

तक पूर्णविद् नहीं माना जाता था, जब तक कि वह उनके उद्गम का पूर्ण साक्षात्कार न कर ले। "कस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति," इत्यादि उपनिषद् प्रतिपादित गाथाओं का भी यही रहस्य है। आज हम स्वाधीन हैं। हम अपने समाज के निर्माता हैं। हमको फिर से वैसा ही वातावरण उत्पन्न करना है, जिसमें हमारा विद्यार्थी समाज शिक्षा के वास्तविक ध्येय की प्रेरणा प्राप्त कर सके। शिक्षा के इस प्राचीन निर्धारित मार्ग में सादापन है, स्वच्छता है, तप है, संयम है। अन्तःकरण का शोधन ही मुख्य व्यापार है और इसका अनुसरण करने में मानवता का विकास है।

शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य और उनका ऐतिहासिक निरूपण

श्रीमती लक्ष्मीशाह एम० ए० एम० एड०

इस संसार में जन्म लेते ही बालक अपनी स्वाभाविक क्रियाएँ आरम्भ कर देता है। श्वास लेना, देखना, दूध पीना, आदि कार्य उसे कोई सिखाता नहीं। जिस स्थिति में और जिस बात से उसे कष्ट मिलता है, उसमें वह अपने आप रोने लगता है और जो स्थिति उसे सुखी एवं प्रसन्न करती है, उसमें वह हँसना भी जानता है। किन्तु इसके बाद का ज्ञान वह अपने आप पाते जाने में असमर्थ होता है। कुछ बड़ा होने पर वह देखता है कि किस प्रकार माता उसे वस्त्र पहिनाती है, वह भी वैसे ही अपने आप पहिनने की चेष्टा करता है। किसी विशेष स्थिति में बड़ों को भयभीत हो भागते देखता है, किसी अन्य स्थिति में प्रसन्न होते देखता है, इस प्रकार अनुकरण द्वारा उसकी मूल प्रवृत्तियाँ सजग होती जाती हैं। बहुत सी बातें वह बड़ों के उपदेश द्वारा सीखता है। इस प्रकार जीवन के अंत तक कहीं अनुकरण, कहीं उपदेश, कहीं अपने अनुभव, कहीं पुस्तकों के द्वारा कुछ न कुछ वह सीखता ही रहता है—इस सीखने का ही नाम शिक्षा है, अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा उस विकास का नाम है जो बचपन से प्रौढ़ावस्था तक होता है। मनुष्य अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है। शिक्षा को इस रूप में स्वीकार करने से ही रूसो और वर्ड्सवर्थ ने "प्रकृति द्वारा शिक्षा" के विषय में बहुत कुछ कहा है। इसी के अनुसार शिक्षा क्रम में पुस्तकों का पढ़ना, मैत्री करना, विदेश में वास करना, पैत्रिक तथा नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करना, नियमों तथा रीतियों का अनुसरण करना, किसी धार्मिक सम्प्रदाय की सदस्यता का दायित्व वहन करना आदि बातें हम सम्मिलित करते हैं। जान डिवी के अनुसार—

"Education is a fostering, a nurturing, a cultivating process. All of these words mean that it implies attention to the conditions of growth. We also speak of rearing, raising, bringing upwards which express the difference of level which education aims to cover. Etymologically, the word education means just a process of leading or bringing up. When we have the outcome of the process in mind, we speak of education as shaping, Forming, moulding activity i.e. a shaping into the standard form of social activity".†

इस प्रकार हम शिक्षा को उसके व्यापक रूप में देखते हैं—कुछ लोग इसे इतना विस्तार देने के पक्ष में नहीं हैं और इससे शिक्षा के रूप में उन विशेष प्रभावों को समझते हैं जिनको समाज का वयस्क-वर्ग जान बूझकर निश्चित योजना द्वारा अपने से छोटों तथा तरुण वर्ग पर डालता है। यह प्रभाव परिवार, धर्म-संस्था और राज्य-व्यवस्था द्वारा डाला जाता है। पाठशालाओं या विद्यालयों में शिक्षक शिक्षा देते हैं, बच्चे उन्हें ही सुन समझ कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनकी परीक्षाओं की सफलता और डिग्रियों की प्राप्ति ही उनका उच्च या साधारण शिक्षित होना व्यक्त करती है।

जीवन में मनुष्य जो भी कार्य करता है, किसी न किसी रूप में उसकी समाप्ति होती है। यह समाप्ति ही उस विशिष्ट कार्य का उद्देश्य होती है। उद्देश्य की यह पूर्ति अथवा अपने कार्य की फल प्राप्ति तीव्रता से हमारा ध्यान आकर्षित करती है। जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण होता है, जो आदर्श होते हैं, जो विचार रहते हैं, उसी की प्राप्ति हम करना चाहते हैं, उस प्राप्ति की पूर्ति में शिक्षा एक साधन है। अपने आदर्शों के अनुरूप ही व्यक्ति और समस्त जाति या देश पुस्तकों की रचनाएँ करती हैं, उसी के अनुकूल पाठशालाएँ और विद्यालय स्थापित होते हैं, उन्हीं आदर्शों से शिक्षक प्रेरित होते हैं और इस प्रकार शिक्षा हमें अपने उन आदर्शों की मंजिल तक पहुँचाने में सोपान बनती है। कहा भी गया है "शिक्षा दर्शन शास्त्र का क्रियात्मक पक्ष है और दर्शन शास्त्र शिक्षा का विचारात्मक पक्ष है।"§ अन्ततः यह निश्चित है कि शिक्षा निरुद्देश्य नहीं होती समय-समय पर जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण बनता और परिवर्तित होता है, उसके अनुरूप ही हमारी शिक्षा के उद्देश्य एवं शिक्षण विधियों में अंतर आ जाता है। "शिक्षा उद्देश्यपूर्ण तथा नैतिक क्रिया है अतः इसका उद्देश्य रहित होना संभव नहीं। वास्तव में शिक्षा-प्राप्ति के लिये जो अपने जीवन का उत्सर्ग करते हैं, जीवन के प्रति उनका नैतिक दृष्टिकोण पहिले से ही बन चुका होता है। वे चाहते हैं कि उनकी संतानें योग्यता और ज्ञान प्राप्त करें और चारित्रिक दृढ़ता उत्पन्न करें जिसके द्वारा वे अपने को और अपने समाज को समझ सकें और सुन्दर, प्रसन्न तथा विकासशील स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकें।" ‡

---

† P. 12. Democracy and Education—John Dewey.

§ "Education is the dynamic side of philosophy and philosophy is the contemplative side of education." (Adams)

‡ "Education is a purposeful and ethical activity, hence it is unthinkable without aims. Most generally speaking who devote themselves to education have already made an ethical decision, they want the younger generation to acquire skills and knowledge and to devolop standards of conduct which will enable them to understand themselves and their society and to live a decent, happy and productive life." (P. 25. Encyclopaedia of Modern Education.)

संसार में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए सर्व प्रथम आवश्यकता जीवित रहने की है। उदर की ज्वाला शांत होने पर ही मनुष्य स्वस्थ मन और मस्तिष्क से जीवन की किसी भी अन्य समस्या पर विचार कर सकता है। वर्तमान युग में यह समस्या सरल नहीं रही। अपने दो खाली हाथों को काम देने के लिये किसी न किसी क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। अब वह युग नहीं रहा जब शिक्षक के लिये मिडिल तक की शिक्षा और हाथ में डंडे का होना यथेष्ट उपकरण थे। अब ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट होकर भी उसे एल. टी. बी. टी. की डिग्री से सुशोभित होना आवश्यक है, अन्यथा वह प्राइमरी स्कूल में क, ख, ग पढ़ाने योग्य भी नहीं। अतः शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीविकार्जन योग्य बनाना है जिससे दीक्षान्त समारोह के बाद हाथ में डिप्लोमा और मस्तिष्क में दीक्षान्त भाषण की प्रतिध्वनियों का संबल मात्र लेकर व्यक्ति अपने को जीवन यात्रा के क्षेत्र में शून्य में खड़े के समान अनुभव न करे। पश्चिमी विद्वान हरबर्ट स्पेन्सर ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है, "हमें जीविकार्जन योग्य बनाना ही शिक्षा का आवश्यक कार्य है।"

किन्तु रोटी की समस्या हल करके ही शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती—मनुष्य केवल पेट और भूख नहीं है। बाइबिल में भी कहा है "man does not live by bread alone." वास्तव में इस क्षेत्र के बाद के क्षेत्र में ही शिक्षा का असली उद्देश्य आरम्भ होता है। वह क्षेत्र है—संस्कृति का, आध्यात्मिक आदर्शों और मूल्यों का, सत्य शिव सुन्दर का। प्रत्येक देश और युग के मनीषियों ने इस सत्य को हृदयंगम करके ही शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन यापन की तैयारी माना है। भारतवर्ष में आचार्य को प्रथम स्थान दिया गया है। आर्य संस्कृति के विद्यार्थी को उपदेश दिया जाता था—आचार्य देवो भव, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव। आचार्य का कर्त्तव्य बालक के चरित्र को दृढ़ और पवित्र बनाना है। बालक के आचरण और उसके समस्त कार्यों की अंतर्युक्त प्रेरणा ही उसकी शिक्षा की अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार संक्षेप में शिक्षा का नैतिक उद्देश्य ही प्रधान है। यह नैतिक उद्देश्य ही उसे आचरण की सभ्यता और उज्ज्वल चरित्र की महत्ता प्राप्त करने की ओर प्रेरित करता है। अतः शिक्षक को भी बालकों को परिश्रम, आत्मसंयम, दृढ़ता, सत्य प्रियता, अहिंसा आदि सद्गुणों के समुचित और दृढ़ अभ्यास की ओर प्रेरित करना चाहिए। शिक्षा के इस उद्देश्य को स्वीकार करने वालों का जीवन के प्रति आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण होता है और यह शिक्षा का केवल एक और निश्चित लक्ष्य मानते हैं जो किसी भी परिवर्तन और परिवर्धन से परे है "यदि वह विश्वास करता है कि मानवता के शाश्वत मूल्यवान तत्व मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हैं—वरन् पारदर्शी हैं और या तो ईश्वर की अथवा अनन्त आत्मा की विशेषताओं का प्रकाशन करने वाले निर्माण हैं—तो वह यह भी विश्वास करेगा कि शिक्षा के उद्देश्य मूलतः चिरन्तन हैं। प्लैटोनिज्म के प्रत्येक रूप की भाँति धार्मिक स्कूलों की शिक्षा का यही मूल है। वर्तमान आदर्शवाद अब भी प्लैटोनिक है।"

श्री नन के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य है। भिन्न-भिन्न जाति और समाज जीवन के प्रति अपने उद्देश्य के अनुसार ही शिक्षा की रूप रेखा निश्चित करता है। शिक्षा का कोई भी सार्वभौमिक उद्देश्य सम्भव नहीं—पृथ्वी पर जितने व्यक्ति हैं उनकी उतनी ही धारणाएँ हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य उन परिस्थितियों और सुविधाओं को प्राप्त करने का प्रयास होना चाहिए। जिसमें व्यक्तित्व के विकास की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। व्यक्तित्व का यह विकास समाज के अन्दर रह कर समाज के प्राणियों के मध्य, उन्हीं के सम्पर्क में सम्भव है। एकान्त में मनुष्य कितना ज्ञान प्राप्त कर ले, अपनी आत्मा का कितना ही ज्ञान विकास करले—पर वह सभी निर्मूल है—एकांत में वह अपने ज्ञान की, अपनी साधना की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। जो समाज जन्म के समय उसे प्रश्रय देता है, उसके लिए सुख सुविधाएँ एकत्र करता है—उसकी इस प्रकार की उपेक्षा से उसे शांति नहीं मिलेगी। जन्म के समय वह अपने को माता एवं पंचतत्वों की ही गोद में नहीं—समाज के प्रांगण में भी पाता है। डार्विन के अनुसार वह अमीबा से मानव शरीर पाने तक का विकास क्रम चालीस सप्ताह में पूरा करता है किन्तु जन्म के समय तब भी वह आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरा आदिम होता है। उसकी प्रवृत्तियाँ आत्मरत और असामाजिक होती हैं। मानव समाज ने कितना ज्ञान प्राप्त कर लिया है, साहित्य, संगीत, और कला में उसने कौन सा क्षितिज पार कर लिया है यह उस अरुप अनाम, अबोध हृदय और फेफड़ों के स्पन्दन की संज्ञा मात्र शिशु को ज्ञात नहीं होता। वह अपने को समाज में रहने योग्य कैसे बनाये यह निसर्ग की माँग है। अनुकरण द्वारा वह थोड़े समय में चलना बोलना सीख लेता है पर इसके बाद शिक्षा संस्थाएँ उस ज्ञान शून्य मस्तिष्क और सुकुमार संस्कारों रहित हृदय शिशु को सुखी, संतुलित और प्रसन्न जीवन बिताने योग्य बना लेती हैं। समाज का ऋणी रहने पर व्यक्ति को समाज से असम्बद्ध होकर अपने विकास की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, उसे अपने को समाज का एक आवश्यक अंग मानना चाहिए। अतः वही शिक्षा उपयोगी है जो व्यक्ति में अहं भाव न भरकर उसका अधिक से अधिक सामाजीकरण करे।

विश्व कल्याण के लिए केवल आर्थिक राजनैतिक सामंजस्य ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोणों के संतुलन और तदनुसार व्यवहार की भी बड़ी भारी आवश्यकता है। भारत की यही शाश्वत शिक्षा रही है। श्री अरविन्द कहते हैं—"मनुष्य जीवन में मानसिक-प्रकृति नैतिक-प्रकृति पर अवलम्बित है। यदि हम मनुष्य के नैतिक और भावुक पक्ष की शिक्षा को पूर्णता पर पहुँचाये बिना, केवल उसकी मानसिक शिक्षा की व्यवस्था करें, तो इससे मानव-समाज की उन्नति में हानि पहुँचेगी, क्योंकि मस्तिष्क और हृदय दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं और केवल मन की शिक्षा से हृदय की शिक्षा होना आवश्यक नहीं है। अतः मन और हृदय दोनों की अलग-अलग शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।"

श्री राधाकृष्णन् ने इंगलैंड में विश्व शिक्षा सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था—

"अब तक हमने जीवन की अपेक्षा ज्ञान संचय को महत्त्व दिया था अर्थात् अध्यात्म के विकास की अपेक्षा मस्तिष्क की उन्नति का प्राधान्य रक्खा था। परन्तु जीवन के बाह्य ज्ञान के विस्तार से हम उसकी गम्भीरता तक नहीं पहुँच सकते। सच्चा ज्ञान कोई सूचना नहीं है। यथार्थ विद्वता मस्तिष्क की स्वतंत्रता और आत्मा की पवित्रता है। उत्तम शिक्षा का लक्षण यह है कि विचार, भाव तथा इच्छा शक्ति में पूर्ण सामंजस्य हो जाय। यथार्थ अध्यात्म भाव मनुष्य के आंतरिक और बाह्य रूप में ऐक्य स्थापन करता है तभी जीवन में शांति उत्पन्न होती है।"

आज का विश्व संक्रान्ति काल से गुजर रहा है। आज न तो सूर्य एकदम ठंडा हो गया है, न वातावरण में आक्सीजन समाप्त हो गयी है, पर मानव का अस्तित्व संदिग्ध हो उठा है। निश्चित नहीं कि किस समय कुछ व्यक्तियों का आक्रोश राष्ट्रीय शस्त्रागारों से अणुबमों के अंबार अपने तथाकथित शत्रुओं पर बरसाने के लिए विवश करे और फिर न शत्रु बचे, न मित्र, न स्वयं। आज की विवश स्थिति का कारण शायद यही है कि शिक्षा अपने उद्देश्य में सफल नहीं रही। यदि विज्ञान के साथ ही बालक के मन में कुछ शाश्वत आध्यात्मिक तथ्य स्थायी कर दिए जाँय तो यह स्थिति न रहे।

मनोविज्ञान की ओर दृष्टिपात करने से भी ज्ञात होता है कि आदर्श जीवन निर्माण में शिक्षा का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। आज शिक्षा अपने उद्देश्य में सफल नहीं, अपने पथ से विचलित हो गयी है और इसका स्पष्ट प्रमाण हमें संसार की वर्तमान क्रांति और ऊहापोह में देखने को मिलता है। बिहेवियरिज्म के आचार्य वाटसन शरीर को नाड़ी यंत्र मानते हैं। आरम्भ से हम जैसे आघात उस पर डालते रहेंगे, वैसा ही व्यक्ति बनेगा। फ्रायड एक प्रवृत्ति विशेष कामभाव को प्रधानता देते हैं। इससे अनुचित रूप में संघर्ष करने या दबाने से ही मानव के सारे रोग और कष्ट उत्पन्न होते हैं। ऐडलर हीन-भाव को प्रधानता देते हैं। इसकी क्षतिपूर्ति मानव गलत ढंग से करता है। मैक्डूगल ने चौदह मूल प्रवृत्तियाँ मानी हैं—जिनके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य कार्य करता है। शिक्षा का कर्त्तव्य है कि वह इन सभी का समन्वय कर मनुष्य को स्वस्थ एवं आदर्श जीवन-यापन की क्षमता दे जिससे हमें सब कहीं कविवर 'प्रसाद' के शब्दों में प्रकृति का यही रूप देखने को मिले—

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

शिक्षा के प्रत्येक संभावित एवं मान्य उद्देश्य पर विचार कर लेने के बाद अब यह आवश्यक हो गया है कि हम यह भी समझ लें कि प्राचीन काल से अब तक पश्चिम एवं

पूर्व ने शिक्षा के किस उद्देश्य को कब प्रश्रय दिया है और उसके अनुसार ही व्यक्ति और समाज किस परिमाण में उन्नति करते रहे हैं।

पश्चिमी शिक्षा के इतिहास का आरम्भ हम यूनानी शिक्षा से मानते हैं। यूनानी शिक्षा को हम दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं--डोरिक शिक्षा और आयोनिक शिक्षा। डोरिक शिक्षा विशेषत: स्पार्टा से सम्बन्ध रखती है और आयोनिक एथेन्स से। स्पार्टा निवासी व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए मानते थे। राज्य की ओर से उन्हें जीवन निर्वाह की सुविधाएँ प्राप्त थीं, अत: उनके सामने केवल दो आदर्श थे—युद्ध कला में कुशलता प्राप्त करना और सैनिक नागरिकों के उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करना। वे परिवार के संगठन में विश्वास नहीं करते थे। बौद्धिक शिक्षा का पूर्ण अभाव था। एथेन्सवादी व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को महत्वपूर्ण स्थान देते थे। उनका सिद्धान्त था "a sound mind in a sound body" अत: केवल शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि उनका आदर्श नहीं था। उनका 'ज्ञान' से प्रेम ज्ञान प्राप्ति के ही लिए था। उन्होंने ही सब से पहिले प्रकृति, मनुष्य और सत्य के रूप को पहिचानने की चेष्टा की। यहीं पर सब से पहिले मनुष्य को बुद्धिवादी माना गया है। सुकरात का कहना था कि मनुष्य का प्रथम कर्तव्य अपने को पहिचानना है। ज्ञान के क्षेत्र में भी वे 'व्यक्तित्व का विकास' चाहते थे। उनका विश्वास था कि कला सत्य तथा आदर्श का दूसरा रूप है और उसका अनुभव सभी लोग कर सकते हैं।

रोमन आदर्श यूनानियों से भिन्न था। वे तात्कालिक उपयोगिता पर विशेष ध्यान देते थे। अपने विचारों को सदैव कार्यान्वित रूप में देखना चाहते थे। कर्त्तव्य और अधिकार को प्रमुख स्थान देते थे। परिणामत: शिक्षा का उद्देश्य भी इसी ओर झुका। देवभक्ति, माता पिता की आज्ञा का पालन, युद्ध तथा कष्ट में साहस, पारिवारिक प्रबन्ध में चतुरता, गाम्भीर्य तथा आत्म-सम्मान को रोमन चरित्र के प्रधान गुण मानते थे। उनकी नैतिकता भी इन्हीं में सीमित थी।

मध्ययुग में ईसाई धर्म के प्रचार से योरोपीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक नयी जाग्रति आई। यहूदी और यूनानी राज्यों में नैतिकता का आधार राज्य अथवा जातीयता की रक्षा थी, पर अब व्यक्तिवाद की भावना का भी प्रादुर्भाव हुआ था। इसके साथ ही क्राइस्ट ने सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया और जीवन का नया आदर्श उपस्थित किया। जीवनादर्श के अनुरूप ही शिक्षा के रूप में भी परिवर्तन स्वाभाविक हो गया। नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया गया और अब धर्म राजनैतिक विषय से हटकर व्यक्तिगत साधना की वस्तु बन गया। अत: शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास से हटकर नैतिक विकास हो गया और शिक्षा के प्रभाव द्वारा समस्त सामाजिक कुरीतियों को नष्ट करने की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। धर्म की महत्ता बढ़ जाने से स्थान-स्थान पर मठ स्थापित किए गए। मठों की अध्यक्षता में ही शिक्षा-कार्य चलता था अत: शिक्षा का लक्ष्य धर्म आध्यात्मि-

कता और नैतिकता ही था, किन्तु इसके साथ ही विभिन्न कलाओं की शिक्षा का भी आयोजन था।

पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से विद्वानों में नयी रुचि पैदा हो रही थी, वे अध्ययन के आध्यात्मिक रूप से ऊब गए थे। वे विश्व विद्यालयों और मठों के आधिपत्य से बाहर आकर अपनी साहित्यिक तृष्णा शान्त करना चाहते थे। परिणामतः यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य की ओर उनका झुकाव हुआ। सौन्दर्य और प्रकृति ने उनका हृदय आकर्षित किया। वीरों के उपयुक्त शक्ति प्राप्त करने के लिए लोगों के मन में नया उत्साह आया। इस पुनरुत्थान के अनुरूप ही शिक्षा का आदर्श भी परिवर्तित हो गया। यह नया आदर्श 'ह्युमैनिस्टिक' नाम से प्रसिद्ध है जिससे मानवता, शुद्धता, सुन्दर रुचि, तथा उत्कर्ष का भाव ही उद्बोधित होता है। इनकी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का पूर्ण विकास था। इसके लिए उन्होंने शारीरिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा की ओर पूर्ण ध्यान दिया। फिर भी यह शिक्षा अमनोवैज्ञानिक थी। सभी विषयों की शिक्षा विद्यार्थी द्वारा उसके रट लिए जाने पर ही पूर्ण मानी जाती थी। वे शिक्षा की मात्रा की ओर ध्यान देते थे, वास्तविक ज्ञान की ओर नहीं। अतः बुद्धि विकास, स्वतन्त्र विचार-शक्ति, निरीक्षण शक्ति आदि विशेषताओं का विकास किंचित भी नहीं होता था। अतः सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही वैज्ञानिक युग का आरम्भ होता है। कोपरनिकस तथा गैलिलिओ आदि के विचारों के फलस्वरूप दृष्टिकोण की संकीर्णता कम हो चली थी। व्यक्ति ने समझा कि प्राचीन आदर्श समय की माँग पूरी करने में असमर्थ है। पुनर्जागृति से फैली हुई लहर अब वास्तविकता की खोज की ओर अग्रसर हुई। इसमें दार्शनिक और वैज्ञानिक भावों का समावेश हुआ। वास्तविकता को प्रधानता दी गयी, इससे विवेक एवं बुद्धि सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो गए। इस वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने शिक्षा के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन प्रस्तुत किया। वास्तविकता की पहिचान के लिए वातावरण की प्राकृतिक वस्तुओं तथा विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा। यहीं से शिक्षा क्षेत्र में यथार्थवाद का जन्म होता है। इसका जन्म कोरी सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक शिक्षा के विरोध में हुआ है। व्यक्ति की सांसारिक सुख की इच्छा और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास के साथ व्यक्तित्व तथा सामाजिक विकास भी होना चाहिये। बच्चे को कक्षा में प्राप्त ज्ञान और जीवन की वास्तविकता के संबंध का अनुभव होना चाहिये।

किन्तु यथार्थवादी सिद्धान्तों का कुछ विशेष प्रभाव न पड़ सका क्योंकि इसमें शिक्षा की वस्तु को जितना महत्व दिया था, उतना विधि को नहीं। अब विधि की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। अरस्तू के मनोविज्ञान का अब भी महत्व था। लोग समझते थे कि विभिन्न मानसिक शक्तियाँ अलग-अलग शिक्षा विधियों से विकसित की जा सकती हैं। व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र आदि इसके लिए सर्व श्रेष्ठ विषय माने

जाते थे। थोड़ा-थोड़ा कई विषयों को पढ़ाने से मस्तिष्क कभी गहराई तक नहीं पहुँच सकता अतः दो तीन विषयों का ही पूर्णता से पढ़ाया जाना उपयुक्त माना गया। शिक्षा का यह दृष्टिकोण "शिक्षा में विनय की भावना" कहलाता है। इसके अनुसार व्यावहारिकता नष्ट हो गयी। विद्यार्थियों की रुचि और प्रवृत्तियों का कोई महत्व न रहा। यह विश्वास हुआ कि मानसिक शक्तियों के विकास से व्यावहारिकता अपने आप आ जायगी। शिक्षा के इस सिद्धान्त को लाक ने प्रस्तुत किया।

तत्पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में जन्म होता है—प्रकृतिवाद के सिद्धान्त का। रूसो इस काल की इस विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। स्वानुभव, ज्ञान और विवेक के साथ ही आन्तरिक भावनाओं को भी स्थान दिया गया। धर्म का आधार चर्च को न मानकर मानव स्वभाव को माना। रूसो का कहना है—"प्रकृति नियंता के यहाँ से सभी वस्तुएँ अच्छे रूप में आती हैं—मनुष्य के हाथ में आने के साथ ही वे दूषित हो जाती हैं।" समाज सुधार के लिए कृत्रिमता का त्याग कर मनुष्य को अपनी प्राकृतिक अवस्था को अपनाना होगा। प्रकृतिवाद का मनोवैज्ञानिक तात्पर्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा आन्तरिक भावनाओं के अनुसार ही चलना है। शिक्षा में सभी बुराइयाँ मनुष्य के सम्पर्क से आती हैं। यदि बालक स्वाभाविक रूप से सभी प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं के सम्पर्क में रहकर विकास करने पाये तो ये सभी बुराइयाँ सरलता से दूर की जा सकती हैं।

प्रकृतिवाद के इस सिद्धान्त का १९वीं सदी की शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक और लोक संग्रहवाद की प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। बचपन के प्रति सहानुभूति पूर्ण ढंग से लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। शिक्षा को सफल बनाने के लिए बालक के स्वभाव, रुचि, मस्तिष्क तथा योग्यता का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाने लगा। माध्यमिक और उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने शिक्षा को आंतरिक विकास की स्वाभाविक क्रिया माना। इसके अनुसार शिक्षा द्वारा समस्त शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। परिणामतः शिक्षण विधि, कक्षा के वातावरण, शिक्षकों की शिक्षा और चरित्र तथा शिक्षा के अधिक विस्तृत और वास्तविक आदर्शों की ओर ध्यान दिया गया।

पेस्टालॉजी ने लिखा है, "शब्द ज्ञान के स्कूल हैं, लिखने के स्कूल हैं, वाद-विवाद के स्कूल हैं, पर हमें तो मनुष्य के स्कूल की आवश्यकता है।" उसका विश्वास था कि प्रकृति मनुष्य की शक्तियों को अभ्यास से विकसित करती है और प्रयोग से बढ़ाती है। उसे मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं का सदा ही ध्यान रहता था। अतः शिक्षा और व्यवसाय को साथ रखकर वह स्कूलों में व्यावहारिकता का समावेश करना चाहता था। मानव स्वभाव में उसका पूर्ण विश्वास था। उसे मानवता का अंश प्रत्येक व्यक्ति में

दिखाई पड़ता था, उचित मार्ग प्रदर्शन द्वारा उसकी शक्तियों के विकास की ही आवश्यकता है। उसके अनुसार "शिक्षा व्यक्ति की समस्त शक्तियों का सुसंगठित विकास है।" व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए शिक्षा व्यावहारिक, नैतिक और धार्मिक होनी चाहिये। हरबर्ट दार्शनिक था अतः उसने शिक्षा को दार्शनिक रूप देना चाहा। मानव स्वभाव को समझने के लिए अध्यात्म विद्या ही उत्तम साधन है अतः उसने अध्यात्म विद्या पर ही शिक्षा की नींव डाली। सर्वोच्च चरित्र निर्माण ही शिक्षा का मुख्य ध्येय है। फ्रोबेल का शिक्षा सिद्धान्त हरबर्ट की तरह उसके दार्शनिक विचारों से अलग नहीं किया जा सकता। यह कान्ट फ़िशे और हीगेल के आदर्शों से प्रभावित है। वे प्रकृति और मनुष्य की सारभूत एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। फ्रोबेल मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्वयंभू परमात्मा में देखता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह ईश्वर में स्थित सबकी एकता पहिचान ले। बालक का जो कुछ भी विकास होगा, वह उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियों के अनुसार ही, वाह्य वातावरण का विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।

विज्ञान के अनुयायी व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देना चाहते थे कि वह अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सके। हरबर्ट स्पेन्सर और हक्सले इस धारा के प्रतिनिधि हैं। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन की तैयारी है। हक्सले ने स्कूल की पाठ्य वस्तु में विज्ञान के समावेश के लिए बड़ा परिश्रम किया। लोक संग्रहवादी प्रवृत्ति सर्वप्रथम लोकहित सामने रखकर उसी के अनुसार व्यक्ति की शिक्षा की व्यवस्था करती है। यह प्रजातंत्र की स्थापना के लिए समाज को तैयार करना चाहता है। शिक्षा ज्ञान प्रसार का साधन है। वह सामाजिक नियंत्रण का भी साधन है।

समय की सभी प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए एक नवीन शिक्षा सिद्धांत के प्रतिपादन में ड्यूई ने अन्य सभी शिक्षा विशेषज्ञों से अधिक सफलता पायी है। ड्यूई फलकवादी (Pragmatist) हैं। वह स्वयं ही सत्य की परीक्षा करना चाहते हैं। किसी के प्रभाव में आकर सत्य को स्वीकार करना उन्हें मान्य नहीं। मस्तिष्क को स्वयं क्रिया शील होकर वास्तविक परिस्थिति की परीक्षा कर सत्य को पहिचानना होगा। अतः वह स्कूल में बालकों को जीवनदर्शों के संबंध में अधिक से अधिक अनुभव देना चाहता है जिससे कि वे वास्तविक सत्य को पहिचान लें। जो सत्य है, वही उपयोगी है, और जो उपयोगी है, वही सत्य है। अतः सत्य का अनुभव करने में बालक उपयोगी बातें ही सीखते हैं। ड्यूई के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वातावरण तैयार करने से है जिसमें व्यक्ति मानव जाति की सामाजिक जाग्रति में सफलता पूर्वक भाग ले सकें। बालक की स्वाभाविक शक्तियों का शिक्षा द्वारा ऐसा विकास करना है कि वह सामाजिक परिस्थितियों का सफलता पूर्वक सामना कर सकें।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली से हमें प्रकृतिवाद, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा लोक

संग्रहवाद का अच्छा समावेश मिलता है। पाठन विधि पर मनोविज्ञान का प्रभाव है, पाठ्य वस्तु की नवीनता वैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण है, लोक संग्रहवाद के प्रभाव स्वरूप शिक्षा के उद्देश्य तथा आदर्शों में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इन तीनों प्रवृत्तियों के बीज प्रकृतिवाद में मिलते हैं। वर्तमान समय में व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके व्यक्तित्व की पूर्ण रक्षा के साथ ही समाज को सब प्रकार से दृढ़ बनाना है। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व विकास के साथ नागरिकता के गुणों को भी व्यक्ति में उत्पन्न करना है।

भारतवर्ष के जीवन में धर्म एवं आध्यात्मिकता ने सदा से ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है—भारतवासियों की मूल-प्रेरणा के प्रत्येक स्तर पर धर्म रहा है। यहाँ की किसी भी समस्या को समझने के लिए धर्म के विकास और रूप का इतिहास पलट लेना ही पर्याप्त होगा। शिक्षा के उद्देश्य के विषय में भी यही सत्य है। इस जीवन, इस संसार से परे जो एक आदि; अनन्त, अखण्ड चेतना है उसी से एकाकार हो जाना, उससे सामंजस्य प्राप्त कर लेना, अपने जीवन में उसका अनुभव कर लेना—यही हमारे भारत के जीवन का लक्ष्य रहा है। उसी शक्ति, उसी चेतना को लक्ष्य मानकर उसे ही हम अपने जीवन में पाना चाहते हैं—यही हमारा जीवन-रहस्य है। उसे ही पाने के लिए हम प्रयास करते रहते हैं। यह महत् लक्ष्य दृष्टि में होने के कारण स्वभावतः लौकिक आकर्षण हमें मुग्ध नहीं कर सके—यहाँ रहकर कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होते, उस असीम, अनाम, अरूप ब्रह्म को पा लेने का ही उद्देश्य प्रधान होता है। शिक्षा का यही अर्थ होता है कि वह हमें अपने जीवन के सिद्धांतों को सफलता पूर्वक प्राप्त करने के अनुरूप बनाए अतः हमारी भारतीय शिक्षा का उद्देश्य आदि काल से ही आध्यात्मिकता प्रधान रहा है। श्री अल्टेकर ने कहा भी है "धर्म ने हिन्दू जीवन के प्रायः सभी स्तरों में गहराई से स्थान पाया है और शिक्षा इससे अलग नहीं है।"❀

प्राचीन भारतीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य धार्मिक कार्यों द्वारा चरित्र-निर्माण था। धर्म का जीवन में प्रधान स्थान था। शिक्षा-शिक्षा के लिए नहीं थी—उसका उद्देश्य, उसकी दृष्टि धर्म पर थी। शिक्षा का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति अर्थात् आत्मानुभूति के द्वारा उस चरम-सत्य को अनुभव करना था। इन सांसारिक मायामोह के बन्धनों से आत्मा की मुक्ति ही शिक्षा और जीवन का अंतिम लक्ष्य था। "व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य उस अनन्त में अपना विस्तार पाना था, अपनी आत्मपूर्ति करनी थी क्योंकि वह स्वयं ईश्वर, दैवी चेतना का स्फुलिङ्ग है।"*

"Religion has deeply saturated Hindu life in almost all its phases & the sphere of education is no exception –(Altekar)

Individuals supreme duty in this is to achieve his expansion in the absolute, his self-fulfilment. for he is a potential god, a spark of divine. (R. K. Mukarjee),

बौद्धमत का मूल हिन्दू दर्शन शास्त्र में ही दृष्टि गोचर होता है तथापि वह मान्यता प्राप्त ब्राह्मणिक एवं वैदिक दर्शन से भिन्न है। बौद्ध स्कूलों की शिक्षा का आधार वेदाध्ययन न था और शिक्षक भी वे ही हो सकते थे जिन्होंने बौद्धमत स्वीकार कर लिया हो। गुरु के आश्रमों के स्थान पर बौद्ध मठों का निर्माण हुआ। शिक्षा का उद्देश्य संसार में रहकर आध्यात्मिक जीवन बिताने की अपेक्षा सत्य की खोज में संसार का त्याग हो गया। शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक एवं नैतिक विकास रहा। बौद्धों के अनुसार संसार दुख प्रधान था और इसी से वे मानते थे कि इसका त्याग करने पर ही मुक्ति मिल सकती है और आत्मा अपने को दुख के बन्धनों से छुड़ा सकती है।

प्रायः ईसा की आठवीं शताब्दी में इस्लाम ने भारत में पदार्पण किया, किन्तु इसका प्रसार कुछ समय तक रुका रहा। इनका प्रथम प्रभावशाली आक्रमण महमूद गजनवी के सेनापतित्व में हुआ और इसी समय से इन तुर्कों के आगमन के साथ ही इस्लाम धर्म का प्रचार भी आरम्भ हुआ। ईसा सन् १००० से १०२६ तक अनेक आक्रमण हुए और अपने देश का समस्त वैभव ये लुटेरे यवन अपने देश में ले गये। गजनवी वंशियों के भारत में स्थायी रूप से रहने के कुछ समय उपरान्त ही उन्हें गौर-वंशियों से पराजित होना पड़ा और वस्तुतः मुहम्मद गोरी के सफल आक्रमण के बाद ही भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव पड़ी। यहीं से इन लोगों ने भारतवासियों को धर्म परिवर्तन के लिये विवश करना आरम्भ किया और इससे मस्जिदों का शिलान्यास हुआ। परिणामतः प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का पूर्णतः ह्रास हुआ। ज्ञान एवं विद्या के प्रति उनका प्रेम अदृश्य होने लगा। जो भारतीय प्राचीन काल में विद्यार्जन के लिए विकल रहते थे, देश की परिस्थिति ने उन्हें उसी के प्रति उदासीन बना दिया। यवन लुटेरों से अपने जीवन, मान-मर्यादा एवं सम्पत्ति की रक्षा करना ही अब उनका प्रधान लक्ष्य और कार्य हो गया था। प्राचीन काल में विद्या और शिक्षा उनके लिए सब इच्छाओं को पूरी करने वाली कल्पतरु, माता पिता के समान रक्षा करने वाली और पत्नी के समान आनन्द देने वाली थी। यवन शासकों ने राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक शिक्षा को अवहेलना की दृष्टि से देखा। इस समय उनके सम्मुख यही उद्देश्य था कि भारतवासियों को किसी भी प्रकार अपने धर्म में दीक्षित कर अपनी शक्ति का अधिक से अधिक सुदृढ़ संगठन किया जाय। इसके लिये अपने धर्म का प्रचार आवश्यक था और वह शिक्षा के रूप में सुन्दरतम ढंग से संभव था। अतः इस युग में भी प्राचीन काल की ही भाँति शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक रहा। यह शिक्षा इस्लाम धर्म को प्रश्रय देती थी।

सत्रहवीं शताब्दी में भी भारत दास रहा अन्तर केवल यह हुआ कि यवन शासकों के स्थान पर अंग्रेज शासकों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अपने राज्य विस्तार के लिये अंग्रेजों ने भी अपना धर्म विस्तार प्रारम्भ किया और इसके लिए मिशनरियों की स्थापना की और उनके द्वारा अपने धर्म की शिक्षा का प्रचार करने लगे। ईस्टइंडिया

कम्पनी भी उन्हीं व्यक्तियों को नौकरी देती जो उसके धर्म को स्वीकार करते और उसके देश की भाषा अंग्रेजी जानते होते। उसके द्वारा स्थापित स्कूलों में शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी था। यह शिक्षा साधारण क्लर्क की नौकरी प्राप्ति के लिए थी, सम्पूर्ण व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये नहीं। अंग्रेजी भाषा का उच्च ज्ञान उच्च पदाधिकार की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बन गया था। तात्पर्य यह कि इस समय शिक्षा का उद्देश्य एकं मात्र जीविकार्जन हो गया था। मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की ओर किसी का ध्यान नहीं था। लार्ड मेकाले ने इस समय की शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट किया है "शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे प्रकार के व्यक्तियों को उत्पन्न करना था जो रक्त से भारतीय हों पर रुचि, मत, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज हों और मिश्नरियों का उद्देश्य पश्चिमी सभ्यता का विस्तार करना था।" शनैः शनैः भारतीयों ने विदेशी नीति को पूर्णतः अपना लिया अपनी शिक्षा के महत् उद्देश्य आध्यात्मिकता और धर्म को वे भूल गए और विदेशियों के अनुसार लौकिक सुख भोग को ही जीवन का सर्वस्व और चरम आदर्श मान बैठे।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत में राजनैतिक क्षेत्र में अशांति और क्रांति ने जन्म लिया। भारतवासी शिक्षा के नियमों से असंतुष्ट थे। भारतीयों ने अनुभव किया कि शिक्षा में मात्रा से अधिक महत्वपूर्ण उसका ठोस होना है, अतः इसी ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक है। पश्चिम के प्रभाव से ही प्रभावित भारतीयों ने भारत की पुनर्जागृति और विकास के लिए पश्चिमी शिक्षा की रीति-नीति को ही आवश्यक माना। इन दोनों विचारकों में मतभेद और संघर्ष चलता ही रहा। किन्तु भारतीयों ने अनुभव किया कि राष्ट्रीय जागृति और स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए शिक्षा ही एक मात्र साधन है, अतः निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा देने का प्रस्ताव श्री गोखले ने किया। राजनैतिक दलों ने उनका समर्थन किया और यहीं से स्वदेशी आंदोलन की भावना पुष्ट होती है। इस समय राजनैतिक जागृति की लहर पूर्ण रूप से देश में फैली थी। शिक्षा का उद्देश्य केवल यही था कि अधिक से अधिक मात्रा में जनता को शिक्षित बनाकर अपने आंदोलन को सफल बनाया जाय। शिक्षा सम्बन्धी समस्त प्रयास इसी प्रेरणा से हुए।

गाँधी जी को जब यथेष्ट महत्व मिला, उनका असहयोग आन्दोलन कुछ सफल होने लगा तो उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार सबसे बड़ी राष्ट्रीयता सत्य और अहिंसा की अनुभूति प्रत्येक नागरिक के हृदय में अनुभूत होना है। भारत ने बौद्धिक कलात्मक और भौतिक विशेषताएँ अपनी प्राचीन संस्कृति से प्राप्त की हैं, अतः यही हमारी शिक्षा का आधार होना चाहिये। वर्धा स्कीम में बालकों को सुयोग्य नागरिक बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य था। उन्हें सहयोग और अहिंसा की शिक्षा दी जाती। यह व्यवहार्य्य शिक्षा थी और इससे उनमें राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हुई। गाँधी जी के सत्य के आदर्शों के आधार पर वर्धा स्कीम ने अपना नैतिक दर्शन निर्माण किया। उसने स्वसहायता, आत्मनिर्भरता को सबसे बड़ा धर्म माना। वास्तविक स्वतन्त्रता वही है जो

हृदय, मस्तिष्क और आत्मा की स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख करे। सच्ची आत्मनिर्भरता आत्मानुभव प्राप्त करने का साधन है। वर्धा स्कीम ने अपने इन सिद्धान्तों के अनुसार ही शिक्षा की व्यवस्था की। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर भारत में शिक्षा के उद्देश्य पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया "अपने वृहत् अर्थ में धर्म को शिक्षा का प्रेरक बनना चाहिए और नैतिक आधार से शून्य पाठ्यक्रम अन्ततः व्यर्थ सिद्ध होगा।"

धर्म के साथ ही वर्तमान समय में शिक्षा का उद्देश्य पश्चिम की शिक्षा के उद्देश्य के समान ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो गया है। अपनी व्यक्तिगत उन्नति के साथ ही मनुष्य को यह भी ध्यान रखना है कि वह समाज का अंश है और इससे उसे समाजहित का ध्यान रखते हुए आत्म उन्नति करनी है। आज का युग सम्पूर्ण संसार को एक राष्ट्र बनाने के प्रयास में संलग्न है अतः शिक्षा संबंधी उद्देश्य भी प्रायः समान हो चले हैं। नैतिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता का अधिकाधिक विकास ही उसका उद्देश्य है।

विभिन्न कालों में शिक्षा के उद्देश्य पर हमने दृष्टिपात किया, सब कहीं एक ही तत्व प्रधान है वह यह कि शिक्षा और जीवन के उद्देश्य में घनिष्ठ संबंध है। जिस युग और जिस समाज में मनुष्य अपने जीवन के विषय में जो सिद्धान्त निश्चित करता है, जो उसके आदर्श बन जाते हैं—उन्हीं की प्राप्ति का प्रयास वह जीवन में करता है। उच्चादर्श व्यक्ति स्वार्थ-भावों से मुक्त होता है—वह जीवन के जिस सत्य को अपनी साधना एवं अध्ययन के आधार पर ग्रहण कर पाता है—मानव कल्याण के लिए अपना वह संदेश सब के निकट पहुँचा देना चाहता है। उस व्यक्ति के ये ही आदर्श सर्व ग्राह्य हो जाते हैं और उस विशेष युग की शिक्षा भी उसे अपना लेती है और इस प्रकार एक व्यक्ति के आदर्श समस्त देश और जाति के आदर्श बन शिक्षा के आदर्श भी बन जाते हैं। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों के हृदय को विकसित और सुसंस्कृत कर उन्हें उन्हीं विशिष्ट आदर्शों की ओर उन्मुख किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा और जीवन के उद्देश्य प्रतिपग पर सुसंबद्ध हैं।

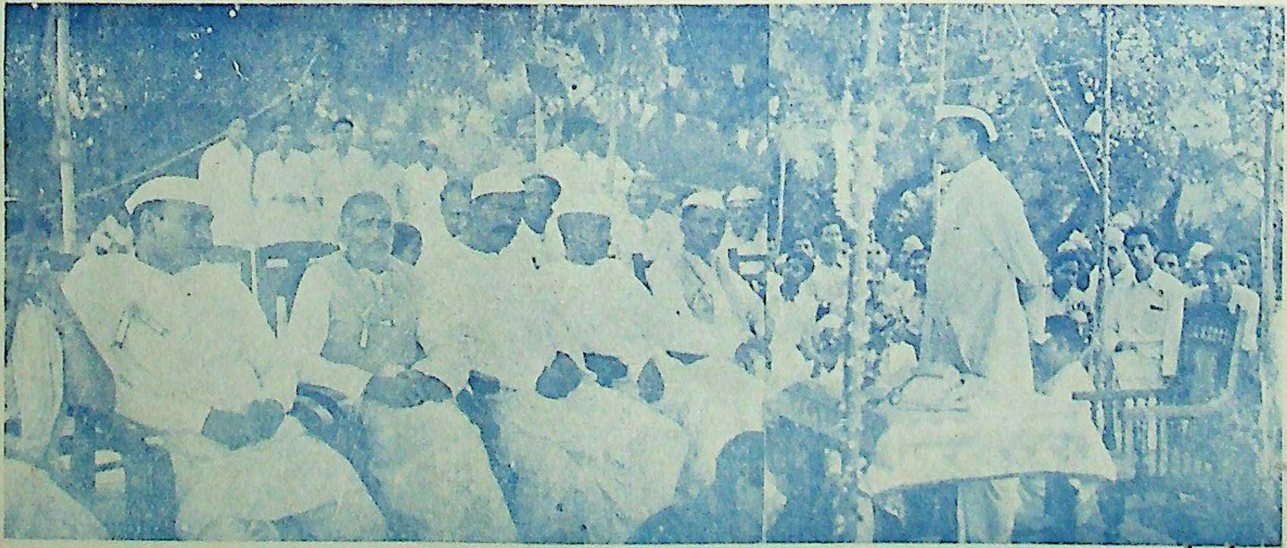

शिक्षा मंत्री श्री हरगोविन्द सिंह राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, फतेहपुर में जूनियर हाई स्कूलों के प्रबन्धकों के बीच भाषण कर रहे हैं।

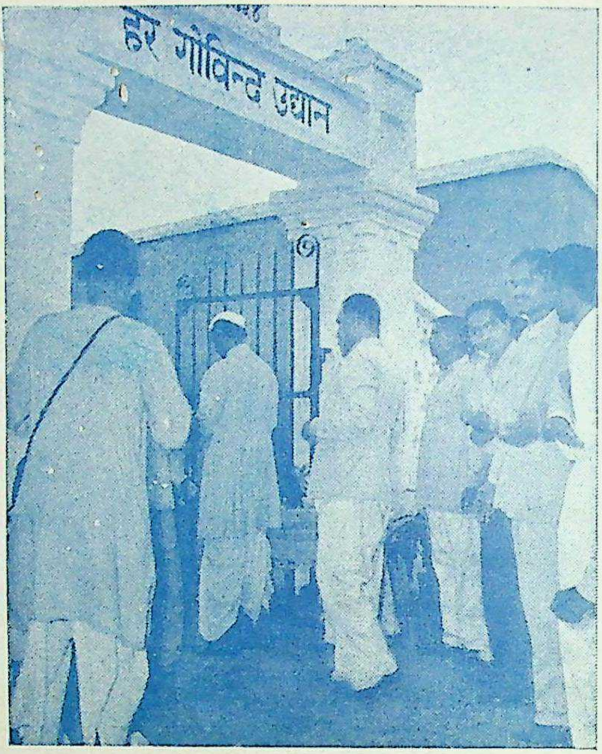

राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, फतेहपुर में शिक्षा मन्त्री द्वारा 'हरगोविन्द-उद्यान' का उद्घाटन

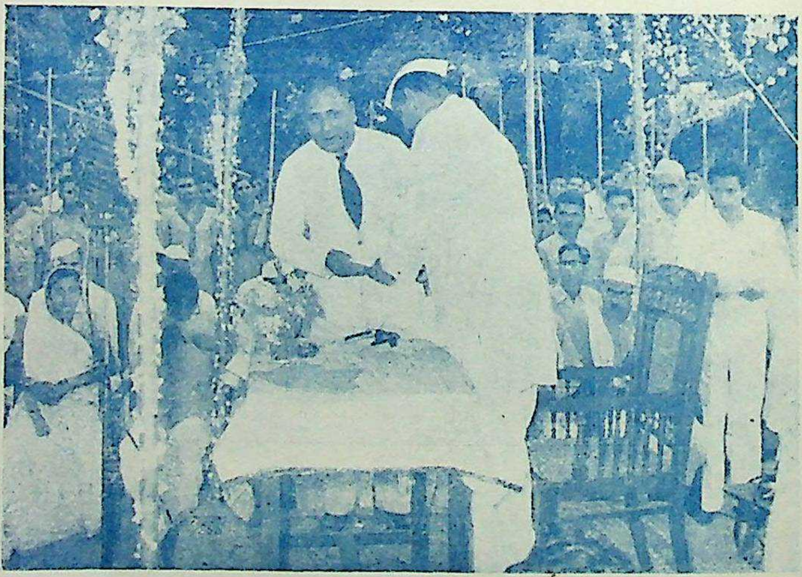

फतेहपुर के जिलाधीश शिक्षा मन्त्री को 'मुख्य मन्त्री शिक्षा-कोष समिति' की ओर से थैली भेंट कर रहे हैं।

NEED FOR A NEW IDEAL IN EDUCATION

Dr. M. Hafiz Syed, M. A., Ph D.; D. Litt.

The reform of education for which I plead, if and so far as it materializes, will affect all types and grades of schools. One of this will be that sooner or later the distinction between primary and secondary education will be discredited, and the distinction between preparatory and advanced education will take its place. So long as the former distinction holds good, secondary school will continue to be strongholds of snobbishness and class prejudice. I look forward to the day when the spirit of comradeship will dominate all our schools and to a somewhat later day when, as the result of this, the same spirit will dominate the whole community and in doing so will sweep away all distinctions, or at least whatever is invidious and anti-social in the distinctions, between one class and another. It is perhaps, oversanguine of me to dream of either day. But the dream comes to me and possesses me, and I am very sure that until it is realized the reconstruction of society on the only basis that is intrinsically sound and durable, the basis of co-operation and mutual goodwill, will not take place, and that if the dream is never to be realized the reconstruction of society on such a basis will never take place.

The way to self-transcendence, in man as in all other living things. is the way of self-sacrifice, the way of dying to the actual, so as to make possible the outgrowth of the ideal. Self-transcendence through self-sacrifice cannot be taught, as Kidd dreams of doing, and as the German State and the

Christian Churches have vainly tried to do. But the spirit of self-sacrifice can be awakened and helped to evolve; and it is to this task that all who wish for a better and a happier world should direct their energies.

The spirit of self-sacrifice can not be drilled into the young. Let us make our minds quite clear on this point. But it can be liberated and evoked. To do this is the function of the teacher; but it is a function which not one teacher in a hundred is at present able to fulfil. For the teachers themselves are the products of the very educational methods which have been the chief cause of our troubles, and yet which they, and they alone, can transform. This is the tragic dilemma that confronts us.

It is through the gradual diffusion from age to age of the spirit of self sacrifice which a reformed education has liberated in the young, that the world will be regenerated in the fullness of God's time.

If there were ten teachers in the land who knew how to liberate that spirit, and if each of these could inoculate with his ideas and his enthusiasm ten teachers of the next generation, and so on, in geometrical progression, from generation to generation, they would in due season transform the face of society; but until the number of their followers had grown from tens to hundreds, and from hundreds to thousands and tens of thousands their regenerative influence would not be widely felt. For the mills of God, as I have already reminded myself, grind very slowly; but they grind unceasingly and they grind exceeding small.

The canker of selfishness, individual and collective, working as a rule slowly and insidiously, but in some cases swiftly and violently, will thwart all its beneficent tendencies, and end by eating the heart out of it.

If Russia under communist rule has proved nothing else, it has at least proved that the attempt "to improve the world" "by economic measures" only is the road to ruin, not to reform.

Indeed it may be doubted if food, climate and economic conditions can improve or even modify human nature. What they do modify is the environment into which men are born and in which they are reared. In doing this they give men fresh opportunities for self-improvement or the reverse. If the world is to be improved, human nature must first be improved—for what do we mean by "the world" but the world of men and women ?—and another name for the improvement of human nature is "a change of heart." But if human nature is to be improved, its own inherent potentialities for good must be helped to realize themselves while it is still possible for them to do so; and this can only be done by education.

A change of machinery, without a change of heart, would profit us nothing and if the change were sudden and violent and on a large scale, it would, through its tremendous dislocation of the whole existing order of things, give us something nearer to hell than to heaven.

"Take no thought for the life what ye shall eat, neither for your body what ye shall put on. Life is more than meat, and the body is more than raiment." If we cannot obey the letter of this precept we can at least try to be faithful to its spirit. Meat is eaten for the sake of life. It is a means to an end. But life is an end in itself. "Economic measures" are concerned with the means of living, with meat, raiment and the like. The "change of heart" is a change (for the better) in life itself. Life will always take precedence of the means of living, and the latter will owe such value as they possess to the fact that they are means to an end beyond themselves. This is the final answer to those who hold that the change of heart does not count and that economic measures alone can improve the world. "Seek ye first the kingdom of God and his righteousness, and all these things shall be added unto you"; added, not by any supernatural agency but by the working of natural laws. For the supreme end of action controls and disposes in due order all the hierarchy of means and ends which leads up to itself. And though, things being as they are, a man may seek the kingdom of heaven and yet lack meat and raiment, if all the world were seeking the kingdom of Heaven there would be such peace and harmony and good-fellowship and readiness to co-operate among men, that there would always be an abundant production and an equitable distribution of meat and raiment and other means of living, and all economic difficulties would vanish and all economic problems would be solved.

Divorced from intuition, reason is reason no longer but at best a poor counterfeit of itself. Antipathy to intuition carries with it antipathy to idealism, which is in the sphere of purpose and action what intuition is in the sphere of cognition and thought. Hence the cynicism of the typical rationalist. Nothing is easier than to flout idealism in the name of reason, and nothing is more certain than that the latent idealism of man's heart will avenge itself on those who flout it, if they happen to be zealous reformers, by compelling them to become idealists—for what is fanaticism but idealism turned upside down and gone mad ?—without their knowledge and against their will.

If a durable social structure is to be built, a change of heart must prepare the way for it. The spirit of comradeship, of co operation, of fellowship in devotion to a high ideal, must diffuse itself through the world. As it diffuses itself, however slowly, there will be healing in its wings; and, one by one, our troubles, our difficulties, and our grievances will melt away like mists before the rising sun. In every sphere of man's social activity it will make for co-operation rather than for competition, for goodwill rather than for ill-will, for peace rather than for strife. It will blunt the sharp edges of our odious class-distinctions, and go far towards effacing them; for under its influence the aristocrat and the plutocrat will begin to learn that "pride, however concealed, is littleness." It will level down the monstrous inequalities of wealth, which are so potent a cause of social unrest. Under its influence the millionaire will realize that he is a social anomaly, a cancerous outgrowth on the body politic, and that the best thing he can do for himself and for his country is to commit economic suicide. In trade it will make profiteering impossible, and promote fair and honourable dealing between producers and merchants, between merchants and retailers, between retailers and consumers. In industry it will make for co-partnership between employers and employees, and for a voluntary limitation of profits on the part of the former. In politics it will make corruption impossible and heal the bitterness of party strife. In religion, which is the most fruitful of all causes of anger and unrest, it will make for tolerance and charity, and so prepare the way for co-operation, on the part of the churches and sects, in the service of the Most High. So beneficent will be its subtle influence that as it passes on its way, ever widening the sphere of its activity, all our social problems will gradually solve themselves, all our social maladies will gradually work out their own cure, and the need for revolutionary schemes of social reform will at last cease to be felt.

But you cannot change human nature. Men will be greedy, selfish, self-indulgent and quarrelsome to the end of time." So the cynic and the pessimist will protest; and one would imagine, from the way they talk, that they knew all about human nature, that they had "gone round about it and told the towers thereof and marked well its bulwarks," that they had mapped out all its limitations, gauged all its possibilities, fathomed all its mysteries.

What is essential in human nature cannot be changed. If this is what the pessimists mean they are right; but this is not what they mean. Human nature as such, human nature in its totality, cannot be changed. Nor do I wish to change it. I wish it to be free to evolve itself, to transcend itself, to actualize its infinite potentialities, to find its true self, to realize its own ideal, to tell us what it really is. Set it free to do this, and it will work out its own salvation at its own good pleasure; and the reform of our social life will be but an incident in this mighty drama. At present it seems to be thwarting its own efforts, and baffling its own prayers. I will make the pessimists a present of the average adult man, though I think they do less than justice even to him. The victim of twenty years of dogmatic direction towards false ideals, enforced by disciplinary compulsion and repression, will not easily change his attitude towards life; and we must not count on him to rebuild our ruined world. But if I make this concession to the pessimists, I must ask them in return to give me the young and impressionable children. If they will do so I will promise them, not "in the lifetime of those around" me, but in some far off and indeterminable future, a better and a happier world than this.

Distrust of human nature, whether on the part of the reactionary or the revolutionary -I know not which is the greater pessimist—will never give us a new world. Faith, and faith alone, will give it to us,—faith in the infinite possibilities with which the newborn child is charged; faith in the transformative, or rather in the liberative and stimulative, nfluence of education; faith in the meaning and purpose of the drama of man's life; faith in the wonder and the glory of the world in which we live; faith in the magnetic power of the unattainable ideal; faith, above all, in the orientation of the heart of man, of the heart of the child who is father to the man, towards truth and beauty and love. It is not where statesmen deliberate or where anarchbists hatch plots; it is not in the counting-house or the market-place; it is not in the laboratory or the factory; it is not on the platform or in the pulpit; it is not in the press or on the stage—that the foundations of the new world are to be laid: it is where ideals are still waiting and will ever wait, eagerly yet patiently, to be realized; *it is in the nursery, the home, and the school.*

An Experimental Study of the Level of Intelligence of Our Secondary School Teachers.

Dr. S. B. Adaval

Intelligence, as designated by Spearman's 'G', colours the total personality of an individual. It affects his general behaviour in whatever sphere of life he may act. Even the most ordinary day to day activities of life reflect his native intelligence.

Native intelligence is generally taken to include balanced mental development, and habits and skills of attention, good judgement, memory, imagination, clear perception, ability to analyse, organise and present the results of critical thinking. In the definition of intelligence psychologists have generally included ability to do abstract thinking[1], to adjust oneself to one's environment[2], 'capacity for variability and versatility of response'[3], and the power of 'comprehension, inventiveness, persistence and critical analysis'[4].

It goes without saying, then, that each one of these capacities is of immense help and use to the individual in his dealings with people and things. In the field of his vocation the intelligence of an individual is of particular importance. The various professions have been analysed and classified into different categories according to the minimal requirement of intelligence in each. For the profession of teaching too, such suggestions have been made after a thorough investigation and job analysis.

---

1. Terman.
2. Colvin.
3. Edwards.
4. Binet.

That the teacher should possess a high degree of intelligence, nobody disputes. Hart's investigation[1] shows that the pupils consider intelligence an important characteristic for liking a particular teacher best, though its rank in the list of qualities is low, 37th. Lack of intelligence has been given as an important cause of teacher failure by Barr and others[2].

The Research Division of the National Education Association of America made an exhaustive study of publications dealing with success in teaching and has put intelligence second in order of rank among the qualities mentioned most frequently as contributing to success[3]. The National Teacher Examinations of the U. S. A. also include a test of intelligence. Such a test is recommended on 'the theory that admission to the teaching profession in any capacity should be restricted to those teachers who possess more than a certain minimum of professional preparation, culture and intelligence'[4].

From my own investigation, too, it is evident that both pupils as well as the educationists like the teachers to be intelligent. In the U. S. A. an intelligence test now forms a necessary part of admission test administered to the applicants, although in India such a practice is not followed.

However, it is not the establishment of the importance and use of intelligence for a teacher that is of any practical use. What is required is to determine how intelligent a teacher should be, or what is the minimal level of intelligence

---

1. Hart, F. W. : Teachers and Teaching ; Macmillan Co. ; 1934.
2. Barr, Burton and Brueckner : Supervision ; Appleton-Century-Crofts, Inc., New York; 1947.
3. Myers, A. F. And Williams, C. O. : Education in a Democracy ; Prentice-Hall, Inc., New York ; pp. 28-31.
4. Rivlin : Encyclopedia of Modern Education.

for a teacher to succeed in his profession. In a simpler way we may say : What should be the level of I. Q. of a successful teacher ?

Different studies have revealed different results in different place in regard to this problem. Fryer[1] carefully analysed the findings of the military psychologists and has also taken into account subsequent enquiries to suggest ranking of different professions on the basis of average scores on an intelligence test.

The teachers of public schools possess the following raw and standard scores on the Army Alpha Test[2] :

Raw Scores			Standard Scores		
Q 1	Av.	Q 3	Q 1	Av.	Q 3
97	122	148	5·74	6·20	6·71

Clark and Gist[3] tested 2,423 men and women in different occupations and concluded that the mean I. Q. for teachers was 99·3 with a standard deviation of 10·7. Yevale[4], on the basis of his investigations in India feels that though the majority of teachers have their I. Qs. between 90 and 109, yet the profession has not attracted a better class of people. One educationist in response to my questionnaire suggests that a successful teacher must possess an I. Q. of 120 or above, while another suggests an average I. Q.

---

1. Fryer, D. : Occupational Intelligence Standards ; School and Society ; Sept. 2, 1922 ; 16 : 273-277.
2. Bingham, W. V.: Aptitude and Aptitude Testing; Harper Bros., New York; 1937; p. 46.
3. Clark, C. D. and Gist, N. P. : Intelligence as a Factor in Occupational Choice ; American Sociological Review; 1938, 3:683-694.
4. Yevale, H. A. : The Future of Teacher Training; Report of the First Conference of Training Colleges in India, Baroda; Indian Institute of Education, Bombay; 1951.

It has to be accepted that any decision about the I. Q. of a successful teacher on the above lines will be highly arbitrary. An I. Q. of 120 and above is a very high degree of mental level, and persons with a very high. I. Q. may not only be not available in a large number but also not fit into the profession, being too intelligent for it. Teaching is a profession in which distribution of workers will follow the normal probability curve in respect of their intelligence. In the profession there are bound to be some with high intelligence, some with low, and the majority clustering round the mean. Hence it is more reasonable and scientific to suggest a range of I. Q. for the workers in the profession of teaching as well as others rather than a fixed I. Q. Strong has explained this idea in the following words :

"The data indicate that there is very wide variation in intelligence test scores by men in every occupation, so that, knowing a man's score, it is impossible to say to which occupation he belongs. Data like these exaggerrate the differences because emphasis is given to mean scores of occupations or to inter-quartile (middle 50 %) range of intelligence test scores. Actually a few members of occupations averaging low in intelligence could belong to almost any occupation with high average and vice versa... It is only very roughly that we may say that an occupation has an intelligence level of so much. This may be true for the average in the occupation, but there are many individual members deviating widely from the average."

Hence for the majority of teachers a range of I. Q. between 90 and 110 may be suggested. There may be some teachers whose I. Q. may be more than 110 going upto 120 or even more, but their number will go on decreasing as they progress on the scale.

Actually, the real problem is presented by the teachers whose I. Q. falls below 90. People whose I. Q. is between 80 and 90 are termed as dull and those whose I. Q. falls between 70 and 80 as borderline cases. Everybody will agree that dull and borderline teachers will not fit into the profession of teaching in anyway. They will fail to stimulate children and meet the situations in the classroom successfully ; their stock of knowledge will be meagre, and they will have low scholastic ability. Hence, it is necessary that there be no teacher teaching in a secondary school with an I. Q. lower than 90. I. Q. of 90, in my opinion, should be the critical limit of intellectual requirement for the teacher. The shape of the curve of I. Q. for the teacher-group may, therefore, be skewed towards the side of higher I. Q. and take the shape given below :

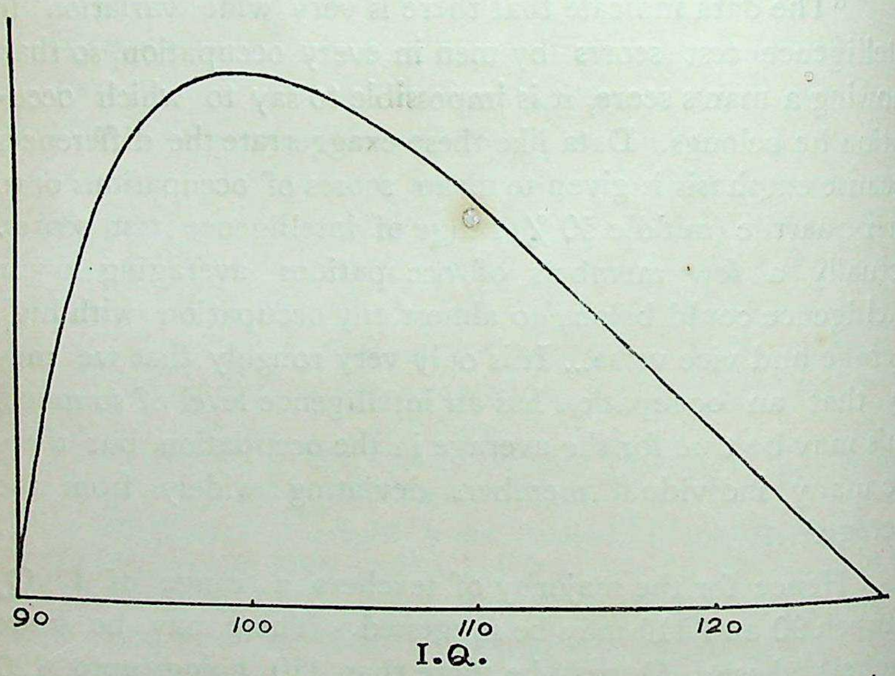

Intelligence and Teaching Ability

The value and importance of intelligence for the teacher to succeed in his profession being so great, the problem that automatically arises is of the relationship between the two. How is intelligence related to teaching ability ? Can teaching ability be predicted only on the basis of the teacher's intelligence ? What weightage should be given to intelligence in judging the teacher's efficiency ? These are the questions which need to be answered.

A high correlation between intelligence and teaching efficiency as measured by supervisor's rankings was found by Elliott[1], and Boyce[2], as early as in 1912. The correlation was +·500. However, the authors themselves admit that the reports were too high, 'due to a halo effect of the ratings on the score cards'[3]. In 1923, Somers[4] correlated scores in intelligence test with scores obtained on a score card for ratings of teachers in their first year of experience by supervisors. It came to +·43. A similar technique was followed by Whitney[5]. His criteria of teaching success was based on supervisors' judgements in the first year experience of the elementary school teachers. The correlation with intelligence was found to be as low as +·025. Knight[6] has found this correlation to be +·108, while Tiegs[7] +·01.

---

1. Elliott, C. E. : A Provisional Plan for the Measure of Merit in Teaching, Wisconsin Board of Education Report; 1912.
2. Boyce, A. C. : Methods for Measuring Teacher's Efficiency; XIV Yearbook, National Society of Education ; 1915.
3. O'dea, J. D. : A Study of Teaching Potentialities; Journal of Educational Psychology ; December, 1950.
4. Somers, G. T. : Pedagogical Prognosis--Predicting the Success of Prospective Teachers ; Contributions to Education, No. 140 ; Columbia University , 1923.
5. Whitney, F. L. : Prediction of Teaching Success ; Journal of Educational Research Monograph No. 6 ; 1924.
6. Knight, F. B. : Qualities Related to Success in Teaching; Contributions to Education, No. 120; Columbia University; 1922.
7. Tiegs, E. W. : An Evaluation of some Techniques of Teacher Selection; Public School Publishing Co.; 1928.

A study on Indian student-teachers is reported by Menon and Shukla[1]. The subject were the students of B. T. class in Baroda Teachers Training College, of three successive batches of the years 1940-41, 1941-42 and 1942-43. I. Q. was calculated on the basis of West-Riding Test of Mental Ability compiled by Tomlinson. Rank formula used was Spearman's, *i. e.*, P

The results of the investigation are given below :

Year	N	Correlation between I. Q.–P. C.			Correlation between I. Q.–E. E.		
		r	P. E.	S. E.	r	P. E.	S. E.
1940-41	70	·42	·06	·09	·15	·07	·010
1941-42	72	·43	·06	·12	·11	·07	·105
1942-43*	65	·18	·08	·12	·11	·08	·12

* Year of political disturbance.

P. C. means estimate by college staff.
E. E. ,, estimate by external examiners.
P. E. ,, Probable Error.
S. E. ,, Standard Error.

The authors conclude that, "the results clearly show that correlations between candidates' intelligence and teaching ability as measured by external examiners are positive, but insignificantly small in view of their probable and standard errors. On the other hand correlations between candidates' intelligence and teaching ability as estimated by the college staff are positive and significant for the first two years, being seven times as big as their probable error, and nearly five times their standard error."

The above studies bring out one striking result that there is a positive but negligible correlation between intelligence and teaching ability of primary school teachers as measured by supervisors' ranking, but in the case of secondary school teachers it is positive and significant. This shows that in teaching higher classes more intelligence and intelligent approach is demanded of the teacher.

---

[1] Menon. T. K. N., and Shukla, M. M. : Intelligence and Teaching Ability; Indian Journal of Psychology; 21 : 1-4; 1946.

Hollingworth[1] has also arrived at the same conclusion. He says, "The correlations of teaching efficiency, as rated with intelligence by test are in no case high, but they are in all cases considerably higher in the case of high school than in the case of elementary school teachers. The conclusion was suggested that 'in elementary school teaching, even in the most routine work, intellect can be used and is used, but patience, industry, sympathy, and other qualities are relatively of greater importance than intellect'. In the case of high school work, the pupils are older, the subject matter is more complex, and the methods are less conventionalized, so that intelligence is apparently a more important factor. The fact that the correlation is no higher than it is may be due in part also to the unreliability of the ratings for teaching efficiency."

This also confirms the great need and importance of intelligence for a successful teacher, especially of the secondary school. But the degree of his intelligence can in no way indicate the degree of his teaching efficiency, nor is it possible to indicate one's occupation merely on the basis of his intelligence test scores.

Selection of the Test

In order to assess the mental level of our teaching personnel we need a well standardised group test of intelligence for the adults. Such a test is not yet available in our country. Some adaptation of Army A and B Tests is used by the Defence Department, Government of India, for recruitment of army officers, but it is not available for public use. Kamat's Test of intelligence is an individual test and hence not helpful in surveying the intelligence of a large group of people. The Bureau of Psychology, U. P., Allahabad, has undertaken to construct and scientifically standardise a test of intelligence for the adults in Hindi which is bound to be of immense help.

---

[1] Hollingworth, H. L.: Educational Psychology; Appleton-Century Co., New York; 1933; pp. 487-488.

Therefore, I had to select a test of intelligence which, though not technically standardised on Indian population, could serve to some extent the purpose of surveying the intelligence of teachers. It had to be such as could be easily adapted to Indian conditions with the slightest possible modifications.

These considerations were satisfied to a very great extent by Otis Self Administering Tests of Mental Ability[1]. The higher form of the test is designed for college freshmen. It contains 75 items in simple English. The administration of test is simple and the scoring easy. The validity and reliability of the test is high, the coefficients being as much as ·889 and ·921 respectively. I selected Form A of the Higher Examination[2] for the present investigation. Very little changes in the items have been made, and these too were confined to the change of English names, measurements etc, to Indian ones.

The test has an elastic time limit of 20 to 30 miuutes. According to Otis it is advisable to use the time limit of 30 minutes 'as it will give a more accurate measure'. Since the

---

1. Otis. A. S. : Otis Self Administering Tests of Mental Ability; World Book Co., New York; 1928
2. Otis, A. S. : Manual of Directions, Otis Self ·Administering Tests of Mental Ability; World Book Co., New York; 1928, p. 12,

standard of achievement and, comprehension of Indian graduates in English is gradually becoming low I decided to use the time limit of 30 minutes. It is expected that it will compensate for certain other difficulties which the test is likely to present to the Indian students. The test was administered to 514 student-teachers, it being presumed that the students in teachers colleges will join the profession after their training. The institution-wise distribution of these student-teachers is given in the following table :

Table No. 1

(Giving the number of student-teachers who were given the Otis Test of Mental Ability)

S. No.	Institution	N
1.	Agra : Balwant Rajput Training College	64
2.	„ Government Women's Training College	41
3.	„ Women's Training College, Dayalbagh	13
4.	Aligarh : University Training College	49
5.	„ : Dharma Samaj Training College	44
6.	Allahabad : Government and Basic Training Colleges	36
7.	„ : K. P. Training College	59
8.	Banaras : University Training College	53
9.	Delhi : Central Institute of Education	71
10.	Lucknow : Christian Training College	45
11.	„ : University Training College	39
	Total	514

Analysis and Interpretation of Data

The details about these testees are as follows :

	N
Men	362
Women	152
Graduates	404
Post graduates	110

Table No. 2

(Showing the distribution of 514 student-teachers according to the divisions obtained by them at the first degree examinntion.)

Division		Number of Students		
		N	W	T
First	...	5	6	11
Second	...	99	40	139
Third	....	222	91	313
Pass	...	12	6	18
Total		338	143	481†

† 33 Student-teachers did not mention their divisions.

(In this table as in others M designates men, W women and T total.)

Table No. 3

(Showing the frequency distribution of I. Q. of 514 student-teachers.)

I. Q.				Number of Student-teachers		
	M	W	T	Grads.	Post-grads.	T
120–124	0	0	0	0	0	0
115–119	8	4	12	9	3	12
110–114	7	4	11	8	3	11
105–109	16	6	22	17	5	22
100–104	43	6	49	32	17	49
95–99	53	20	73	51	22	73
90–94	81	28	109	85	24	109
85–89	76	33	109	90	19	109
80–84	61	31	92	79	13	92
75–79	17	16	33	30	3	33
70–74	0	4	4	3	1	4
N	362	152	514	404	110	514

Graph Chart showing the Distribution of 514 Student-Teachers according to their I. Q.

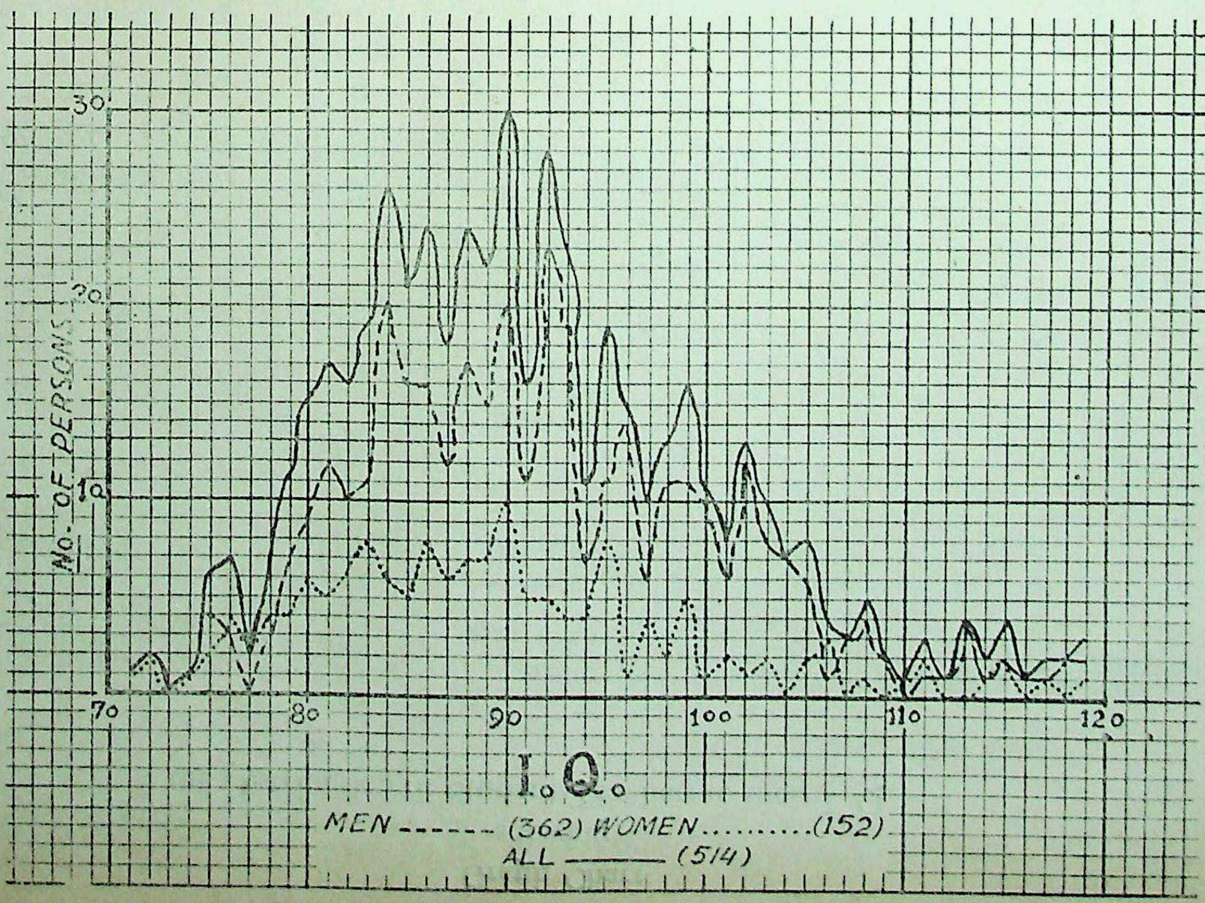

Graph Chart
showing
the Distribution of Student-Teachers to their I. Q.

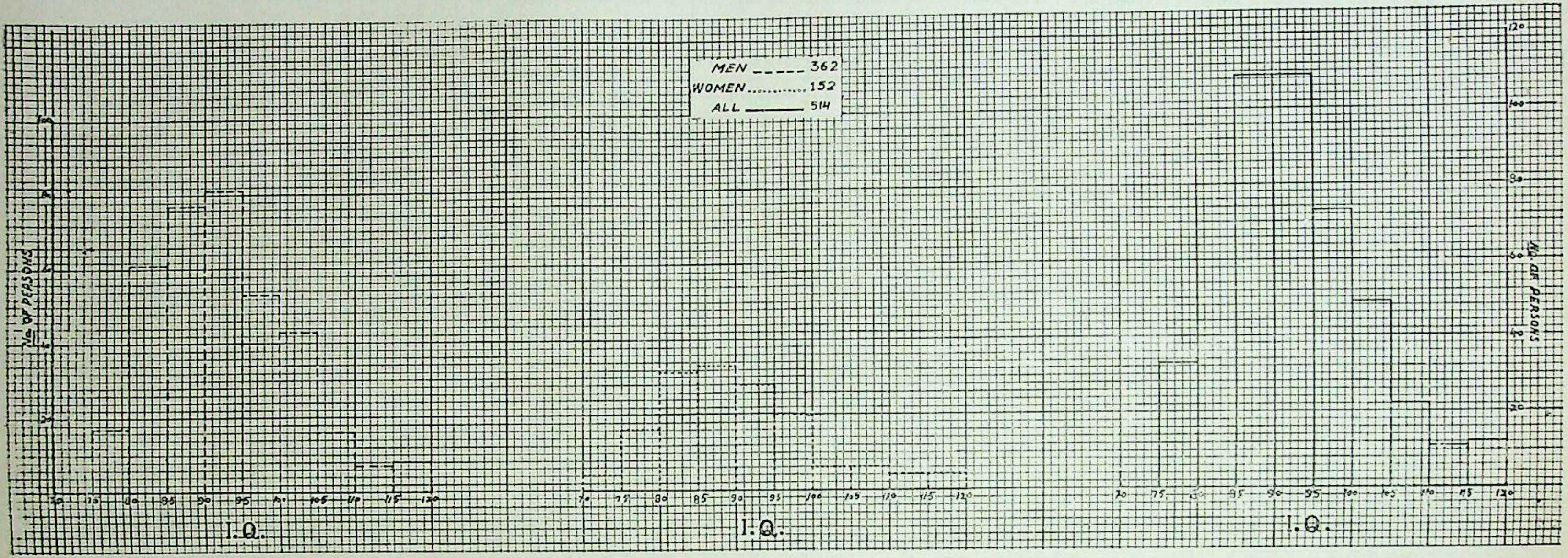

Table No. 4

(Showing the frequency distribution of I. Q. of 481 student-teachers according to the divisions secured by them at the first University examination.)

I. Q.	Number of student-teachers obtaining				
	I Div.	II Div.	III Div.	Pass	T
120–124	0	0	0	0	0
115–119	4	2	2	2	10
110–114	3	2	3	1	9
105–109	0	6	12	1	19
100–104	2	17	22	1	42
95– 99	1	24	41	3	69
90– 94	1	34	63	3	101
85– 89	0	25	76	3	104
80– 84	0	22	65	2	89
75– 79	0	5	27	2	34
70– 74	0	2	2	0	4
N	11	139	313	18	481

Table No 5

(Showing the Mean and Standard Deviation of the I· Qs· of Student-teachers according to various categories.)

Category	Mean I. Q.	S. D.
1. Men	92·08	8·93
2. Women	89·60	9·84
3· All	91·35	9·28
4. Graduates	90·67	9·24
5. Post graduates	93·81	9·01
6· First Divisioners	108·82	8·60
7· Second „	92·07	8·67
8· Third „	89·57	8·35
9· Pass candidates	94·50	12·16

Out of 514 student-teachers who took the general intelligence test and 523 who took the general knowledge test,* 366 were found to be common to both the groups. A correlation between general knowledge and intelligence was calculated on the basis of their I. Q. and scores on the General Knowledge Test. It came to +·568.

Otis Self Administering Test of mental Ability, Higher Form A, which I administered to the student-teachers in the present investigation was also administered to 72 students of the B. T. class in Kolhapur Training College[1]. The frequency distribution is shown in the following table. The mean I. Q. was found to be 97·13 with a standard deviation of 7·75.

Table No. 6

(Showing the frequency distribution of I. Q. of 72 student-teachers of Kolhapur Training College.)

I. Q.	N
115–119	2
110–114	2
105–109	7
100–104	16
95– 99	17
90– 94	18
85– 89	6
80– 84	4
Total	72

Another attempt of similar nature was made in 1936-37, when R K. Sur, Principal, Government Training College,

---

* Reported in Shiksha, October, 1953.

[1] Yevale, H. A. : Reported in the Official Report of Proceedings of the First Conference of Training Colleges in India, Baroda, 1950 , Indian Institute of Education, Bombay , 1951.

Allahabad, administered this very test to 132 students of his college in two successive years The frequency distribution of the I. Q. of this group of student-teachers is given in table No. 7.

Table No. 7

(Showing the frequency distribution of the I. Q. of 132 student-teachers of the Government Training College, Allahabad, tested in 1936-37.)

I. Q.	N
120–124	2
115–119	2
110–114	16
105–109	18
100–104	31
95– 99	27
90– 94	22
85– 89	9
80– 84	3
75– 79	2
Total	132

The mean I. Q. was 99·87 with a S. D. of 8·66.

One thing that stands out very clearly from the present investigation is that majority of the student-teachers, 454 out of 514, *i. e.*, more than 88% have an I. Q. between 80 and 109, the general mean being 91·35. 129 student-teachers, *i. e.*, more than 25% fall between the range of 70 to 84. There were only 23 out of the whole group whose I. Q. was between 110 and 119.

This is not a happy situation, although some margin needs to be left and consideration made for the fact that the test is not standardised over Indian population, and the factor of language though not very significant in the present case, has its own effect. I have a strong feeling that if the language of the test were Hindi the results would have been much better. Even with the above considerations the range of I. Q. between 90 and 109 on this test should be taken as normal for our teachers in the secondary schools. 253 student-teachers out of 514, almost 50%, fall into this group and as such the intelligence level of these teachers can be considered fairly satisfactory.

However, the real problem is that of the large group of 238 student-teachers, about 46%, who fall below the level of marginal line of I. Q., *i. e.*, 90. They are definitely mentally inferior and cannot fit into the profession of teaching.

The mean I. Q. of men student-teachers, 92·08, is higher than that of women, *i. e.*, 89·60. On the other hand the group of post-graduate student-teachers has a higher mean than the graduates, *i. e.*, 93·81 and 90·67 respectively. First divisioners are outstandingly superior to second or third divisioners. This justifies to some extent the selection of teachers for appointment in the schools on the basis of a master's degree and a good division at the examination. The same considerations weigh with the authorities in selecting candidates for admission to training colleges

In comparison to the mean I. Q. of student-teachers tested at Kolhapur, which is 97·13, the mean I. Q. of the present group, 91·3, is considerably low. It shows that in the U. P. the level of intelligence of teachers under training is lower than that at Kolhapur. In the U. P. itself fifteen years ago this intellectual level was much higher than today as is shown by the results of the intelligence test administered in the Government Training College, Allahabad, in 1935-36, when the mean I. Q. was 99·87. This may be due to various reasons, but the most apparent seems to be the gradual lowering of the standards of selection of student-teachers in the Training College.

High correlation (+·568) between intelligence and general knowledge as brought out in the present investigation is very significant. Teachers with higher I. Q. seem to have broader outlook, interest in things and events around them, and retain better what they have learnt once.

Conclusions

Majority of student-teachers in the present group have an I. Q. between 90 and 109. This is so in the case of Kolhapur as well as Allahabad Training College investigations too. From this Yevale has concluded that, "the teaching profession has not attracted a better class of people". But several consideration which we have noted earlier lead us to conclude that nothing is wrong at least with this group of teachers. Majority of teachers are bound to cluster within this range with the mean I. Q. of about 100.

However, the real problem is presented by that group which falls below the I, Q. level of 90. It is evident that some step needs to be taken to eliminate this large group of prospective teachers, 46% in the present case, whose I. Q. is below 90 and, therefore, are mentally inferior. They can hardly do justice either to the profession they have decided to join or to the pupils whose education is under their charge They are bound to be poor, ineffective and perhaps even harmful to their vocation.

Therefore, in the selection of teachers for training an intelligence test becomes an absolute necessity. It may not be of much use in directly assessing the quality of teaching of each individual, but for the assessment of the total personality of the teacher and to eliminate the dull and weak ones, it is bound to be of great value. The Training Colleges will help immensely in raising the quality of our teachers and consequently of education by refusing to admit even a single student whose I. Q. falls below the critical level of 90. The close relationship between intelligence and general knowledge should also find its bearing on the selection of candidates for admission to the training colleges.

It would also be an interesting and revealing study to find out how the teachers' mental ability compares with that of workers in other professions. Such a data is not yet available in our country. The attention of research workers needs to be drawn towards this field of work which is bound to be highly interesting and useful.

THE PECKHAM EXPERIMENT

Austin A. D'Souza M A., B. T., Dip., E. D. (Lond), A.I.E. (Lond)

The family has been from time immemorial the basic unit of Society, and Social Scientists, however much they may differ on other matters, have agreed that a physically and spiritually healthy society can only be built on the basis of healthy families. The normal family has all the potentialities of healthy physical, social and spiritual growth inherent in its very make-up, but these potentialities will only come to fruition if the family is placed in a suitable milieu which provides rich and varied opportunities for physical, social and spiritual development. Unfortunately in our day, such an ideal mileau rarely exists, the social isolation of the modern urbanized family from similar living cells in the social organism, and the lack of suitable opportunities for personal family and social activity and experience, generally in the healthy growth of body and mind in the members of a family and leaves them frustrated and underdeveloped. To remedy these defects and to cater for the physical and psychological need and abilities of families, progressive, countries, such as England and the U. S. A., have evolved Health and Community Centres, and these are doing much to compensate for the deficiencies of urban and rural family life. But these admirable institutions, though valuable in themselves, suffer from two major defects which negative much of the good they do---they tend to divide up and compartmentalize the various aspects of health development—physical health in the former, and social needs in the latter—and their stress is on the individuals in a family, rather than on the family as a whole.

To seek a remedy for these defects, the Peckam experiment was begun, under the auspices of the Hally Stewart Research Trust, early in the 20s in England by a small, capable and enthusiastic band of progressive doctors and sociologists, under the direction of Dr. G. Scott-Williamson, in a small house in South London. Though it was called simply a "Health Centre", it was in reality an entirely new departure from the conventional Health Centres; for not only did it incorporate the best elements of a Health Centre, a psychological Clinic, and a Community Centre ; it was in addition a Research Laboratory, which aimed not only to prevent and cure disease, but to re-define Health from a social as well as an individual standpoint.

This element of Research was the most striking and vital feature of the Peckham Experiment—it was above all, as its authors defined it, a "biological experiment" to study the true nature of individual and family health, and the conditions under which they could best be promoted. Health, to the small band of enthusiasts who manned the Centre, was not merely something negative—the absence of disease—but positive; not static but a dynamic living thing born of action and growth in a suitable enviroment; not existing in a vacum, but essentially functional; not flourishing in isolation but in the family. They held that complete health of mind and body was essential to human well-being, progress and happiness, and that such health was only possible in and through the family.

This emphasis not on the individual but on the family, "the living structure of society", was the second unique characteristic of the Peckham Experiment. The unit of living for the group of Scientists conducting this piece of fascinating biological and sociological research, was not the individual but the family, "the living unit which alone can give a living society." They regarded the family not only as a social but as a biological unity, hence aimed to provide opportunities for healthy growth and living for the family as a whole, and not for its individual members in isolation from one another. True family health, the Peckham scientists believe, "can easily come forth from a mutuality of action within a Society sufficiently mixed and varied to provide for the needs of the mind and spirit as well as the body" of every member of the family considered as individuals, and of the family as a whole considered as a single biological and social unit.

The Peckham Scientists set about with zest and enthusiasm to provide such a Society. The result has been the creation of the Peckham Health Centre which may be described as a health clinic on the model of a family club, catering for the physical, biological, social and educational needs of all the members of the family unit—father, mother and children. The experimental or empirical aim, however, is still predominant ; the Centre does not aim to provide a cut and dried environment and programme of action, but to provide wide and varied opportunities for the development of individual and family potentialities and aptitudes, and to put at the disposal of its members a common pool of knowledge and experience on which to draw which will enable them to promote their complete development. The stress is on the family, hence only whole families are accepted as members, though courting couples are encouraged to join as not only are they "embroyo families", but the scientists feel they can accomplish much through pre-marriage education with a family in the making than with the accomplished fact.

In the Centre itself every member of the family is catered for—there is pre-natal education for the mother and father, and Nurseries and a Nursery School for Infants; and it is hoped when funds permit to establish a Junior and a Senior School so that a child will be able to have his whole education at the Centre in the heart of the family and not divorced from it as happens in the case of most children. Meanwhile a wide variety of physical and social activities—gymnastics, games, swimming, music and dancing, amateur dramatics—exist for school-going children and young adolescent workers, who generally join their parents at the Centre after School or after work, and similar activities are provided, on an adult scale, for father and mother. In the formal and informal education given at the Centre, and in the choice of activities by the members, the stress is on spontaneity and freedom—the Centre merely aims to provide stimuli by its provision of rich and varied opportunities for mental physical and social development; it is up to the members to use, or not to use them. A striking feature which makes the Centre a real Family Club is that there is no segregation either of the sexes or of the children and the adults; children and young people share freely in all activities with their parents and other adults, for the organisers are convinced that childern and adolescents can only mature in contact with one another, their parents and the older members of the Community. This happy mingling of youth and age, enthusiasm and experience, enriches both, and family activities give birth to a deep sense of "family unity" that is the best safeguard against all those forces in modern society which are destroying the unity, stability and value of the family group. The activities of the Centre cater primarily for the physical and recreational and social needs of its family members, but the deeper needs of mind and spirit are not neglected, being, as they are, an essential part of true health or "wholeness". In the Centre the entire emphasis is on voluntary and spontaneous activity and growth; there is no attempt at regimentation or compulsion, nor even any effort at "conditioning" or moral suasion. Members can join in all the activities or in none; the worthwhileness and fascination of the activities going on around them is its own attraction, and if that fails the organisers admit they have failed. Members plan and run their own activities wax and wane periodically, old activities losing their popularity and being replaced by fresh enthusiasms. This free and spontaneous birth, development and decay, of the Centre's activities gives them variety and fluidity, and a dynamic character, and the constant action and interaction promotes social training and growth. There are no stereotyped rules for the organisation of activities nor any provision of leaders or "experts" to guide them, unless the members ask for help; members of each internal society or group draw up their own rules, and, given the right circumstances, natural leaders emerge and are much more willingly obeyed than any outside expert. In this way, each individual and family makes its own unique contribution to the richness and complexity of the life at the Centre, which, in turn, becomes to each member family an open door to a richer and fuller life for parents and children, by to a richer and fuller life for parents and children, by providing an environment in which their physical and social capacities can progressively find expression and fulfilment, and a continuous and constantly growing storehouse of vital first-hand knowledge and experience of the fundamentals of healthy physical and social living on which the members can drawn ad lib. By making the fullest use of this environment, and this precious pool of wisdom and experience, the parents are enabled to lead fuller and more satisfying lives, in living contact with their children, and the children are enabled to develop physically and social in a way in which Nature intended they should.

The Peckham Health Centre, then, provides a stimulating environment, and the very building itself is functionally designed to promote the purposes of its founder. It is a magnificent structure, built almost entirely of steel and glass so that it not only catches whatever sunshine is available in fog-ridden London but everybody can see what is going on in all parts of the building and the very sight of all this pleasureable activity is a well-high irresistible incentive to the onlookers to share in it. The building is three-storeyed; on the ground floor are a well-equipped Gymnasium, a learner's swimming pool, a theatre and the children's Nurseries; on the first floor a large Cafeteria and Hall to the right of which is the Centre's proudest possession—a gleaming swimming pool which is clearly visible through the glass partition that divides it from the Cafeteria; and on the top floor away from the bustle of the lower floors is the medical block, work room, and a well stocked library and Reading room. None of these activities, except what goes on in the Medical section, is private; the glass wall make them clearly visible to anyone in any part of the building. This not only enables parents to watch their children exercising, or swimming or playing while having a cup of tea in the Cafeteria; but the continuous sight of the building humming with activity is a challange and a stimulus to the mere observer to shed his shyness or unsociableness and to join in the fun. Furniture is light and easily movable, and this contributes much to the fluidity of activity in the Centre, and to the dynamic, ever changing character of its life.

The Peckham Health Centre was built and planned to accomodate 2000 workers-families; its membership is constantly fluctuating but remains stable around the 1000 mark. The present building was built mainly through voluntary subscriptions, and its modest membership fee of one shilling per week per family (earning members pay an extra shilling each), and the small charge for participation in the various activities just about enables it to pay its way. Lack of funds have considerably retarded the progress of the experiment and the fulfilment of all the dreams of its founders, still much has been achieved and there is no doubt as to the success of the experiment as a whole.

A day, or even a few hours spent at the Centre is a fascinating experience. Life begins at about 2 p. m. when the Centre opens its inviting and hospitable doors to the long queve of mothers with their prams who are patiently awaiting its opening. They wheel their prams into the building, park them, deposit their precious freight in the skilled hands of the Nursery attendants, and then seek the sewing or knitting rooms, or go upstairs for a consultation with the Doctors. All is quiet and peaceful till 3 p. m. when the first of the liberated school children begin to arrive. They come in a steady stream till four and soon the whole building—the swimming pool, the gymnasium, the skating rink etc. are alive with their happy cries and enjoyable activity. At about 6 p. m. the mothers set out for home with their babies to prepare Supper, and their place is taken by the fathers who keep their young children company in the swimming pool or the billiard tables. At Supper time there is a temporary lull in the activities of the Centre, but life begins again about 7-30 p. m. when the working boys and girls, young men and young women, the former very conscious and proud of their newly granted freedom to stay out late, begin to drop in and soon they are joined in dancing, dramatics, swimmings and indoor badminton and other fun and games by their parents, after they have finished supper and put the "little uns" to bed. From 8-30 to 10 30 p. m. the crescendo of the day's activity mounts to its apex and the building pulsates with the rich and varied activities of from 500-1000 people of all ages from 14 to 90. At 10.30 on ordinary days, the happy family groups leave and another crowded day in life of the Centre comes to an enjoyable end,

This sketchy account of a typical day in the life of the Peckham Health Centre may give the impression that the Centre is just a social club, under a new name, with some original features. This would be a misconception. The Centre is primarily as a Research laboratory, designed to study the conditions of healthy family life, and experiment and observation of the multifarious activities that go on under its roof by skilled Doctors, Social Workers and Psychologists, who, because of the transparent walls, can observe freely without anyone being conscious he or she is under observation, remain the keynotes of its work and its raison d'etre. On the positive side the Doctors wish to make use of the knowledge they acquire to help the member families as units, and the individuals who compose them, to an all round development of mind and body in a carefully planned environment. The chief stress remains on the promotion of physical and mental health. Hence there is a thorough medical examination of all the members of the family on entry, and a complete overhaul once a year. The results of these examinations are laid before the family members at a special consultation between the Doctors and the family as a whole and, they are given advice as to the remedying of their defects and deficiencies. But the responsibility for their own health is placed entirely on their shoulders, for they need not accept the advice given them. Finally skilled medical advice and help is readily available to the member families at all times but especially at critical periods in family history—before conception, during pregnancy, which at the Centre is treated not as an illness but as a part of normal and healthy family life and pregnant mothers are encouraged not to give up sharing in the life of the Centre, during the childhood of the new born babe and at any other time it is required. While every member of the family is equally well cared for by the Centre, its Directors tend to concentrate on the mothers for they realize that "if you educate the mother, you educate the family."

The Peckham Centre is thus a Family Club in the real sense of the term, and a Health Centre, and a biological and sociological laboratory. But it is much more than the sum of these three vital aspects of its life and activity ; to quote its founder "it is a locus in Society from which the cultivation of the family—the living cell or unit in Society—can proceed and from which the family sustained in its own growth and development, can spontaneously evolve as part of a larger whole—a living and organised Society." It is this welcome emphasis on the family, in an age which is tending to atomise Society and to undermine the foundations of that healthy family life which is an essential pre-condition for the development of a healthy society, that makes the Peckham Experiment one of the most significant, impressive, and important socio-biological experiments of our time; an experiment whose vital findings should provide instruction, guidance and inspiration to social scientists all over the world.

Item Relationship and Redundance

M. Varma,
Principal, University Training College, Nagpur.

Items in tests are generally weighted for scoring on the all—or—none principle, the 'all' generally taken as unity. In the keying of response complete rejection and acceptance produces a parallel position and divides the group into failures and passes. Each item thus produces a split in the sample which can be represented as fractions of unity yielding

$$p=\frac{R}{T} \quad \text{and} \quad q=1-p,$$

where R = Rights and T = the total number of responses. The problem of not-reached items is regarded as barred in the ensuing discussion. Let us represent in the figure below the entries involved in a situation where an item x is correlated with another item y.

		Item x		
		Pass	Fail	
Item y	Pass	A	B	p
	Fail	C	D	q
		p'	q'	1

Cell-Entries

L. J. Cronbach[1] has pointed out that the concentration of entries in cells A, D produces maximum inter-item redundancy, which is defined as repetition of "information" already successfully communicated. The correlation between items in this case will be perfect and positive but the two items will discriminate within the group so identically that each will merely be a shadow of the other and therefore completely redundant in discrimination. It will be instructive at this stage to review all possible forms of entries in the four cells A, B, C and D. If proportions adding up to 1 as a total enter any two and only two of the four cells the following combinations will be available with the results indicated against each so far as the discriminatory function of the items is concerned:

Cell Combination.	Result.
AD	Maximum Redundancy.
BC	Inverse relation making one of the two items unacceptable.
CD BD	The all-fail item in this form of entry is dead for the purpose of discrimination, the other remains functional.
AB AC	Where the all-pass item is similarly dead and the other is functional.

If we allow values to enter any three cells the following results are obtained :

ABD ACD	Shows a certain amount of overlap (correlation) with redundancy in A and D but discrimination as to difficulty in B and C values.
BCD ABC	Shows inverse relation by force of entries in B and C with useless overlap in A and D, a situation like BC entries above calling for the rejection of one of the two items.

It may be pointed out that discrimination in this context of inter-item relationships does not carry the same meaning as is normally associated with tables of discrimination indices in item-analysis. The item here does not discriminate between the high and low scoring groups continuous or dichotomized, but it does discriminate among levels of ability by failing those who have passed the other item, which is the business of values entering in cells B and C.

It would seem from the above survey of possibilities (barring, for facility of rational consideration of the problem, the usual four-fold entries), that items which avoid both rejection (by reason of inverse relation) and redundancy must show, (1) a homogeneity of content or function and (2) a difference in difficulty. It will be obvious that homogeneity can after a point prey on discrimination and vice versa. We could conceive then of a *balanced item* as one which shows a positive correlation between itself and another but differs from it in difficulty by reason of a value in either of the "unlike result" cells, viz. B and C.

A Criterion

$\frac{a+d}{a-d}$ is a value that should increase if entries are large and *balanced* in cells a and d (expressed here in small letters for ease of manipulation) and this is calculated to produce a good correlation between items. This is a desirable condition. Next we need a large difference in cell entries b and c, the "unlike result" cells, for to fill both is to reduce the correlation, though entry in one is necessary to produce discrimination in difficulty of items. $\frac{b+c}{b-c}$. must therefore *decrease* when entries in those cells meet our requirement. This is a second desiderate of our criterion. Thirdly the mutual relation of the values in a, d and b, c is important since values could get concentrated in peculiar ways along diagonal cells either way without affecting the demonstrators. Our desired entries must fill cells a b d or a c d. We may decide that discrimination needs to be considered equally with correlation in which case we may require $2c$ or $2b=a+d$. In the ideal situation either b or c will show a high entry, the other cell will have any small value higher than O to avoid stultification of the correlation formula, When it is realized that entry in either b or c stands for discrimination as to difficulty and cells a and d represent the correlation between items, it will be found possible to lay down a requirement which allocates arbitrary weights to those two properties of relationship among items. If we are content to divide up the frequencies equally among cells a b d or a c d we shall be allowing 2/3 of cases to contribute towards correlation and 1/3 to produce differences as to difficulty. In this case $2(b+c)=a+d$, with the expectation that either b or c is a nominal value. From this arbitrary laying down of condition a formula has been developed below.

We note that $b+c/b-c$, where $b>c$ will approach unity under the condition laid down above.

Similarly $a+d/a-d$, where $a>d$ will approach $a+d$. $\frac{a+b}{b-c} \Big/ \frac{a+d}{a-d}$ will therefore tend to $\frac{1}{a+d}$. But $2(b+c)$ approaches under the required condition $a+d$. Therefore $\frac{1}{a+d} \cdot 2(b+c)$ approaches unity under our requirement.

Substituting we get, $\frac{b+c}{b-c} \Big/ \frac{a+d}{a-d} \cdot 2(b+c)$.

Simplifying we may write

$$j = \frac{2(a-d)\ (b+c)^2}{(a+d)\ (b-c)}$$

As *j* for any four fold contingency table approaches unity we are approaching our required cell values.

If we now plump down for cell entries of the type a b d and a c d with equal values in the three cells and nominal value in the remaining it is impossible to obtain an even split of $p = \cdot 5$ and $q = \cdot 5$ on any item on account of the tilting effect of the b or c entry. Should we in search of an even split fill up b and c equally then instead of introducing discrimination, we shall have introduced merely a confounding factor, because "unlike result" cell entries when balanced lower correlation and produce basic inconsistency in items. To avoid what Cronbach calls redundancy we therefore must accept reduced *phi* values, since its maximum value is dependent on even split which we renounce in filling up b or c cell.

Redundancy

It is then clear that redundancy can be avoided only at the cost of the *phi* value between items. The position with the tetrachoric[2] is slightly different The exact formula leads to an approximation by dropping terms convergent towards zero. This formula employs Z in a fraction the second term onwards. Since Z has a O value at ·5 split on an item, such a situation reduces the formula to an absurdity if we decide to ignore cubic and successive terms. The Cosine – *pi* formula gives a quicker approximation but cannot tolerate a zero entry in any of the cells. Cronbach however suggests that items may be differently split while a perfect tetrachoric is maintained and the *phi* allowed to fall. This necessitates cell entries of the design a b d or a c d which contribute both to the inter-item correlation and differentiation as to difficulty.

First as to the claim of homogeneity even when items are separated widely as to difficulty. It has been suggested that the factor of difficulty is an artifact.[3] Actually in varying *difficulty* through the items we are adding a real variable to the test task. It is this variable that "powers" an otherwise flat test at a given stratum of ability. The existence of this variate inside a test reduces inter-item correlations and implies entries in b or c type of cells. In the limiting case when a very difficult item is matched by a very easy one frequencies may enter only one of these two cells. There is therefore "content homogeneity" but not "power homogeneity." Whether differences in power may be regarded as differences only in degree or also of quality is a much wider question, with which this paper is not concerned.

Next as to the view that items splitting at different p's introduce more man-to-man comparisons than those splitting at the same point. This again necessitates the a b d or a c d types of cell entry. This statement should be qualified for really speaking the greatest number of discriminations are made by item splitting at ·5 only. However if the correlation between items is perfect these discriminations or comparisons between pairs of persons will be merely repeated and complete redundance will result. With splits at other points *newer* comparisons are made and it is these that are needed. The following table gives some idea of these facts.

p	·50	·55	·60	·65	·70	·75	·80	·85	·90	·95
Comparisons repeated.	2500	2250	2000	1750	1500	1250	1000	750	500	250
New comparisons	0	225	400	525	600	625	600	525	400	225
Total comparisons	2500	2475	2400	2275	2100	1875	1600	1275	900	475

N=100

It will be thus seen that whereas the maximum number of comparisons are made at $p = \cdot 50$, the maxima of *new* comparisons occur at $p = \cdot 25$ and $\cdot 75$. If all possible comparisons are our objective then of course we cannot be content with $p = \cdot 25$ and $\cdot 75$ must include the *other* though fewer *new* comparisons that occur when $p < \cdot 25$ and $p > \cdot 75$.

Recommendation

A test is a continuous series of items which are required to show specific relationships in different ranges along the length of the test. Below are indicated the types of concentration of frequencies among inter-item contingency tables expected in different ranges of the test.

Type of entry	Features
Single cell	
b or c	May be allowed to occur between items at the beginning and item at the end of test; implies all failing on one item but passing the other.
Double cell	
ab	Highest redundancy but close agreement; might characterize the items in the middle range of the test.
bc	Indicates the need to delete one of the two items (judgement not being based on a single comparison of only two items).
bd cd	All fail item dead the other functional; might characterize the end or "buffer" items and middle range items relationship.

ab ac	Reverse of above; might characterize the relationship between early and middle range items.

Triple cell

a b d a c d	Indicate overlap with redundancy in a and d but discrimination as to difficulty in b and c which would be true of separated items in the middle range,

From the foregoing review of possibilities and facts, it can be seen that inter relationships of items can justifiably vary from part to part in the range of items in a power test A set of criteria will therefore have to be devised on the lines of the formula developed above. Most tests do not use inter-item relationship criteria which can be a source of greater perfection specially when a test has been accepted for continuous use for some length of time.

References :

1. Cronbach, L. J, : Coefficient of Alpha and the Internal Structure of Tests, Psychometrika 16 (297-334).
2. Guilford, J. P. : Fundamental Statistics in Psychology and Education, 1950.
3. Ferguson, G. : The Factorial Interpretation of Test Difficulty, Psychometrika 5 (305-310).

15

PSYCHOLOGY IN SERVICE SELECTION

II. Civil Services

Dr. A. R. Pachauri

SERVICE SELECTION FOR CIVIL EMPLOY.

In the previous article published in Shiksha (pages 75-79 April 1964 Issue) the general developments in the science and art of selection of Military personnel were stated, an attempt is now made to extend and discuss these principles of services selection for categories of Civil Employ.

After taking note of the progress made and examining the process for services selection during the war in order to meet the requirements in respect of the Military and allied Services personnel, it may now be asked if the process can be applied during peace time in respect of civil and technical services—in fact all services. It may be argued that Army driving in war is not the same thing as civilian driving in peace *e. g.* to cross a stream in the dark with a tank under shell fire is very different from crossing Chandini Chowk in day-light with a policeman to hold up the traffic. Therefore no elaborate tests may be required for civilian purposes. It may be emphasised here that the basic qualities of aptitude that go to make a good civilian driver are good enough for Army driving with a few additional but essential traits.

In fact, it is now firmly established that Psychological tests and other selection procedures can usefully discriminate individual aptitudes and predict suitability for various occupations in peace time. The cognate applications of Psychology to service problems are mere extensions of techniques of matching the man to the job which are very largely accepted in other fields; the same applies to the activities which may be described as matching the job to the man. The Service Psychology though born of Vocational guidance principles itself gave an impetus to formulation of selection criteria and perfection of the technique with due regard for economy of time and handling an ever increasing number for the purpose. Besides, the intake of the Military personnel was so varied as to cover almost the entire field of civil occupations *i. e.* from the mere errand boy to the highest skilled man in Music, Engineering, Medicine, Trade etc, The knowledge and experience gained can very well be used to advantage for civilian requirements.

(i) Role of Interview

The science and art of interviewing which plays an important role in selection work is a fascinating subject. There are certain fundamental rules which apply to ensure reasonably fair judgments. The interviewer must follow a flexible but nevertheless definite plan. While he has to be careful and guard against his own unfounded likes and prejudices, he must be sensitive to the various indications of nervousness, confidence, evasion, bluff, hostility and sincerity, and above all he must have the utmost patience. An average interview should take half an hour at the most. This is a very meagre allowance and the interviewer's task would be impossible were it not that he has before him the candidate's scores in a series of tests, together with a questionnaire in reply to which the candidate has given information on his educational and occupational back-ground, his spare time interests and his experience of group-activities and leadership. With this his grand aim is, of course, to understand thoroughly the man he is interviewing to get under his skin and know what he could, and probably would, do in any given circumstances. Some of the considerations common to all selection work are given hereafter.

(ii) Acceptability

In interviewing a candidate it is important to consider the question of his acceptability to the people with or under whom he will work or whom he will direct. For some services team-work is usually imperative, it may therefore be of great importance to verify that the candidate is likely to be quickly acceptable to a normal, fairly conventional and masculine group This is universally admitted in the case of executive jobs, Police etc. and frequently in the case of the Engineer. At the mechanical level too, the individual is likely to succeed or fail in training or on the job in so far as he is or is not personally acceptable to his instructors, officers or companions. The interviewer, having no opportunity of experiment, will ask himself what sort of a first impression the candidate is likely to make in the group situation where his assignment would take him or in the field of work that lies before him and also if he has a measure of the athletic and social accomplishments expected of him. It is also to be noted if he has in fact had any experience in team work (not necessarily in games alone) or similar collaboration, whether he is free from annoying characteristics such as over-studiousness and marked eccentricity in his outlook and self expression. Does he usually like the company of his fellow men ? Does his record and his own account show that his fellowmen seem to seek his company to a normal degree and does he establish 'contact' with his interlocutor without difficulty ?

(iii) Effective Intelligence

Another heading under which information about a candidate may be usefully summed up is effective intelligence which does not mean the score in the intelligence ' test which the candidate takes. What is aimed at is a comparative and qualitative estimate of the candidate's effective intellectual powers which no doubt themselves depend on his innate intellectual endowment tested already. It is obvious that an interview in which the replies are spontaneous and in which the subject matter is real and relevant for the candidate and his circumstances can be made to yield information about the candidate's intelligence which will supplement appreciably the data from tests. This is especially necessary when the job in prospect is a high grade one demanding for instance administrative foresight and planning or formulation of policies in general terms. The candidate's record of achievement in its range and quality and his intelligence test score are, of course, immediate pointers to a zone within which his effective intelligence assessment may be expected to lie. In this connection the relevant querry to himself by the interviewer will be: 'Does the candidate take the interview at a smart pace consistent with his intelligence test score or does he tend to drag ? Can he handle several ideas, or a theme with several important qualifications in a single lucid statement ? Can he handle a hypothetical situation when it is presented to him ? Does he develope the conversation appreciably or do I have to do all the work ? How stable and confident is he intellectually ? From what level or standard is he viewing things educationally, occupationally and socially ? Does he seem to apply his knowledge easily and aptly and show complete mastery or is it that on technical matters he is essentially confined to reproductions of what his text books tell him ? These querries will help to differentiate between several high grade candidates and provide useful data additional to that afforded by test scores. How often do we find a stereotyped interviewer and candidate sinking together in a dull morass as the questions are asked in seriatim. Were you at Dehradun (or whatever school is already noted on the questionnaire) ? Are you interested in wireless ? Do you like responsibility ? The reply to each being 'yes'.

(iv) Interest

Another heading to be profitably used is interests or more specifically how do his interests accord with the proposed employment. By interests is meant anything including work, to which time or effort is devoted because it is liked. Obviously, a wide field of interests deeply and effectively pursued may be taken as prima facie evidence of a vital and energetic personality. One must always probe at least one or two of the interests professed. For example if a candidate says he is a great reader he can be asked what books he has read recently. It is amazing how some of them call any reading matter which is not a newspaper a book, while the more cultured distinguish correctly and betray higher taste. Some interests to be plumbed require a knowing interviewer, but a resourceful one may always check without having to accept meekly the statement made by a candidate. For example the one who professes swimming as his pastime, should have to face questions like these. 'How far can you swim and with what stroke ? Do you know the country's record for that distance and stroke and your own time ? Do you dive ? Do you do a crawl ? Do you know the standard varieties of a crawl ? And so on.

(v) Technical Prowess

Besides the sense of competitiveness, energetic nature, motivation, and persistence qualities of character of the candidate it is important to assess the technical prowess of the candidate. There are obvious objections to the psychologist attempting to become an arbiter of technical prowess specifically. Experience shows that lack of technical insight, resource, ingenuity, every day knowledge or enthusiasm—in fact, the lack of technical merit which a candidate can still show after obtaining a respectable academic qualification is amazing. Apart from technical interrogation, the Psychologist plays the role of an expert on future educability. He can not do justice unless he knows accurately the extent and colour of the candidate's present achievement and his relations with the technical field. He will try to gauge the candidate's resource, adaptability, versatility, insight into his subject, and the use to which he can put his knowledge. One may therefore ask questions which put the candidate in a quasireal professional situation and require him to rearrange and use his text-book knowledge in order to cope effectively *e. g.* 'Suppose you were an Engineer in an electrical power company which was obliged to discontinue the use of copper cables for its high voltage lines, what factors would probably determine your choice of an alternative material ?'

Conclusion

The intelligence and Psychological tests disclose fundamental capacity rather than the products of experience, educational circumstances and specialised application. Character and personality are tested by assessment of past performance and record as disclosed in the questionnaires and interviews. Above all, an individual (in the final stages of selection) has to be considered as a whole and usually he must be considered by comparing him with his rival for acceptance. It is unpsychological to divide a man up into little bits each to be pronounced upon in isolation and considered merely as a conglomaration of test scores. It will be seen that methods described above and mainly applied to the problem of selecting service personnel are and have been proved capable of wider application. Equal opportunity for equal capability should be an important goal of an improved democratic social organisation in which reliable and fair methods of assessing individual capacity, character and special aptitude will be demanded.

Current Practices in the use of Excursions as a part of the General Science programme in Junior High Schools.

[PART I]*

[The Director, Govt. Central Pedagogical Institute, Allahabad.]

This study was undertaken to ascertain the present position of the use of Excursions in teaching General Science in Junior High Schools of the State. The problem is of special interest because it is felt that the importance of this activity in the education of the child in scientific method and in the acquisition of scientific facts and principles has not received the recognition it deserved, even though it has been applied with success in different countries. An effort has therefore been made to collect sufficient information with the help of two sets of questionnaires, one for teachers and the other for students.

Form I of the Questionnaire was sent to the teachers who were actually teaching science to Junior High School classes both in Junior High School and Higher Secondary Schools of the State. Form II is meant to be answered only by the students of Junior High School classes. The object of these questionnires was to collect information about the qualifications, training, special interests and difficulties of Science teachers and also to discover special interests and aptitudes of students in out-door study through properly organised Field-trips.

---

* The Investigation has been divided into two parts, Part I deals with teacher's opinions and Part II Pupils' Interests in Excursions. Part II is still under investigation.

History :

Both Rosseau and Pestalozzi advocated a learning process which begins with observation and then passes through consciousness to speech. During the 19th century Field-trips became a common teaching device in Switzerland, France, Germany, U. S. A. etc. Jean Louis Agarsis professor of Natural History to the university of Neuchatal, advocated the importance of Field study as early as 1832. His favourite expressions were, "If you study Nature in books, when you go out-of-doors you cannot find her." "It's not text-books we want, but students." "The book of Nature is always open," and "Strive to interpret what really exists." Francis Parker also had a firm faith in the Fieldtrip technique. By the early part of the present century Field-trips were recognized in England as an official teaching device. In our State as well the principle of teaching Science in the Natural environment of the child has been accepted.

Procedure :—

In order to collect necessary information on the topic a few objectives were first defined and a questionnaire to elicit suitable information was prepared and circulated amongst science teachers. In order to obtain a representative sample of teacher's opinions it was considered desirable to send seven copies of the questionnaire to each of the 51 Districts to be distributed by the D. I. O. S's. Out of the 357 copies sent to different institutions 242 (188 from H. S. S. and 54 from J. H. S.) were received *i. e.* about 67·7% of the questionnaires sent were answered by Science teachers in the State.

Analysis of the data:—

In order to study the answers received in some detail it was considered desirable to classify them into the following sub-heads :—

Teacher's qualifications and training; Laboratory facilities; Nature of visual aids employed in teaching Science; Number of Excursions actually arranged by those who answered the questionnaire; Suggested number of Excursions for an academic year; Importance of teacher's planning; Difficulties in organising Excursions - parental cooperation time available, raising of funds; successful organization—previous planning, pupil's preparation and equipment, importance of a Follow-up programme; Facilities for collection and Museum activities; Development of social attitudes and the values of Excursions, etc.

Qualifications and teaching experience of teachers :—

It will be interesting to note that a large percentage of teachers both in Higher Secondary and in Junior High Schools are untrained. Cases are not wanting where science teaching has been entrusted to purely Arts graduates or undergraduates who naturally have little knowledge and interest in the subject. About 33·4% of teachers in Higher Secondary School and 74% in Junior High Schools have read Science only upto the High School classes. In a few places teaching of Science is conducted by those who have read science in Junior High Schools or in training institutions alone.

Table I indicates the teaching experience of those who have answered the questionnaire.

TABLE I (Teaching Experience)

Experience of teaching Science	Higher Secondary Schools		Junior High Schools	
	Total	%	Total	%
Less than 5 years	90	47.7	45	81
Five or More years	64	33.9	7	12.6
15—20 years	13	7	1	1.8
More than 20 years	20	10.6	—	—

It will be seen from the above table that a large majority of Science teachers have less than 5 years teaching experience.

Laboratory facilities :—

The fact that 52.2% of the Junior High Schools and even 15% of the Higher Secondary Schools have no laboratory facilities for teaching Science is indicative of the causes for the failure in imparting successful science teaching in Junior classes.

That 44% of the teachers think that the Laboratories are mostly ill-equipped and as such cannot be considered as self sufficient for teaching science is a positive proof in support of the general feeling that science teachers often fail to utilize the environment of the child for successful science lessons. That over 43% of the science teachers made no attempt to obtain suitable aids from sources other than the laboratories even when they considered their laboratory equipment insufficient, indicates very clearly that the teachers do not feel the responsibility for improvising better ways and material for giving Science lessons.

Visual Aids and their respective values :—

Table II gives the respective importance of the various types of aids generally employed in Science lessons :

TABLE II (Aids in teaching Science)

Nature of Aid Considered most effective	Higher Secondary Schools		Junior High Schools	
	Total	%	Total	%
Objects	60	32	22	39 6
Models and pictures etc	9	5	1	1·8
Excursions	118	63	34	61·2

From Table II it will be noted that 63% of the teachers in the Higher Secondary Schools and 61°/。 in Junior High Schools consider Excursions as the best means of providing visual education to the child. Still it will be seen from the answers received that a very large majority of teachers have failed to utilize them for effective teaching in actual class work.

Nnmber of Excursions Organised :—

Table III gives the number of Excursions organised by teachers teaching Science to Junior High School classes.

TABLE III (Number of Excursions arranged during an academic year.)

Number of Excursions during a Session	Higher Secondary Schools		Junior High Schools	
	Total	%	Total	%
Nil	88	44 6	21	38
One	23	12·1	7	12·6
Two	32	16·9	6	10 8
Three	16	8·4	10	18·
Four or More	15	8	7	12·6

Lack of experience in organising Excursions was responsible for the generally poor response to the items in the questionnaire. More than 55% of the teachers in Higher Secondary schools failed to give a satisfactory list of places visited by their students. Even those who attempted to give a list of places visited gave a very unsatisfactory account. Their lists were either incomplete or vague, and indicated no distinction in the nature and purpose of Excursions for the three classes of Junior High School sections.

Suggestions about the number of Excursions during an academic year :—

Table IV gives the number of Excursions which can be organised during an academic year.

TABLE IV (Teachers recommendations about the number of Excursions to be arranged during a year)

Suggested number of Excursions	Higher Secondary Schools		Junior High Schools	
	Total	°/。	Total	°/。
One	13	6·89	1	1·8
Two	65	34·43	7	12·6
Three	44	23·32	13	23·4
Four	30	15·9	11	19·8
Five	3	1·59	9	16·2
Six	8	4·24	—	—
More than Six.	15	7·95	6	10·8

Table IV indicates clearly that the teachers have given their suggestions without sufficient thinking. It appears that they have not been able to appreciate the need of organising these in coordination with the syllybus and the seasonal variations. This may be due to the lack of training of most of the Science teachers.

Teacher's plan for places to be visited :—

Study of the responses to the enquiry No. 17 demanding suggestions for places to be visited by students of classes vi, vii, viii, for the study of Nature and scientific facts and principles as applied in daily life, revealed lack of adjustment on the part of science teachers. A few places e g. Garden River, Water Works, Railway Station, Power House, etc., have no doubt been suggested but quite regardless of the needs of different classes and the syllabuses prescribed for them. Such Excursions except for improving the general knowledge and providing some recreation can have little educative value and can hardly serve as an effective means for imparting scientific knowledge to the child.

Difficulties in organising Excussions :—

Teachers have often experienced difficulties in arranging Excursions for science teaching. The following are some of the reasons mentioned by them.

(i) Lack of Parensal Cooperation :—

Over 72°/₀ of the teachers in Junior High Schools and 45% in Higher Secondary Schools failed to secure any Cooperation from parents and often had to face opposition from them in organising Excursions on holidays or after School working hours. This should, however, not discourage Science teachers as the active support of parents may be possible through personal contacts and by making them interested in the value of such activities. It is really sad that some teachers have complained about the lack of support they receive from heads of institutions and even students. Sincere and energetic teachers can certainly eliminate these by making these activities an integral part of Science teaching.

(ii) Insufficient time :—

Often the activity could not be arranged owing to inssufficient time provided for Science teaching, and as many as 78°/₀ of the teachers have complained about it. According to them time for such activities should be provided in the regular time table. This seems quite reasonable but the teachers should not forget that much of the out-door activity can be arranged even in a school period of 40 to 45 minutes Teachers of science should never fail to utilize all possible opportunities when they feel that the lesson can be arranged outside the class in the school Garden or in a neighbouring field. Long distance Excursions are no doubt possible only on some holiday and teachers should make every effort to organise them at regular intervals with the permission of the head of the Institution.

(iii) Lack of Vunds availabte for Excnrsions :—

Another hurdle is that of funds. Useful suggestions have been received from the teachers and they should certainly help heads of Institutions in order to procure sufficient money to enable them to help the science teachers in utilizing Excursions for effective science teaching. Table V indicates the various sources for making funds available.

TABLE V (Suggested sources for collecting funds for Excursions)

Sources for Funds.	Higher Secondary Schools		Junior High Schools	
	Total	%	Total	%
State or School	95	50·35	22	29·6
Student's Contribution	48	25·44	7	12·6
Science Fee	30	15·9	10	18
Games Fund	11	5·8	7	12·6
Parent's Contribution	32	16·8	13	23·4
Student's labour	7	3·7	10	18

It will be seen from Table V that funds should be made available either by the State or School authorities and can certainly be substantiated by students' contribution through manual labour or other activities. The fact that over 60°/₀ of the teachers feel that Excursions should be arranged even when no funds are available is indicative of the fact that money of them are quite conscious of its importance but have failed probably due to little support from other sources. It is no doubt quite true that Excursions to Local places can be arranged even without sufficient funds, but they will certainly be successful only when the teachers inspire love for such activities and utilize them to the best advantage of the child.

Organisation of Excursions :—

In case Excursions are to be effective means of training the child in the scientific method, they should be organised on systematic lines. The following are a few suggestions which have been received from teachers already teaching science in schools.

(*i*) *Well thougbt-out plan* :—

73°/₀ of the responses received indicate that a well thought-out plan is always necessary. No doubt much of the success of an excursion depends on the effect it can produce on young minds. This suggests that they should be properly coordinated with the syllabus prescribed and arranged according to the time available. Excursions to a place should be arranged at a time when a particular fact or principle can be demonstrated at its very best. Excursions merely for recreation or amusement have absolutely no place in science teaching and should be avoided.

(*ii*) *Follow-up programme* :—

As many as 69°/₀ of responses indicate that the study can be completed on the spot. Thus, they have not realized the importance of a follow-up programme. It is therefore essential that the teachers should be made conscious of its values. Follow-up exercises should be planned with care by science teachers so as to enable the students to apply the knowledge gained during Excursions in making independent study and investigation.

Excursions often fail because teachers fail to supervise the activities of children on the spot. This may possibly be due to a large group of students under their care. Views are, however, divided on the question of allowing all the students of the class to move-out in one group or to move in batches. But it seems quite reasonable that the class should be divided into groups of 20 students only. The problem of discipline and occupation for the rest of the class is not difficult as students can be allowed to work under the charge of a group leader and can be asked to prepare simple scientific apparatus, models or charts. The Art and Craft teacher can supervise and render help where necessary. In small classes with 30 or 33 students the whole class my be taken out on the Field-trip. Science teachers should seek the cooperation of other science teachers, if they are available or Agriculture or Geography teachers through the head of the Institution. Effective Excursions can also be organised under the supervision of Science Master's Associations'if they exist or they can be formed in localities where there is more than one Institution. Such Association should be encouraged where ever possible.

Teachers feel doubtful of Public cooperation and often hesitate to seek it, still 55°/₀ of teachers feel that public should be made interested in the education of their children and should certainly be approached for as little of help as they may like to offer. In this way slowly the public will be brought closer to the school.

(*iii*) *Pupils' preparation and equipment* :—

The preparation and equipment of the students is as important as the planning by the teachers, who should give due attention to the existing knowledge of the students before taking them out on Excursions. A long list of equipment has been suggested by the science teachers but a careful scrutiny reveals that the lack of experience of the teachers was responsible for the type of things suggested. They include microscope, barometer, black-board and chalk, pictures etc., which are quite unnecessary for students at this stage. Teachers should be quite clear about the things they want their students to have with them at the time of Excursions. Things like, a note-book, pen or pencil, a filed knife, magnifying glass, collecting stick or a net, duster, a small bag or a Vasculum with a few preservatives e.g, formalene or rectified spirit etc. should be considered as sufficient for trips to neighbouring places. In case boys have to go out of station they may have a few clothes and bedding etc.

(*iv*) *Develop Social Attitudes* :—

Apart from its purely educative value, this exercise provides opportunities for more intimate contacts between the teacher and the taught and thus helps in establishing cordial relations. The child begins to adjust himself in the society in which he lives. Training in democratic methods also is possible because the child begins to learn the sacrifice of individual interests for the good of the society or the group to which he belongs.

(*v*) *Utilize child's instincts of curiosity and collection in building Science Museum* :—

Science teachers, have often failed to utilize these Excursions for the enrichment of the School Science Museum, as a few have realized the importance of the exercise as an opportunity for the free display of the child's instinct for collection. Only 9°/。 of teachers in Junior High Schools and 40°/。 in Higher Secondary Schools have indicated that a good Science Museum could be arranged from the collections of children during Excursions. Children have instinctive love for collection. This should always be utilized by science teachers and all children during Excursions should be encouraged to collect and preserve their specimens so that they may be kept in the School Museum for future reference both by the teachers and the students. This not only enriches the School Musuem but also provides material for the independent study of the children.

The replies to our enquiry about the nature of training in collection and preservation which should be given to young children have been very discouraging due probably to their own ignorance about simple and satisfactory methods. It is not difficult, and one needs little training as most of the articles can be preserved in a 4 per cent solution of formalene and in ordinary spirit. A few common objects can be protected from moths and insects etc.. by merely Sulphur dusting or with the help of naphthelene balls or powder. In order to train pupils in the use of above mentioned substances, teachers should demonstrate the methods by rendering help in the preservation of objects collected by them during Excursions.

Teachers' views on the Values of Exeursions :—

The questionnaire has also provided a means to ascertain the views of teachers about the values of Excursions and on the basis of the replies they may be summarised as follows :—

1. Excursions provide opportunity for the study of Nature in its natural setting, enabeling the child to study reality in real situations.

2. They help in the development of the habit of accurate observation.

3. They control the imagination of the child and thus train him for scientific thinking and reasoning.

4. They provide occasion for collecting first—hand knowledge through the use of practically all the organs of sensations.

5. They afford opportunity to verify scientific ideas and facts heard or read in books.

6. They give satisfaction to the childs' instincts of curiosity and collection and thus help in building a good Science Museum.

7. They provide opportunity for self study and investigation which develops self-reliance in the child.

8. They make the child appreciate the beauties of Nature and also the utilization of science in the service of man.

9. They provide occasion for a change of occupation which makes the study interesting for the child.

10. They develop in young children self-discipline and a true social attitude through cooperative life.

The list above gives almost all the values from Excursions.

Summary :—

The present investigation reveals that most of our science teachers are not suitably qualified and the laboratories are often ill-equipped. Excursions can be useful when our science teachers are properly trained and the schools make provision for properly equipped laboratories. With the introduction of community work in the training Institutions, the work of the supervisors has become easier as they can now utilize community work-trips in providing training for organisation of successful science Excursions as well, thus coordinating the curricular with the extra-curricular work of the trained teachers.

Teachers often experience difficulties in securing the cooperation of parents and complain of lack of sufficient time and money for organising these activities in actual practice. To be effective Excursions should be properly coordinated with the prescribed syllabus. Time for such activities should be provided in the regular time-table or atleast a reference should be made in it. They should be included in the regular curricular work of science teaching and arranged at regular intervals throughout the teaching period both on working days as well as on holidays

Excursions should not be postponed due to non-availability of funds. In case long distance Excursions are not possible, Excursions to local places should be arranged. The problem of collection of funds is not very difficult and apart from State or School funds the head of an institution can raise money from the sale of the produce of students or from dramatic performances, etc.

Excursions are the best means of providing opportunity to young children to collect first hand information and also to study Nature in its natural setting. They help in developing true social attitudes and above all provide opportunities for the free play of instincts of curiosity and collection, an activity which helps in building good Science Museum.

Much of the success of the activity depends on proper planning, sincerity and love for Nature on the part of the teacher, who has to inspire love in young children, and guide them to learn science through accurate observation and self study. Students often make discoveries when they develop self-reliance and get opportunity to apply their knowledge to new situations. Well organised Excursions train the child in the scientific method of thinking and reasoning and thus develop a true scientific spirit in them.

EXTENSION EDUCATION

(A record of personal observation)

Raj Narain

(In April-July 1953 and Janury 1954 issues of *Shiksha*, the author described several aspects of the Cooperative Extension Service of the United States of America. The description was based upon a three-week observation of its working, with headquarters at the State Colleges of Agriculture and Home Economics at Cornell University, Ithaca, N. Y. In the lines that follow, other aspects of the Service are described; and the entire record of observations concluded with a statement of the reasons for the excellence of the Service as an agency of Adult Education.)

Veterans' Program

As the Second World War came to a close, the problem of rehabilitating rural veterans arose, The Agriculture Experiment Station at Cornell University attacked the problem by making an intensive study of eight hundred records and work experiences of soldiers planning to return to rural areas in New York where they had lived, studied and worked before. The results of the study were published as a bulletin, which proved a real help in making the necessary provisions and adjustments.

Literature

37. Ranney, W. A. Future Farmers in Action *American Agriculturist*, May 3, 1947
38. *Camo Oswegatchie*, the leadership training centre for the New York State Future Farmers of America. (folder)

39. Olney, Roy A. *A report on the state F. F. A. Camp Oswegatchie* (mimeographed)

40. *Program of preparation for prospective teachers in Agricultre* (mimeographed)

41. Hoskins, Edwin R. *Planning programs for veterans in rural areas.* Cornell University Agricultural Experiment Station Bull. 825 Nov. 1945

Education in Agricultural Economics

"Agricultural Economics" is the new term for what was formerly known as Farm Management. Agricultural economics covers a number of subjects : Banking, Marketing, Dairy farm, Farm Labour, Food Information, Milk Marketing, Food Farm Mangaement, Farm Management, and Young Farmers. Extension education is provided in all the branches of agricultural economics. This education has been going on for about twenty five years, and the cumulative effect of the education is that the farmer today is pretty well informed about markets and prices.

The primary function of the Department of Agricultural Economics is to educate the county agents, and through them farmers, about the various aspects of the subject. This the Department does through its regualr program for pre-service training of county agricultural agents. But as prices, market conditons, credit facilities, and banking regulations fluctuate from day to day, and from month to month, it becoomes necessary to refresh through knowledge of the subject at regular and short intervals. For this purpose, the Department resorts to several devices. It holds economic training schools for country agents in six places covering the entire state. The schools last two days and a half, and are addressed by seven different specialists. A one-week Bankers School of Agriculture is another innovation. The School is held in cooperation with State Bankers Association, which welcomes the opportunity; for it means more business for bank if its employees are trained in farm economics and thus are enabled to deal more effectively with farmers. The preparation of suitable printed material is, ofcourse, a regular feature of the Department in its effort to educate in subjectmatter.

Income-tax returns are a regular bother to farmers. They feel baffled by its many enquiries and entries. The incometax form has to be filled in and returned even though the income is below the tax limit. The farmer gets just three months in which to complete and return the form. He usually pesters the county agent. Imagine the worry of the county agent. There are about 150,000 farms in New York State, and all of them have to have their returns in within three months. Education in filling incometax returns therefore is a special need of the Department, which is attempting to make matters as lucid as they can be made out to be.

Education in marketing is another major headache of the Department. All farmers are naturally anxious to have tips and information on how to market their commodities to best advantage. Farm economy depends upon marketing. There is however a long gap between farmer and consumer. The bridging of this gulf is one of the responsibilities of the Department, which encourages cooperative marketing. Besides arranging for market facilities, the Department helps set up standards of quality by consulting state laws, and fomenting clubs. Finally, the Department sponsors marketing tours for farmers during winter.

Literature :

42. Hart, V. B. et al. *Income-tex returns.* Cornell Ext. Bull. 735, Nov. 1947.

43. *Farm Economics.* N. Y. State College of Ag., Ithaca. No. 159 March, 1948.

New York State 4–H Conservation Camp.

The New York State 4–H Conservation Camp was organised to bring home to the rural youth of the State the problem of conservation. For the youth of today is the farmer and citizen of tomorrow, and the ideas implanted in youth will bear fruit in the adult of the future. The Camp was sponsored by Agricultural Extension Service, Cornell University; New York State Farm Bureau Federation; and New York State 4–H Federation. The list of cooperating agencies makes interesting reading. These agencies were :

New York State Conservation Department : Divisions of Fish and Game, Lands & Forest, and Soil Conservation;
Soil Conservation Service, U. S. Department of Agriculture;
New York State Soil Conservation Districts;
Ithaca Gun Company; and
New York State College of Agriculture & Cornell University.

The Camp was held from Agust 22 to 28, 1948 in Arnot Forest under the direction of the Assistant State leader of 4–H Clubs. The work of the camp was divided into three sections : Soil Conservation, Forestry, and Wildlife. A typical program is the following for August 24 :

8–00 a. m.---2–00 p. m.

Group 1. Soil Conservation—What would you do with this farm ? Making a plan for the best land use.

Group 2. Forestry—How do trees grow. Explanation of nature's factory. Using the compass, the chain, and other forestry tools for measurement.

Group 3. Wildlife—Fur bearing animals – how to trap them, skin them, and care for their fur. Wildlife as a crop of the farm. Trap sets. Loyd signs, Supervising Trapper.

2–30 p. m.—3–30 p. m.

All Groups. Reforestation for timber, soil conservation, and game.

3–30 p. m.—5–30 p. m.

Free time activities :

Bait and fly casting, Athletics.

Talks : "Know your grasses"; Trap shooting"

6–00 p. m.—7–00 p. m. Dinner

7–00 p, m.—8–00 p. m. Free time

8–00 p. m.—9–00 p. m. Discussion : "High and Dry"
Movie, "Snow Harvest"

Literature :

44. *Announcement of 1st New York State 4–H Conservation Camp.* (mimeographed)

Education for Homemaking: Organisation & Methods.

Parallel to the organisation for farmers is that for homemakers. The New York State College of Agriculture is matched by the New York State College of Home Economics, the State Leader of County Agricultural Agents by the State Leader of Home Demonstration Agents, the County Agricultural Agent by the Home Demostration Agent, the Farm Bureau by the Home Bureau; the Farm Bureau Federation by the Home Bureau Federation, and soon. Historically education for Homemaking is a later development than that for agriculture.

The Home Bureau Unit is the key to the organisation of education for homemaking. The unit is an organised group of homemakers who are Home Bureau members. The group elects officers and leaders to plan and carry out a home economics program for the women of their community. The officers are: chairman, vice-chairman, secretary, and treasurer. Leaders are selected for special teaching such as clothing, management, nutrition, housing, family life, civics, or any other work that is to be taught by a local woman.

The place of the Home Demonstration Agent in education for homemaking is unique. She is responsible for carrying on an Extension program in accord with the needs and interests of the families in the county she works; she has a closer understanding of the families who share in the Extension Service through the Home Bureau but her work is with all families. She must know and work with the other educational organisations in the county. She offers valuable assistance in planning projects for the community good. She interprets the county and its problems to the State College, through conferences with specialists and with the State Leaders. In short, she is teacher, advisor, counselor, office administrator and liaison officer for county and state. She is jointly employed by them.

Valuable as the services of the home demonstration agent are to the counties that employ her, actually 1053 (as of June 30, 1945) counties in United States do not employ her. Rural homemakers in such areas have looked to the county agricultural agent and to State extension specialists in home economics and other fields for some help with their homemaking problems. The assistance of both agent and specialist has been concentrated in the organisation of groups of rural women interested in homemaking education and the training of leaders to give homemaking information to these groups.

A few outstanding characteristics of home demonstration agent teaching are that—

1. Farm people are helped to see their basic problem and to arrive at some of the solutions actually where the problems are—in the home, on the farm, in the community.
2. The customs, habits and interests of the people are taken into account.
3. Farm women and girls decide what the content of their work in their club groups is to be. The home demonstration agent assists them in carrying out such a program.
4. Their program is a flexible one and changes may be made as need justify.
5. This teaching is the type that seeks to solve problem at hand but aims also toward long-time goals for better farm living.
6. It is education for action—action by individuals toward improving farm and home life; action by groups to solve group problems.
7. It is education that aims to preserve the family-size farm and the American way of life.

The members of Home Bureau and local leaders seem to possess extraordinary mettle. Are they not busy housewives, with household duties to attend to, children to look after, and husbands to please? How do they manage to find time to devote to this voluntary work? What does induce them to find time ? Don't men folk object to this frittering away of energies ? The questions are very real, and difficulties are experienced in finding time. But time is found. Perhaps the husband can be induced to iron the laundry, look after children once in a while. May be the older child can attend to the younger ones during Mother's absence. May be a little sacrifice is needed : the windows may be allowed to remain uncleaned; the laundry may be done fewer times in a week. The husband is tickled by the importance that his wife has gained; he is flattered by the improvements in the kitchen, and in living. May he is sympathetic because he appreciates the need for education for homemaking. Perhaps he himself is active in extension work, either in the Farm Bureau or 4–H club.

How does one persuade the traditionally conservative grandma to change her ways of cooking, dressing, or bringing up of children ? Does not she resist the new-fangled notions of city-bred people ? Does the home demonstration agent look like one who understands the problems of rural people ? Does not she carry the stamp of the city upon her, in dress, manners, outlook ? All these and similar questions are attacked and overcome by the method and approach of extension. The home demonstration agent cooperates with local leaders and home bureaus in homemaking projects. Demonstrations bring conviction of the superiority of the new technics, and knowledge of its use. Artful persuation and social prestige prove a help.

Literature—

45. *The Home Demonstration Agent.* U. S. Department of Agriculture, Miscellaneous publication No. 602. April 1946.
45. *The Home Bureau Handbook, a guide for officers and leaders.* New York State College of Home Economics at Cornell Uni., Ithaca, N. Y.

Cortland County Home Bureau Vice-chairmen's Luncheon.

The Vice-chairmen's luncheon was an interesting meet, for several reasons. It was a chair *men's* not chair-*women's* luncheon. This was the only aspect of homemaking extension that I could observe at that period of the year. I was the only male present at the meeting, perhaps unannounced too.

The site of an all-county meeting is a bit of a problem. The Homer Grange Hall selected as the venu of the meeting was a very suitable one. It was easily accessible. It fitted in with the traditions and objectives of homemaking. It was almost designed for meetings of the type, for it had a hall big enough to hold all the members, and arrangements for preparing the luncheon.

The forty-five vice-chairmen assembled for luncheon represented all age-groups, the majority belonging to mellow middle age. The luncheon began with the introduction of Executive Committee and county agents. Then each member present introduced herself. The vice-chairman of Executive Committee made a plea for membership drive and invited suggestions. At the end of the luncheon, the home demonstration agent announced future home demonstration projects, and explained how to win membership prize. This was followed by an eloquent address by theguest speaker, who recounted her recent experiences in Europe and exhorted the women present to carry on the noble work that they had been doing heroically so far.

The acting home demonstration agent of the county had recently married one of the prosperous farmers of the county, and was going to retire from service. Upon enquiry it was found that marriage is one of the inevitable sources of great turnover in home demostration service.

The luncheon had served its main purpose: to make plans for next year's work, to enroll more members as part of the drive for greater homemaking education.

Literature:

47. *Suggestions for organising your membership drive in the unit*. (mimeographed)

Methods of Extension Education.

The demonstration method is still the best extension education method. Demonstration is of two types: method demonstration and result demonstration. The former is manipulative; e. g. a method of killing chickens. The latter consists for example, in demonstrating the result of using a new kind of seed along side of old seeds; or, a new method of pruning an apple tree as distinguished from the old one. In setting up demonstrations, care should be taken to see that the contrast between the old and the new is most marked. At the same time, the good demonstrator is able to anticipate objections; he should not be surprised if the results of using a new and better variety of seed are attributed to a difference in the nature of the soil. Demonstration should be followed by discussion to yield maximum educational results. It is a good idea to ask the demonstrator-farmer to explain to his fellow-farmers the new method, and allow him to discuss the misgivings and questions of the listeners.

The philosophy of extension method is that spoon-feeding is not a healthy thing. *Government sponsored schemes, financed by the government are not realistic. For one thing they do not encourage local initiative.* People should not be trained to look upon Government to solve their problems. They should learn to handle their own responsibilities, seek their own salvation. Government should work *with* the people, not *for* them. The traditions of the people should be respected. One should patiently work with the *opinion* leaders of the community to bring about the desired change. Harmless practices should not be interfered with. Make small concessions to achieve your goal.

Radio is an asset in extension. One can put on educational broadcasts. One should invite local people to broadcast. The people should not be connected with Government as far as possible. Movies are one of the best means of education. A well prepared movie is an excellent tool. "How to make a good movie ?" should be one of the courses offered by colleges Still pictures are also effective, First run a recorded talk, then show the pictures, and turn on the gramophone again.

Farm visits is another method. It is pretty important for building up of consciousness of extension. A government man who has gained the confidence of the people can be depended upon to make the visits. Allied to visits are tours. The results of demonstration can be capitalized by bringing one or two car-loads of farmers from neighbouring counties to witness the same results. Of course, this is limited by time, and money.

Fairs and exhibits are also useful. Exhibits should be encouraged by offers of Government prizes. Demonstrations should be set up on fair grounds. Farmers may be invited to give small talks on the occasion, especially for the benefit of youngsters, the generation that interests the old farmers.

Correspondence, magazines, newsletters, bulletins, telephone calls are other methods of extension. Advertisements spoil a lot of magazines and newspapers. The advertisements about fertilizers are quite mischievous. Commercial fertilizers are of very uncertain quality. The farmer is hard put to select from among numerous excellently advertised fertilizers, some of which are positively bad and ineffective. The need to standardize fertilizer production is urgent.

Government should exert pressure to bring about this standardization.

The encouragement of rural handicrafts on the other hand should not be carried to such an extent that the product of the craft is standardized. The distinctive feature of handicraft products is that they are works of craftmanship, and hence unstandardized. A craft is a craft; it is not machine production. In some of the southern states, extension is doing a lot to encourage crafts. Government helps to get the needed materials, supply designs and patterns, and dispose off products.

The rural radio, a net work of six stations, is playing an increasingly important role in extension. It is used to publicise and popularize the ideas discovered by research. The communication of intelligence is one of the functions of the radio. The other is to motivate the listener to act upon the intelligence supplied. This motivation-aspect is effective to the extent that the announcer is natural, sincere, and enthusiastic. The technique of preparing a good broadcast text consists in using language that is simple, interesting and personalized.

Literature :

48. *Dair Barn management letter.* Nos. 1, 4, 5. N. Y. State College of Agriculture.

Vegetable Field Day & County Fair

The annual summer meeting of New York State Vegetable Growers' Association was held on Saturday, August 28, 1948 on Robson Seed Farms, Hall N. Y. The program of the meeting was as follows :

10 00 a. m. Educational exhibit and trade show demonstrations

11.00 a. m. Chemical weed control—Dr. Carew.

12·00 a. m. Airplane and Helicopter dusting exhibitions
12-30 p. m. Vegetable contest judging begins.
1·00 to 1-30 p. m Radio broadcast on the grounds, Rural Radio Network. Farm visits and demonstrations.

(a) Green wrap pack of tomatoes in lugs.
(b) Field and sweet corn breeding plots.
(c) Trials—standard and new varieties of flowers and vegetables.
    (i) trellis tomatoes
    (ii) veneer bands on melons
    (iii) deep cultivation of carrots
(d) Demonstration—power ditcher
(e) Sweet corn grading and packing
(f) Exhibition—remodeled farm machinery, corn planter, two-row transplanter, rye grass seeder, deep tillage tool.

3-30 p. m. Report on judging contest—Dr. Carew.

The Vegetable Field Day was significant in many respects. It was an evidence of the prosperity of commercial farming. Mr. Howard Sprague, on whose *airstrip* the exhibition was held owned an aeroplane, a symbol of his prosperity. There was excellent coordination between industry and farming, between College of Agriculture and private farmers. between national and state government, and finally between means of communication (radio) and needs of rural people. The airplane and helicopter dusting exhibitions were the most exciting of all.

The Cortland County Fair, Aug. 30 to Sept. 4, 1948, is an annual affair. The county fair is an institution. The fairs are held by rotation in various counties. The fair has two aspects ; instructions and entertainment. The educational side is largely the handiwork of Extension Service. The fair provides an opportunity to display to the public the work done during the year, by the Farm Bureau, the Home Bureau, and the 4-H Club The best exhibits are displayed both to instruct and to stimulate. Prizes and gradings encourage further effort. Livestock, poultry, and farm machine can be shown to advantage.

Evaluation and Stimulation of Extension Service

Studies on the effectiveness of extension are but a recent phase in the history of extension service. In 1945 four different states of the Union set up administrative staff to undertake such studies. Now the practice is being followed by about 20 states. The purpose of such studies is to improve the effectiveness of the Extension Service. Their value lies in the cooprative discovery of facts that lead to improvement in workers themselves, and in the program and organisation.

To promote extension studies, New York State has designated an extension worker in home economics to spend full time in this field. Another worker trained in agriculture will devote part time. These two staff members, as administrative specialists in extension studies, are acting as coordinators to make available to all workers interested in studying their jobs the technical resources of various deparments of the State Colleges, in cooperation with the Division of Field Studies and Training of the Extension Service, U. S. Department of Agriculture.

A Policy Committee on Extension Studies was appointed in Jan. 1946 to guide all extension field studies in the State. On this committee are agents, specialists, state leaders, and research technicians. They have agreed that the first study shall aim to discover factors affecting the participation of farm women in the Home Bureau.

The studies have had a two-fold effect on extension:

they have emphasized the need for greater training in technics of research like sampling, questionnaire construction, of extension personnel; they have made the extension worker alert and self-conscious of the effectiveness of his own work. The latter effect acts as a stimulant to the extension worker in his zeal for self-less service. The published findings of research, are undoubtedly going to prove of immense value in improving extension service.

Literature :

49. *The effectiveness of extension in reaching rural people.* Cornell Extension Bulletin 104.

50. Crile, L. *Review of extension studies, 1946-47.* U.S.A. Ext. Ser. Cir. 449

Concluding Remarks

It can be readily admitted that the Cooperative Extension Service is doing an excellent job in promoting the welfare of rural men, women, and youth. What are some of the main factors that contribute to this excellence ? Can we duplicate those factors in India ? How best can we adapt the good features of the Service to conditions of India ? These are some of the questions that are very reasonably asked, and should be briefly answered,

The secret of the success of Extension Service seems to lie in the following set of factors : (i) The Service is *cooperative* in more ways than one. The Federal, State, land County governments cooperate to run the service. The land grant colleges cooperate on an equal and similar footing with federal and county governments. (b) Who is to do the teaching ? This is cooperatively decided between those who are to be taught and the Extension Service. The county agent is hired by rural people; the Service only recommends names for the job. (c) What is to be taught is also decided upon cooperatively between teacher and taught. (d) The cost of education again is agreed upon cooperatively between various authorities. (e) Extension education is a twoway process. The county agent not only carries to rural people the cumulative wisdom of State Collegs of Agriculture and Home Economics, but also carries from the people to the Colleges problems and questions for research and investigation.

(ii Extension education is democratic. It is democratic in the sense that the final decision as to 'what people want to do rests with them, As said before, they help in deciding what by whom, and at what cost will their education be. (b) It is democratic in that it respects the wishes of the people in cultural matters. It begins where people are, and allows for culture variation and culture change. (c) It is democratic in as much as it reveals a basic faith in the people. The people are to be trusted, they are responsible men and women. They need no spoon feeding. They are not to be looked after by the Government as a shepherd looks after the sheep. They are not to be saddled with programs sponsored and financed by Government. Democracy consists in treating people as responsible members of a free society, and in encouraging the growth of responsibility. The Service is democratic in this sense, because the intiative for extension programs comes from the people. (d) The service is democratic in so far as it subscribes to the philosophy of helping people to *help* themselves. It works *with* the people, not *for* them.

(iii) Extension education makes use of sound teaching methods, techniques, and materials. (a) Extension education is carried on in small groups, organizd on the basis of some interest. This makes for individual instruction and attention and simplifies the problem of presentation. (b) The "demonstration method" is educationally and psychologically a gem. It brings conviction as well as knowledge. (c) The printed material prepared by subject matter specialists is adapted to the mental level of its readers. It is simple, uses commonly spoken and understood words, is usually illustrated, contains matter organised into small paragraphs, sections, and chapters, all clearly indicated by pointer and shoulder headings, and uses largely a personalized style of writing. (d) The radio, film, records, posters, telephone calls, fairs, exhibitions, field days, and so on are all pressed into service to propogate the message of extension.

(iv) Extension education makes use of the system of lay leaders. This reduces the cost of extension enormously. "The cost of the service of lay leaders, "if paid for even at unskilled labour rates, would equal the total appropriations from all sources. (*Hand book of Adult Education in the United States*, 1948 edition, p. 97). And the system of lay leaders succedes in *involving* people in the educational process and results.

The New Scheme of Educational Reorientation in U. P.

Om Shanker Misra, M. Sc., (Agr.)

The present acute problem of unemployment amongst the educated persons leading to serious repercussions in various parts of the country particularly in West Bengal and Travancore Cochin where even violence had been resorted to demonstrate the underlying grievances has diverted the attention of the Union and State Governments towards finding out the fundamental defects in the present educational system and the extent to which the same is responsible for the acuteness of the problem. Various committees and commissions had been appointed in the recent past to go through the functioning of the present educational system at various stages of its work and suggest ways and means for its correction or overhauling if and where necessary so as to suit the changed conditions of the country. Almost all of them are agreed on the point that it is imminent for solving the unemployment problem amongst the educated persons in the country, as well as for remedying the various defects from which it is suffering that a technical and practical bias be given to the present educational system so that students after receiving their education may stand on their own legs and may carry out independently productive activities to step up the country's economic production.

With this aim in view the Uttar Pradesh Government aided by the Government of India have launched a scheme for the reorganisation of the educational system in Junior High Schools in the rural areas. India is an Agricultural country where more than 68% of the total population depends for its livelihood on the tillage of the land. As such any plan for the country's economic development will have to revolve round the axis of village development. Rural masses are illiterate, orthodox or rather repugnant to accept any departure from the hereditary practice. As such the first prerequisites for the Agricultural development as a means for the country's development in general cannot but must consist of educating the Indian farmer and making his mind more receptive to the method of improvement and advancement. This being the condition, the U. P. Government did not fail to appreciate the importance of proper training of the Indian Farmers as well as to tackle the unemployment problem properly that they launched the said scheme under which each Junior High School in rural areas will become the centre of Agricultural education and development where the farmer will be given lessons in scientific crop production and their posterity upon whose shoulders is to devolve the responsibility of the country's future Agricultural development, will be properly equipped for the same.

To each Junior High School will be attached an area of 10 acres which will be under the management of a trained Agricultural teacher (the training will be of the duration of three months on organised state farms etc.) who will manage the crop-production alongwith the tuition work. About 200 craft teachers will be appointed in the scheme. The scheme will be partly financed by the aid from the Government of India and partly by the U. P. Government. The expenditure will be of the tune of 72 lacs, 41 lacks as non-recurring expenditure and 31 lacs as the recurring expenditure.

Apart from imparting practical training in scientific crop production to the farmers as well as to the young generation the above scheme will help solve the unemployment problem as much as it will be giving employment to 3200 educated unemployed persons. These rural schools with trained Agricultural teachers will also serve as the centres of village development because here the adult farmers will also be given lessons in improved farming. They will also be profitably utilised for the propagation of research achievements in scientific crop production. Thus with the scheme coming into operation which is believed to take place in July 1954, 3000 centres of village education-cum-village development will be established which will go a long way towards changing the entire shape of the Indian village life.

Difficulties in the Extension of the Scheme.

The scheme will be faced with many difficulties the most significant amongst which will be the following:—

(i) The problem of acquiring the land.

(ii) The problem of providing them with proper equipment.

(iii) The problem of irrigation. But the difficulties are none of too serious nature as to defy their solution and as such are liable to solution with sincere efforts. Some of the suggestions for solving the above mentioned problems are given below.

1. Land-Problem.

One of the most difficult problems in the implementation of the above scheme will be the acquisition of land. It will no doubt be difficult to get the land immediately by the side of the school buildings, but it will not be very difficult to get the land in the village in which the school is situated.

In each village there lies some land which is not under cultivation and which with some efforts can be brought under cultivation. The ownership of such lands after the abolition of zamindari has been vested with the Gaon Samaj. Such lands will be classed in the land record papers as Banjar or Usar and can be easily acquired. Now such lands will require reclamation before they can be used for crop production. For reclamation of such lands the following measures may be resorted to :—

1. The responsibility for the reclamation of such lands can be entrusted to the Distt. Planning Officer who can easily manage the reclamation of such lands.
2. In those districts in which it is difficult for the Distt. Planning Officer to get the land reclaimed the land reclamation can be done by the kassis or the spades by the staff and students of the institution concerned during the Shramdan Week which may be observed by such institutions in the 1st week of July so that the regular tuition work can be started from 8th July onwards. The help of farmers and other villagers may also be taken.

The land can also be obtained from big land holders as donation for the schools. Wherever such resources are available they must be tapped.

It is very important that all 5-acre or 10-acre land should be in one consolidated block; where it is not possible to get a consolidated block of land the adjoining land which is in the ownership of other individuals of the village can be exchanged with them in exchange for land which may be given to them. At some places compensation may be paid to them. At some places where necessary though very sparingly compulsion may also have to be used.

After the land etc. has been reclaimed and brought under the plough and after a crop has been raised on them, the land by the side of the school building should be tried to be taken over in exchange for the land thus brought under cultivation compensation at many places will have to be given.

For the selection of the land for the institution a committee be appointed with Distt. Planning officer as chairman and the Deputy, Sub Deputy Inspector and Distt. Inspector of Schools, Headmaster of Junior High School and lekhpals. The Distt. Inspector of Schools should be the ex-officio Secretary of the committe.

2. *Equipment.*

After the acquisition of land the most significant and difficult problem will be the provision of proper equipment-including improved tools and implements and other necessary accesories for the cultivation of the land attached to the institution. Unless the Schools are provided with scientific and improved tools and implements the scheme will not be able to achieve its objectives.

In the appendix attached to the article a detailed list of all the equipment including initial and working capital is given.

3. *Irrigation.*

One of the major articles of scarcity and due to the scarcity which the Indian agriculture has truly been called a gamble on the rains is the provision of irrigational waters for successful crop production. It may not be that the land so acquired may be possessed of the facilities for irrigation water. But there is the likelihood of many schools being situated in the canal zones and thus may have access to canal water for irrigation purposes. In such schools no difficulty will be felt so far as irrigation is concerned and for the purposes of such institutions the canal authorities must be liberal enough in granting the extension where necessary and feasible. Where no such irrigation facilities are available the provision for a source of irrigation will become the greatest impediment for successful crop production. For this purpose, therefore, a well will have to be sunk, The next question will naturally be of finances for sinking of the well. We will not be in possession of so much money as to advance immediately for the sinking of a well in each such institution. Therefore the next problem will be to get the well sunk without any expense from the Government Treasury. For this purpose the Agriculture teacher concerned should start the sinking of the well through the school servants, students, and staff and other adult farmers who may come to the school for study. The help of the Gaon sabha may also be taken who may depute workers for the same. I think that if the teacher and the Goan samaj take lively interest the well will be sunk within no time and that too without any expenditure from the Government Treasury I advocate this method on the basis of my own experience as the Assistant Master in S. S. E. S. in D. Govt. Inter College, Pilibhit where two Kachha wells were sunk by the boys during the constructive periods and Shramdan weeks last year. If the raw and small students can weild the spade for the digging of a well I cannot think that the villagers alongwith the teachers and the taught of the institution shall not be able to sink a well.

Conclusion.

The success or otherwise of the scheme will depend upon the sincerity and enthusiasm of the personnel engaged in the execution of the scheme. Not only this but all other nation building schemes depend for their success on the enthusiasm evinced and the hard work put in by the energetic young men who have got vigour and capacity. If sincerity and enthusiam is forthcoming in required amount there is no doubt not the least for the scheme achieving full success and coming to stay in the days to come.

Proper supervision will form the next very important contributary factor towards the success of the scheme. Lack of proper supervision will inhibit the full success of the scheme. A regional inspector be appointed for each educational region who will be responsible for the proper supervision and execution of the scheme in his region.

As has already been said proper equipment will also have to be provided before the scheme will function well. A detailed list of equipment to be provided to each farm is given in the attached appendix.

With the successful institution of the scheme the village schools which at one time were not only the temples of learning but also the centres of village enlightenment will regain their lost prestige and position.

Appendix

	Rs.
(i) Live stock—A pair of bullocks	500
(ii) Dead stock—Implements etc.	
(a) Khurpies 2 dozen at Rs 9	18
(b) Sickles 2 Dozen	18
(c) Spades 2 Dozen at Rs. 24	48
(d) Kassies 2 Dozen at Rs. 24	48
(e) Ridge makers at Rs. 5	10
(f) Desi Ploughs 2 at Rs. 12	24
(g) Meston ploughs 2 at Rs. 15	30
(h) Cultivator 1 at Rs. 100	100
(i) Misc.	150
Total	946
	or Rs. 950

Fencing —

At this stage it will not be possible to provide for wall or wire fencing. It will however be advisable to grow a hedge crop all round the farm boundary. Menhadi or Babul hedge may be used for this purpose.

Buildings :—

No special buildings will be required to be constructed for the farm; however for the housing of bullocks a hutment 8'×10' will have to be constructed where no such hutment or any other space is found for the housing of the bullocks, which will be constructed by the students, staff and servants, of the institution.

Provision will also have to be made for perishable deadstock as baskets, cans lamps seed manure etc. For this purpose a sum of Rs. 150/- during the first year may be allotted. During the subsequent years no such provisions will have to be made and these needs will be met by the farm production itself. The seed may be obtained from the Govt. seed stores on Sawai.

During the first year a sum of Rs. 400/- will also have to be provided for the maintenance of the bullocks. In the subsequent requirement for the feeding of the bullocks will be raised on the farm itself.

The total expenditure on the initial and working capital during the first year will be —

	Rs.
(a) Tools and implements	450
(b) Bullocks	500
(c) Working Capital	550
Total	1500

Basic Principles of Craft Teaching

S. L. Chaturvedi,

In the past the practice of craft teaching has depended more on routine than on active thinking and it has been observed that classes have too often resolved themselves into an ascendant teacher drilling a submissive class. Limited as we are by time, space and materials our new schemes of work may well fall short of what may be ideally reasonable. Our immediate job, therefore is to review dispassionately the work which we are doing in schools with a view to bring it up in line with sound principles. In the course of the following few paragraphs an attempt has been made to discuss some basic principles, a grasp of which is likely to make the teaching of crafts more fruitful and thus give our pupils more satisfaction from their work.

Sometimes we fail to realize that the lessons which to the adult seems to be invested with simplicity and unity, convey an oppressive sense of confusion and muddle to youngsters whose span of attention and intellectual power are less than those of the adults. There can be no doubt that the boys and girls learn more successfully when their lessons are organized about some focal item of some preponderant importance, and this ideal is easily achieved in a craft lesson because the model or article to be made fulfills this requirement. But it does so only when the boys or girls feel that the job which they are doing is a necessary part of some undertaking which they accept as worthwhile. In the beginning the student should be given to understand that although the instruction given will not be such as to make him an skilled artisan, it will surely enable him in after life to use it for his own amusement and benefit. In order to convince him of this fact he should at once be allowed to produce somthing as a result of his labour. He should not, as is so often the case, be kept at a number of exercises which however good they may be, show no result , and therefore have the effect of making the work tedius, when it might have been attractive. Many teachers of woodwork, for instance, teach their boys the mysteries of marking out and cutting dovetail joints as an exercise quite unrelated to any immediate job. It is true that during the earlier stages of craft learning the mere handling of tools is interesting itself, but we should not make an excuse for making boys and girls work for longer periods acquiring technique which is not related to a piece of craftwork, which the teachers themselves accept as interesting, useful and worthwhile. Similarly if you set a boy to cut a number of meaningless cuts in a piece of wood as an exercise in sawing, he will commence with a certain amount of interest, which after a while he will lose, and the cuts instead of becoming more accurate will become less so; whereas had he made the same number of cuts with the hope of producing something as a result of his labour, the interest would have been maintained. To any one who has seen the evident pride and pleasure with which a boy surveys his first piece of constructive work, and the increased interest with which he enters upon his second and slightly more dfficult task, this is at once apparent.

While all craftwork should have direct creative application, as discussed above, a distinction must at the outset be drawn between the 'creative' and the 'educational.' The object of the first is to turn out a good piece of work; the object of the second is to inculcate habits of skill, neatness and accuracy. This can best be illustrated by taking the example of, say a 'housed' or a 'dovetailed' joint. The workman whose object is to produce a good piece of work, when finished, will not bestow the necessary care upon those parts which would not be seen when the work was finished and glued; whereas the educationist must see that care, neatness and accuracy are bestowed upon the work all through, and that when examined apart, or when it is examined in an unfinished condition, the groove in the 'housing' should be free from tears, that the interior of the 'dovetail' shall not be ragged or unnecessarily cut away inside to give the appearance of greater accuracy outside. He will, in all work, adopt that method that calls for greater dexterity rather than that which gives quicker results.

Sequence and Evaluation.

In the foregoing paragraph I have considered the problem of how best to make individual lessons shapely and coherent affairs, likely to promote successful learning by our children. A moment's thinking will convince us that a full session's work is something more than a bundle of lessons each of which, though successful in itself, is nothing more than that. We are thus faced with the question "What basic assumptions determine the sequence of operations or models which we put before our pupils ?"

We know that the planning of lessons is done by the teachers who are adults and who have to follow a rigid curriculum in the framing of which they have no control whatsoever. It is therefore a fact that even the enlightened teachers tend to base their schemes on an accumulation of knowledge or skill appropriate to an adult. The subject matter of a lesson in craft is analysed logically and the resultant sections are put over almost regardless of the interests, or capacities, or intelligence of the particular boy or girl learner. We are thus faced with the question whether our order of sequence should be logical or psycholoygical. Of course it is very easy to break down into manageable pieces the technique of making joints likely to be needed by a joiner or a cabinet maker, than it is to determine the psychological order best suited to the learner. In fact the teachers too often rely on logical, chronological or technological sequence, and still more so they depend on the dictates of the curriculum presented to them in the beginning of the session, without bothering to ask whether the sequence agrees with or contradicts the sequence determined by the maturing powers of the boy or girl learner But very often they are also correct as T. Raymont says, "The latter method is as psychological as the former, if the learner happens to be prepared to grasp the first principles." I suggest therefore, that we should ask ourselves at the close of any sequence of lessons, "Do the boys or girls now feel that they have a more intelligent understanding of the problem with which they had started ?" For craft teachers it is comparatively an easy affair to evoke replies from the children, because at the end of each of our sequence there is a finished product which fulfills some purpose acceptable to the boy or girl and also incorporates all our teaching upto that point. We can also follow the principle of sequence by showing a series of partly finished models, with alternative solutions to choose from them at the different stages of development. Our effort at this stage should be to help boys and girls to realize that any finished product represents the more or less successful solution of an initial problem; and that the various decisions come to represent the solution of practical difficulties, and that the whole job is the outcome of intelligence at work. The teaching should, therefore, be marked by purposefulness and meaning and should give little place to routine copying once the basic skills have been mastered.

Our sequences are more likely to be sound if we test the demands we make on our boys and girls by the principle of evaluation. Few of us have any detailed knowledge of exactly what demands we make on our pupils when we ask them to undertake a particular job which we think is desirable. Many of our failures are due to our making greater demands than can reasonably be expected. We naturally think in terms of the finished product or the result, and in consequence we do not sufficiently analyse the demands we make in the process of achieving the result. Let me illustrate this point from the teaching of reading. We all tend to think of reading in terms of ability to read fluently by a certain age without pausing to think that reading is a highly complex activity which may be hampered by failure in one out of several quite distinct operations. If, to take a very simple case, you watch a boy of 5 or 6 years playing at 'reading', i. e. associating printed names with the people in his picture book, you will be able to detect at least four factors in his accurate recognition of the name "Ram". First, there is the visual pattern of the word to be seen and recognised. Since he hears the word spoken by a grown up and also repeats it himself, there are in addition, auditory and articulatory patterns of the word so that already his ability to read clearly depends on his sight, his hearing and his speech, each of which may reach different levels of clearness. Moreover, he needs intelligence of a certain level to be able to grasp the meaning of the word. Finally as he traces or draws or writes the word he gains a motor impression which may be more or less vivid according to his particular make up.

As in the above case, failure may be due to a defect in one or other of several quite distinct processes, so in our craft-work failure may be due to our lack of understanding of the complexity of the factors we take for granted. What we ought to do in this subject is to take a model which we would normally expect a boy to finish competently, and set out under appropriate heading, a "job analysis" down to the smallest detail. For the sake of convenience I suggest that this should be done under three heads :—

(a) Evaluate the job in hand as a 'design' in full sense of the work. It will, in other words, mean evaluating the job in terms of active intelligence at work in solving a worthwhile problem. We are to acquire within ourselves whether the job makes sufficient demand on the boys' intelligent insight into the solution of practical problems, or is the demand we are making too great for the boy's intelligence at this particular point in his development ? Simple problems like this can be set to the whole class and the success or failure of the children in solving the same can be analysed. We may, for example, ask the children of 12 years age group to design a satisfactory rack to hold six pairs of ladies' shoes, a suitable present for the mother.

(b) For special evaluation, we will have to separate out the different types of constructions which the boys have chosen for the realization of their ideas. It is possible that some of the designs may be satisfactory all through. Some would be satisfactory if, for the weak joints they have chosen, they were to substitute something more suitable.

(c) Thirdly, for a proper understanding of the problem, we have to set down in detail all the particular skilled processes which the job will require, if it is to be done according to our standard. We will thus draw up a "bill of costs" which takes into account the demands we make on intellect, constructional ability and skill.

So far I have tried to discuss the principles from the point of view of the subject under consideration. I have mentioned the unifying effect of focussing each lesson on an item which is interesting and worthwhile. I have discussed the ways of binding the successive lessons together in a series which will contribute to the intelligent solution of an initial problem. I have also laid stress on the fact that our teaching tends to be successful when we realize clearly the demands which a particular job or process will make on our pupils. In the following paragraphs I now intend to discuss a few more principles or criteria which are based on the idea that our job is not so much as to demonstrate our ability as capable teachers as to promote successful learning in the boys and girls whom we teach.

The background or the context.

Sometimes the context is very far removed from the everyday experience of the young children whom we teach. As a matter of common observation we know that it is extremely unlikely that the mental context of every boy or girl of a certain class is identical with that of his neighbours. An application of a joint old or new, may appeal to one boy and not to another· The one responds actively and positively and makes good progress; the other finds the new job rather boring. It is therefore necessary that while introducing a new idea or a new technique, the teacher has to make sure that it is set in a context which will call out a positive response from almost all boys in the class. Very often the difference between the young mind and the mature mind is forgotten and some of the difficulties of the teacher are, therefore, on account of insufficient allowance for the maturity of his own mind or the breadth or abundance of his own experience. Sometimes the difficulty is solved if the teacher, while introducing a new problem, recalls to his knowledge the solution which he might have put forward when he himself belonged to that age group. But the teacher should not necessarily expect all the boys or girls to be interested in what interested him most.

Individual differences

The range of individual differences among children is very great indeed and our teaching should make allowance for it. As a matter of fact every pupil should feel for himself that his own abilities, his interests and his special aptitudes are given full scope. Some boys have a marked manual dexterity and can do very fine work, while others have more strength but less refinement of touch. In the case of girls there are similar wide variations in dress-making ability. Personal qualities of the children are also to be considered. Let us, for example, take 'concentration of attention' among children. Some boys become utterly occupied with the job in hand and feel rather irritated even when the craftmaster calls them for a few minutes talk on 'fixing devices', correct postures, etc. Others are incapable of sustained attention for more than very short periods. Such and similar other facts should be borne in mind when the jobs are distributed to the boys. The range of individual difference is very wide and our schemes of work should be flexible enough to cover a greater diversity of these differences.

Social factor in craft teaching.

We know that the work done by the members of a group who contribute to some common undertaking, can be very enjoyable, interesting and satisfying. The children should be made to realize their inherent power by shouldering the burden of the common good collectively. They should feel that when they are divided they are weak, when they work together their strength is much increased and the burden which falls on each individual is greatly reduced. It is therefore necessary that every boy or girl should have a chance, at some point in his school career, of contributing a responsible share to the successful accomplishment of a group job. Craft is a very helpful subject in this respect, and while devising schemes of work the principle of co-operative effort should not be lost sight of, for these children will be healthy and happy when each one of them will contribute some productive activity to his family life and to the life of the society, and will thus be a help in bringing the spirit of the new social order in everyday community life.

'Social Studies'
the care of General Education in the New Scheme.

T. S. Mehta, Lecturer Govt Training College, Allahabad.

If education is the 'corner stone' of democracy, no new scheme of any stage can afford to ignore its social implications, more so a scheme which aspires to contribute to the development of habits, attitudes and qualities of character which will enable its citizens to bear worthily the responsibilities of democratic citizenship and to improve productive efficiency to increase the national wealth and thereby to raise appreciably the standard of living of the people. In the mudded world of today, man needs more than anything else, perhaps, to learn to get along with his fellows. No education is worth the name which does not inculcate in the learners the qualities necessary for living graciously, harmoniously and efficiently with one's fellowmen, for the success of democracy depends upon faith in the dignity and worth of every individual as a human being. The foremost objective of democratic education, therefore, is the full all-round development of every individual personality. This requires that every scheme of education should take into account all his needs, psychological, social, emotional, and practical and cater to all of them.

The Harvard Report* defining the objectives of education at the secondary stage clearly asserts, "Education

---

Harvard Report "General Education in a Free society."

seeks to do two things; help young persons fulfil the unique, particular functions in life which is in them to fulfil and fit them as it can for those common spheres; which as citizens and heirs of joint culture they will share with other.s" Thus it lays outstanding emphasis on education for life in the sense of completeness in a human being.

All progressive modern educationists agree that the main aim of education is to initiate young pupil into the many sided art of living in a community. Both for his own wholesome development and the good of society, it is essential that he should learn to live with others and to appreciate the value of cooperation through practical experience and free interplay with other personalities. It is in the fitness of things that the framers of this new scheme have envisaged making the Junior High School "the radiating centres of progressive community life in the villages"*. These agriculture-centred schools will also provide "General education to all trainees learning trade and skill"* It means that while recognizing the need of specialistic training the scheme places equal emphasis on training towards a common citizenship which is to be developed by general education.

General education is that part of education which encompasses the common knowledge, skills and attitudes needed by each individual to be effective as a person, a member of the family, a worker, a citizen. General education is complimentary to special training for a job, for a profession or for scholarship in a particular field of knowledge.

In a scheme which aspires to "transform the existing schools from Primary to Higher Secondary stage into effective community schools in which education will be more a life to be lived in consonance with the culture, tradition, material needs, and economic resources of the community", there certainly is a definite place for three *rs*', for vocational subjects, for natural sciences, for social studies, for fine arts and each one should have its due. A broad-based programme of General Education Complimenting the special training in agriculture will certainly produce the desired results when it aims at helping each student in increasing his competence in :—

---

* Circular letter on the Reorientation of Education in U. P.

(a) exercising the privileges and responsibilities of citizenship ;

(b) developing a set of sound moral and spiritual values;

(c) expressing his thoughts clearly in speaking and writing ;

(d) using critical thinking for solution of problems and discriminating among values ;

(e) understanding the cultural heritage so that he may gain a perspective of his time and place in the world ;

(f) understanding his interaction with his biological and physical environment so that he may adjust to and improve that environment ;

(g) maintaining good mental and physical health for himself his family and his community ;

(h) developing balanced personal and social adjustment ;

(i) achieving satisfactory vocational adjustment;

(j) Taking part in satisfying creative activity and appreciating creative activity of others.

From the above it naturally follows that this broad-based complimentary general education programme must be faculty-wide in scope and development, every body and every subject participating. But the major portion of the burden shall rest on the shoulders of social studies for according to Binning.* "Social ;studies more than any other division of the school curriculum are concerned with the life, the institutions, the thoughts, the aspirations and the far reaching policies of the nation in its world setting. The social sciences take as their province the entire range of human history, from the earliest times down to the latest moment and the widest reach of the contemporary society; from the life and customs of the most remote peoples to the social practices and cultural possessions of the immediate neighbourhood". Thus the subject matter of social studies relates directly to the organisation and development of human society and to man as a member of social group. Cyril Burt* yery rightly asserts that "Human personality is nothing apart from his environment and potentialities of each individual can develop only in favourable environment". "Social studies" aspire to familiarize pupils with the confusing and complicated environment in which they are born, brought up and living today, so that they may become aware of the inter-relatedness of things around. It gives them an insight into the detailed structure of the world in which they live and an intelligent assurance that they can participate effectively in its various operations.

'Social studies' combine the materials of History, Geography and civics together with relevant materials from other subject-fields into a single integrated back ground course, through which the child can come to appreciate the inter-relatedness of all the elements of his environment and to feel himself to be closely associated with past and present struggles and achievements of mankind and to have a personal contribution to make towards future progress.

---

*Binning - Binning "Teaching of social studies in Sec. Schools."

* In his foreword to Hemmings', 'The teaching of social studies in secondary schools."

One of the main objectives of this new agriculture-centred scheme of Education is to enable the pupils to adapt to the environment in which they live. It can only be achieved if the social organisation and the physical surroundings in which they live have a meaning for them and both these would be acquired by them through the medium of "social studies" for they aim at developing social intelligence and lay stress and observation, investigation, criticism and evaluation. It provides both dynamic information and practical experience to the child, and therefore when all the information of the past and the remote areas converge on present problems of every day living broad mindedness results. Wrightstone's test measuring the civic attitudes showed that, "There is a positive correlation between historical knowledge and liberal attitudes to social problems".†

Broadened outlook includes so many things, chiefly—social awareness, concern for others, sense of obligation to the group, recognition of social problems and a spirit to contribute towards its solution. It includes the right attitude towards the state, the national and the international good. This can be done by promoting intelligent social behaviour, flexibility of mind, truthfulness, reliability, obedience, kindness, respect of authority, cooperation and sense of responsibility. Social studies aim at fostering all these virtues and strive at broadening and clarifying the child's vision.

Complexity and rapidity of change are the two characterizing features of modern society. In order to be able to adapt himself to these ever-occurring changes the child should cultivate sound habits of reasoning and thinking. The psychology of reflective thinking may be briefly explained thus. The power of reasoning or thinking can not be trained without the acquisition of facts. Not only are facts necessary for reasoning and thinking, but they must be so organised as to form clear associations. Thus as a foundation for reasoning a large number of associated facts are essential. "For the solving of a new problem, old experiences must be brought to mind and the elements of the old situations be taken to meet the respouse of the new.* Social studies open the gates of knowledge and learning that are appropriate to the present day through the correct and sound understanding of all history and all human experience as a process of change and development and thus become the chief media of training pupils to render social judgment and to draw generalizations about social relations and problems. Unless he learns to discriminate, the mentally immature student may turn out to be a social illiterate as an adult.

---

† Sancier—theory & Practice in Elementary schools.

Again training in desirable patterns of conduct must be imparted if the pupil is to become a well-rounded citizen in a growing democracy. There is no definite agreement as to what constitute the elements of character. The back ground of our culture and civilization is responsible for a knowledge of right and wrong and for agreement upon certain ideals and virtues. Such ideals, attitudes and virtues form the very basis of the success of the agricultural programme that this new scheme is going to launch.

Desirable attitudes are bassed on desirable standards of values which are formed on a clear appreciation of what things are worthwhile in life. The teacher of social studies is in an excellent position to inculcate in pupils desirable patterns of behavior through the subject matter he teaches and the method he uses. An agricultural programme provides an excellent opportunity for indirect ethrical training. By example, stimulation, motivation, and sympathetic aid in the class room and in the field and by himself exhibiting at all times self-control,

---

Wesley – Teaching social studies in High Schools.

patience, sympathy and self respect, the teacher can help in the building of character.

The new scheme also envisages the creation of a new type of leadership in the villages and the Junior High Schools are to be the evolving centres for such a leadership. Apart from the broad social outlook, amongst the many other qualities which should be imbibed for this purpose, discipline, cooperation and tolerance need special mention. Discipline is an essential condition for successful group work. An indisciplined person can neither make any effective contribution to the completion of any corporate project, nor develop qualities of leadership.

An agricultural programme provides an excellent opportunity for the development of discipline, for discipline cannot be developed in a vaccum. It is a fruit, a valuable by-product of cooperative work, willingly undertaken and efficiently completed. Through an agricultural programme these schools will create and strengthen a desire for cooperation and afford students to translate it into practice. Social studies, by instilling a passion for social justice, and by developing a broad social outlook, will help in removing social evils and exploitation, and thus foster cooperation in the true sense of the word.

And finally we must stress the importance of tolerance without which it is impossible to preserve a corporate life in school on which would depend not only the success of the scheme but the very existence of healthy community life in villages. The essence of a democratic society is not only tolerating but welcoming those differences which make for the enrichment of life. "If a democracy like ours is to survive a democracy with so many faiths, races and communities, education must cultivate in our youth an openness of mind and largeness of heart which would make them capable of entertaining and blending into a harmonious pattern, differences in ideas and behaviour. It is possible for every school to do so, not only through the proper presentation of the various school subjects—particularly the humanities and social studies—but also by utilizing the resources and opportunities provided by the fact that students are drawn from different castes, creed and classes. If they can learn to live pleasantly and peacefully in the small community of the school, this training will enable them to do so later in the larger community outside."* Thus we see that the role of social studies in fostering an attitude of tolerance is so insignificant one. New Junior High Schools providing ample opportunities for field work and corporate life would undoubtedly be good training grounds for the spirit of tolerance. These qualities develop best in the context of well organized group work.

The new scheme through its intensive agricultural and allied programme aspires to improve the vocational efficiency of our students. This very much depends upon the creating of a new attitude to work—an attitude that implies an appreciation of the dignity of all work, however, 'powly'. This attitude will be fostered by the realization that self fulfilment and national prosperity are only possible through work in which every one must participate and by the conviction that when our educated men take any piece of work in hand they will try to complete it as efficiently as possible. Students must acquire a yearning for perfection and learn to take pride in doing things as thoroughly as they can. The creation of this attitude must be the duty of every teacher and it must find expression in every activity of the school. Again social studies would be most helpful to us in this task because it is through social studies that students would be able to acquire not only the knowledge but the attitudes and values which are essential for successful group living and vocational efficiency. Then only they would not be merely 'flirting' with something called hand work "which often offers little stimulating challenge to their practical aptitudes but actually be confronted with real jobs of work which will genuinely stretch their powers".†

---

*Report of Mudaliar Commission on Secondary Education.

Thus we see that the basic importance of social studies as media of developing a right outlook and a better appreciation of human relationship (individual as well as group) can never be minimized in any new scheme of Education because humanizing and socializing of the personality is the first requisite of healthy community life of which our Junior High Schools are going to become "radiating centres".

---

† Report of Mudaliar Commission on Secondary Education.

BRICK MAKING : A SCHOOL PROJECT

V. Krishna Murti

Among the various activites chosen in an educational community, those activities that satisfy the three main needs of the comunity viz. food, clothing and shelter, are considered more realistic and practicable in adult life than the rest. Though in many institutions projects relating to the preparation of food and clothing are often attempted, not many institutions would take up the activities or projects relating to the construction of shelters or preparing materials necessary for such construction. The period, when man first learned to make handy blocks out of a paste of mud, dry them in the sun and use these blocks by piling them one over the other, to build a wall or house is a significant period in the development of civilisation. A brick can unfold the Story of Man through ages to one who observes. We took up brick making as a school project and carried out the project successfully.

Planning.

Apart from the other industries which are taught to the pupils of this institution, and which need elaborate and costly equipment, we want the pupils who leave the institution to be able to earn their livelihood without having a large capital. Brick-making was suggested as one such activity for the reasons that the equipment needed is simple and cheap, that within a fairly short time the skill to make bricks could be acquired, that the pupil could easily be rehabilitated in this gainful occupation because of the need for such people and finally that this would satisfy one of the important needs of man. Thus the project was not merely suggested by the

Headmaster but his whole-hearted support and encouragement were behind the execution of the project.

Instead of starting it all anew, we first ascertained from the school community whether there are any boys who had closely watched brick-making or who had actually done the job. We were able to get 2 boys who were semi-skilled. One of our watchmen had a knowledge of this work and we drafted his services too. Two teachers from our institution volunteered to help us by maintaining records of work done and using this, as far as possible, in teaching their classes. So we planned to make 1,000 bricks in the first instance.

Execution.

The first part of the project was the gathering of materials. The particular type of earth pre-eminently suited for the making of bricks was not available in the immediate neighbourhood. The earth around was partially clayey and sandy. We brought a cart load of the earth from the spot where bricks were manufactured on a large scale and sold to the public. We also got sand from the river bed. The mould for cutting bricks was made in our carpentry section to the standard size used in these parts.

The earth to be used for this was thoroughly moistened the previous day, cleaned and small pebbles removed, so that on mixing it with sand a smooth paste could be obtained. The earth was well kneaded and mixed with sand in the proportion 1 : 3. The first few bricks were made by the instructor and the boys then started cutting bricks using the mould. Only one boy was employed at a time. We found that on an average a boy, who is learning the craft, could cut 100 bricks in 12 hours. In about 9 days, the boys had cut about 900 bricks using 2 cart-loads of earth and a proportionate quantity of sand. The forenoon was used to cut the bricks, which were allowed to dry in the Sun till 4-30 p. m.

then taken and stored in a place where rain could not affect them.

The dried bricks were arranged to be fired. An open corner in the school was chosen so that the smoke might not affect the pupils and there was no danger of fire. There was a storm and heavy wind a few days back and small branches in some of the trees in our garden were broken by the wind. Our boys collected these broken branches, dried them and stored them. We used these branches to fire our bricks. A layer of wood was first arranged allowing space for air to get in and the bricks and wood were arranged in alternate layers so that fire could spread evenly over all the layer. The entire pile was then covered with mud-paste allowing space on top for the smoke to escape and passage at the bottom to allow air in.

The kiln was set fire to on the 1st August and combustion appeared to be complete by the morning of the 3rd. It took nearly 3 days for the kiln to cool down and on the 8th we removed the mud-covering and took out the red lovely looking bricks. The full bricks that were well baked and strong, numbered 820.

Judging.

We found that in certain bricks the proportion of sand and earth was not maintained accurately with the result that some bricks appeared brittle. This we were able to guage by the sound produced by the bricks when sounded with fingers and also by the appearance. Economically the project did come up to our standard because we used wood got free. The use of coke and logs of wood would certainly increase the cost of production. Taking these into consideration we thought that this could be attempted on a larger scale as a continuous process to afford opportunities for other interested pupils also.

The record of work done by pupils and the cost of production are given in the appendix. The correlated knowledge availabe in the project is also given separately.

RECORD OF WORK

Date	Nature and quantity of work.	No. of hours of work.	No. of boys worked	Quantity of material used.	Approximate Cost. Rs.
3-7-52	Cleaning and moistening the earth.	1	1	1 cart-load of earth.	1-2-0
4-7-52	Mixing earth with sand in the ratio 1:3 and cutting bricks No. of bricks 164.	2½	4	do plus 1/3 cart-load sand.	—
5-7-52	do 98	1	4	—	—
7-7-52	do 100	2	2	—	—
17-7-52	do 30	½	2	—	1-2-0
18-7-52	Second cart-load of earth cleaned and mixed with sand. No. of bricks 96	2	3	—	—
19-7-52	No. of bricks 160	2½	3	—	—
20-7-52	do 65	2	2	—	—
21-7-52	do 90	1½	2	—	—
22-7-52	do 99	2	2	—	—
31-7-52	Removing the dried bricks to be fired-construction of the kiln.	3	15	About 12 cwt. of dried wood.	—
1-8-52	Covering the outer surface of the kiln with mud and firing	3	5	—	—
8 8-52	Removing fired bricks, arranging, storing them cleaning the spot.	3	4	—	—

CORRELATED KNOWLEDGE

Knowledge the work.

Kind of soil suitable for brick-making—composition—clay, sand proportion. The proper proportion of sand and earth , 1 : 3 Why ?—Increase in the proportion of sand in case of every clayey earth. Need to keep the earth well moistened overnight. Purpose of kneading—why the pebbles, small stones and other dirt should be removed—sand—fine grain and coarse grain—relative merits—Mould for standard sized brick - advantage of timber—sizes of bricks in use—their relative merits—baking in the Sun—Why ?

Firing bricks—importance of air inlet—alternate layers of brick and wood. Advantage of coke over wood—air tight sealing with mud—vent-holes—their purpose—complete combustion—how to test—

Mother tongue

Narration of the day's work—training in clear easy speech and correct pronunciation—correct words for implements and processes used—Maintaining of diaries, recording the work done every day—practice in reading aloud—Questions and discussions on the processes—plans and reports—Reading books connected with the activity—writing essays and articles on the various aspects of the project—Autobiography of a brick—story of a brick.

Number work.

Counting—Arrangements of bricks in rows—introduction to multiplication—simple addition and substraction—practice in four simple rules.

Unit of length—tables of length—square measure—idea of area—making simple plans—cubic measure volumes.

Geometrical forms—shape of solids—rectangle, square, triangle –perimeter and area –cubes—formulae for calculation of areas, volumes—drawing of areas to scale—

Idea of time—units and tables—minute, hour, day, night, week, month, year—calculations of time, work—speed.

Ratio and proportion—Rule of three –calculations of cost, labour etc.—currency—elementary ideas.

General Science

Earth, mud, sand and clay—properties and uses—story of earth –its origin– force of gravity– moon and tides—formation of rocks, seas, soil, life and the story of evaluation.

Structure of matter—soil—insects in soils—Three states of matter.

Absorption of water, soil—proportion of mixing of different kinds and the effect.

Effect of sunlight on moist earth, clay sand and the mixture of earth and sand in different proportion.

Effect of heat (fire) on the mixture—introduction to pottery.

Heat—qualities and effects—some common phenomena—temperature—measurement—Air—air for burning—constituents of air—properties.

Social Studies.

How man obtained his physical necessities at different times and places—food—clothing and shelter.

Cave—living on tree tops, lakevillage, structures with leaf and branch, mud walls etc. – Bricks, growth of civilisation, River civilisations—some examples : Egypt (Nile valley) Chinese (on the Yellow River) Indian River Civilisation and early history of India connected with Mohenjadaro –Harappa—Aryan Civilisation in the Indo-Gangetic plain.

Shelter in other places and countries, depending on the climate and materials available—Forest areas, desersts, sea, river basins, plains, tropical, temperate and cold regions—through biographies—a study of the social institutions of mankind—from the most primitive society to the present democratic society.

Psychological Foundations of Craft Education

L. B. L. Verma, M. A., M. Ed.

Education that does not equip an individual for life after school brings into existence only well informed automatons, likely to fall an easy prey to those evil forces of the times which are only too ready to enslave the soul of men as well as their bodies. The child is born with an individuality of his own, with impulses, energies and powers, demanding appropriate expression, and with the dynamic life force urging him to realize his innerself. Education ought to integrate these vital innate urges and forces, and direct them towards a clearly, visualized goal. The values in education, therefore, can best be realized through well formulated aims of inner harmony purposeful integration of the self, so that the well-rounded personalities thus evolved may prove to be assets to society and to the nation as whole.

With these clearly envisaged aims, the educational system should proceed to provide opportunities for spontaneous and whole hearted activities for children for their self-expression and self-realization. This is possible only in an environment which is free and not forced upon children, wherein they have facilities for creative activities, where head and hand heartily cooperate in the service of the individual child, and where culture and craft are harmonised to produce unified knowledge. In short, the education of the child should be both academic and craft-centred, not conceived as separate entities, but as parts of unified whole. Academic education provides knowledge in various cultural subjects, while craft education imparts training in various handicrafts. But, 'Craft Education' as used here has a special significance. It is a wider term embracing education through concrete life situations and correlated with one or more forms of manual and productive work and the social and cultural environments of the child. Academic studies are also provided for in this comprehensive scheme. Thus craft education differs from technical education which is merely mechanical without any cultural or social bias. 'Craft Education', variously called 'Activity Education', 'Basic Education', etc., has its significance, therefore; in the recognition of the activity principle in education which states that productive and purposeful activity is an important and vital part of sound and balanced education and that it is easier for a child between seven and thirteen to grasp knowledge through such activity than throughr 'chalk and talk-lessons'. This ney ideology in education is decidedly a departure from the traditional principles and practices in education and challenges their validity. It is based on sound psychological foundations.

From the beginning the human individual is a body-mind whose physical and mental growths are so inter-related that the separate consideration of either is only justified as a necessary preliminary to a more adequate interpretation. Even the innate impulses, the motives and instincts have this double aspect. They are psycho-physical dispositions. Similarly, the distinction drawn for convenience between the cognitive, emotional and conative aspects of experience must not be interpreted to mean that development along one line proceeds separately from that along another. If the innate bases from which growth proceeds have three different aspects, so do the more complicated and many sided sentiments in the human mind. The child is a body-mind, a social individual, with cognative, emotional and conative experiences all interwoven. The theory of separate faculties (such as memory, imagination, judgment, and reasoning) is now completely discredited, for it is realised that the individual normally functions as a unity.

Thus, we find that the human child should be considered as body-mind, the one depending wholly on the other for perfect and smooth working of the system as a whole. The mechanism of the body and mind stands on a sensori motor basis. The world outside can stimulate the mind only through the senses; and, in its turn all that the greatest intellect can do is to contract a set of muscles and move a set of bony levers. The end product of every mental prosess is simply a muscular reaction overt or incipient. It is, therefore, clear now that the mind is intimately related to the various organs of the body and receives sustenance only through them and that the energy of the mind flows out through the various organs of the body. So we arrive at this conclusion that it is not only the mind which has the lions share of intelligence, but that intelligence is shared equally by the other organs of the body as well. Such being the case, it must be emphasised that the use of the hand has a significant role of its own in the smooth working of the human system as a whole. The hand has a very close and intimate relation with intelligence.

'Man' as Carlyle has told us, "is a tool, using animal with the gift of talk. From the lowlier creatures he is distinguished almost as much by the skilfulness of his fingers as by the facility of his tongue. If a person is intelligent he is also skilful in the use of his hand in manipulating his environment. Manual disability may gravely retard the growing child's attempts to acquire what his civilized forerunners have achieved. It is commonly believed that children who are backward in academic lessons may excel in handwork and in the tasks of more practical kind. This assumption has been tested experimentally. In muscular strength or muscular endurance or speed of movement, the backward or dull child always lags behind and he **fails** most of all in tasks requiring exactitude of eye-and-hand coordination.

Facility with the hand has always been an essential factor in human progress. Today, as in former times, the ameneties of life depend upon man's ability to acquire the mannual and other bodily skills necessary for the execution of his ideas. Modern conditions of existence call for a readiness of eye and hand not less than those of the past. If many of our older crafts have now disappeared, this has been off-set in some measure by the introduction of skills unknown to former generations, engendered by the modern machine which has displaced the older forms of craftsmanship. In addition to these claims to scientific study on the grounds of its practical importance, manual skill possesses a further and special interest for the psychologist. This interest it derives, as has already been shown, from the close connection between manual and mental development. The appearance in men of the higher mental powers which distinguish him from other animals, has been largely determined by his ability to develop and to make effective use of his hands. There is a definite relation between manual work and the cerebral mechanism. There are in the brain certain centres which govern the various movements of coordination. As new movements are attempted new centres become active. Certain nervous impulses become more or less habitual, so that new paths are started and established and the connections between the various centres of the brain become clearer and stronger. The progressively high development of the brain depends upon establishing connections between the motor and sensory centres, the practice of manual work aiding so effectively in developing these highly specialized complex centres that it leads finally to brilliant intelligence and a well-ballanced mind. Progressive manual work for children from four to fourteen is thus not time lost but constitutes on the contrary the true and only procedure for normal development, since it opens up indeed the only road along which nature herself attempts to lead the child".

The importance of manual activities considered from the psychological stand point, is therefore considerable. The advantages that go along with the practice of manual works are numerous and are visible in practical life. Physical growth, psychological development and even the moral and social progress of the child largely depend on it. (a) Manual work develops observation. It compels and accustoms the child to look closely, to attend to details, to measure and compute exactly. (b) It develops his faculty of mental association. It encourages his intellectual development by associating muscular action with cerebral effort, by leading him to comparisons, not of abstract ideas, but of concrete relations between various physical forces and the means to his disposal. (c) It develops his imagination. The child must see in advance what it is he expects to make; he must draw it exactly, then make it, that is, give tangible and exact form to his thought. (d) It develops his reflection. Indeed manual work inculcates atonce the scientific method and a sense of the role of science in life. It shows on a small scale what all life must realize on a large scale: the union of theory and practice; how theory is born of work and experience; how in turn, theory can and must illumine, guide, and elevate work, enable one to avoid false leads and clumsiness, and to realize well known formula of economy; the maximum of useful results with the minimum of useless efforts.

Manual work encourages the coordination of the powers it puts to work all the senses; all the organs, all the func tions of mind and body. To integrate them through carrying out some plan is a remarkable way of habituating the child to systamatic and regulated activity. All adaptation is atonce groping, sensation, comparison judgement and invention. Its goal is in the given case, the adaptation of environment to the individual's use; its means is the adaptation of the individual to the natural laws which govern the world. Manual activities fulfil these conditions. They call particularly upon the child's inventiveness, whether he is making the things he invents, or is inventing means of overcoming the technical difficulties he encounters. Every one knows how children delight in inventing and creating something tangible which represents concretely and durably their ingenuity and perseverence. Now pleasure in work is certain proof that this work is leading to some kind of progress. It may be added that, if the feeling for the beautiful is born of the sense of order and of the fitness of objects for their ends, whatever is produced by the child's own labour contributes powerfully to awaken. form, cultivate and develop in him the aesthetic sense.

The spontaneous activity or the play-activity of the child is the corner-stone of all modern educational movements. The ancients had already realized this ideal ages ago and based their methods of craft education on the child's spontaneous activity. It is the ideal of Montaigne, of Locke, and of Rousseau. Pestalozzi, Fichte, Froebel and Montessori make it the centre of their educational system. It is, in short the ideal of all gifted intuitive teachers of the past. What is this spontaneous activity ? It has several implications and interpretation according to the view points of different educators; but, the central idea of all of them is the same. Elan vital, self-expression, creative power, recreation, play, etc, are enough for nomenclature, but, the vital point of all is the same. All of them have emphasised different aspects of what is at the bottom a single phenomenon. To understand this spontaneous activity, to know its end, its means, is the great task of mankind, and the essential duty of human mind. It is the elan vital on which is based the whole growth of the child, his whole career and future. Psychologists have brought out this vital point and have explained its significance in the word 'play'. Nunn has defined play as "the creative activity of youth". If we perform any activity joyfully and of our own accord, and if in such activity we derive full satisfaction, then that activity to us is play. Play, then is joyful, spontaneous, creative, activity in which man finds his fullest self-expression. There is no question of time and age and so long as we can play we are young. "The best possible characterization of old age", says stanley Hall "is the absence of the soul and the body of play". Man's highest achievements have been reached in the spirit of play.

Various attempts, all interesting and important, have been made to supply an explaination of this natural tendency to play. The play activities are characterized peculiarly by spontaneity and expression of abundance of energy. Whatever theory be adopted to explain the phenomenon of play activity there can be no doubt that play is one of the most powerful innate impulses, if only because it employs and by so doing taps of the energy of, most of the other instincts. It may thus be a tendency to fulfil the aim of some of the other primary tendencies. Play is the spontaneous activity carried on just for itself and not for anything else while work is that which is carried on with some other object in view than the activity itself. In other words, work is activity pursued for an end beyond itself, while play has no such end. Consequently, in play, since the end to be achieved is the activity itself, there is enjoyment of the activity. We aim at joy and we get it during the spontaneous activity. If tactfully handled, most of the serious activities of our life can be carried out easily and happily in the spirit of play. The spirit of play or play-way, as it is commonly known, is not a matter of lowering serious work to the level of flippant entertainment, but of introducing joyous element into the grim region of hard work.

The whole of child education should be conducted in the spirit of play. The play activities of the child are manifestation of its desire for self-expression. In play its true nature comes out. If the development of the individuality of the child be taken to be the goal of education, then play is the best means to achieve that end. The school-curriculum, the methods of instruction and the school discipline should be so devised as to secure the fullest growth of the individuality of the child. In our schools there should be more of physical activities in which the child freely engages himself and less of book-work. "Hence it is that essentially creative activities", says Nunn, "such as art and craftsmanship, and, in a similar measure geographical exploration and scientific discovery are felt to have peculiar affinity with play and are in fact continuous with it in the development of individuality". Methods of introducing arts and crafts should be made flexible so as to meet the requirements of different individuals.

There is another aspect of elan vital which merits of our attention, namely, interest. Interest, it is said, is the corner stone of creative activity; it supports the whole edifice. Nothing without interest and nothing beyond it. An interest is a disposition in its dynamic aspect. Interest imports drive to attention. This is what Mc Dougall means when he says "Interest is latent attention; and attention is interest in action". also says "Attention is interest determining cognitive process." Such being the connection between the interest and attention, one cannot exist without the other; and where attention is to be employed, things and situations should be made interesting. The sources of interests are the instincts and the sentiments. The fundamental interests of the human being are the instincts themselves. But the idea, object or person round which a sentiment is organised is the aquired object of interest. Interest is conative rather than cognitive. The emotions must be organised round the idea of interest. We are directly interested in those objects which are connected with our innate dispositions where-as the objects which are connected with our sentiments become our derived interests. Derived interests are sometimes as powerful as direct interests. The term, interest, is also used to connote the feeling of pleasure resulting from giving attention to something. Webster defines it as "excitement of feeling accompanying special attention to some object," Inrerest, defined as a feeling of pleasure resulting from attending to something, is not a cause but a result. The resultant feeling of pleasure tends to condition the individual. A present result may be a future cause.

It is the test of the educator to direct along proper channels the mental force that is attached to the native instincts and impulses and the derived sentiments. The things which are constantly attended to not because they in themselves are interesting but because they are connected with those that are interesting in themselves, become in the end as interesting as those connected with direct interests. This is how the apperception mass is created. Through creation of suitable apperceptive masses the great educationist Herbart wanted to culture the interests of the educand and thus to elevate his character. Apperception is the constructive activity of the mind It requires that the object presented must possess points of familiarity as well as newness. Curiosity and creative impulses supply the motive power for apperception·

Different levels of interests relating to instincts, sentiments and the whole of organised personality have an important place in education. Clearly instinctive interest must be exploited at the beginning of education, for the pupils as yet have no sentiments or self-regarding sentiment to which appeal can be made. Pupils should be presented in the beginning, with concrete situations and should be encouraged to handle the objects, thus, exciting their various instincts. Any piece of craft would suffice to mobilise their creative impulses and the teacher, at this juncture, can correlate various items of knowledge with craft work.

We now arrive at certain leading psychological principles of child education· The development of the personality of the child should be the main aim of all educators. By personality, we mean, the sum total of behaviour patterns, or the sum total of the organised patterns of individual's creative nature, emotions, derives. habits, interests and ideas. In fact personality may be thought of as the totality of the child's traits and tendencies, functioning in an organised or integrated whole. The process of educating the child, therefore may safely be based on his spontaneous and creative nature, on his instincts and innate tendencies, on his interests and efforts, thus linking up knowledge with life, and humanizing the school and transforming it into an active, social and free environment in which the child's real nature may be spontaneously released for self-realization and social service.

Children rejoice in activities which are personal as well as social and promptly relate ideas with actions. Therefore, the material for their education at this stage should be selected from phases of life entering into their own social surroundings objects which they percieve, miniature industrial arts and crafts etc. They should be so organised that the intimate connection beiwəen knowing and doing so characteristic of childhood may be maintained. A child who finds out how to overcome a difficulty gets an intellectual training out of the experience. When the exercise in hand-work is mechanically carried out under the directions of the teachers, the mind is scarcely influenced, and the benefit, if any, is purely physical. If, on the other hand a child is engaged in a piece of work which he wants to construct, and has a definite goal to reach, and is allowed to devise his own way for accomplishing it, then undoubtedly his whole mind is brought to bear upon it. It is an occupation in the real sense—in the sense that his body and mind are fully occupied. He is interested in the work and attends closely to it. If he lets his attention wander, he will spoil his work. Any error that is made is self-corrective. Errors in other academic subjects, e. g., arithmetic, language etc., are not detected by the child easily, until the teacher tells him of them, and they do not trouble him much even when he knows of them. But in craft work it is different. The child sees his mistakes atonce and feels annoyed. He resolves to be more careful next time. All higher processes of thought are involved in the pursuit of craft. Observation, discrimination, imagination and reason, are all brought into play. In addition craft work cultivates such qualities as accuracy, neatness, thoroughness, skill and such aptitudes as the spirit of honest work, group-work, dignity of labour, economy, originality, self-criticism and so on. All this helps to develop the child physically, socially, mentally and morally.

नैनीताल पी० ई० सी० के छात्र-सैनिक राज्यपाल श्री के० एम० मुन्शी को गार्ड आफ आनर दे रहे हैं।

शिक्षा मन्त्री द्वारा पी० ई० सी० छात्र-सैनिकों की परेड का चकराता में निरीक्षण।

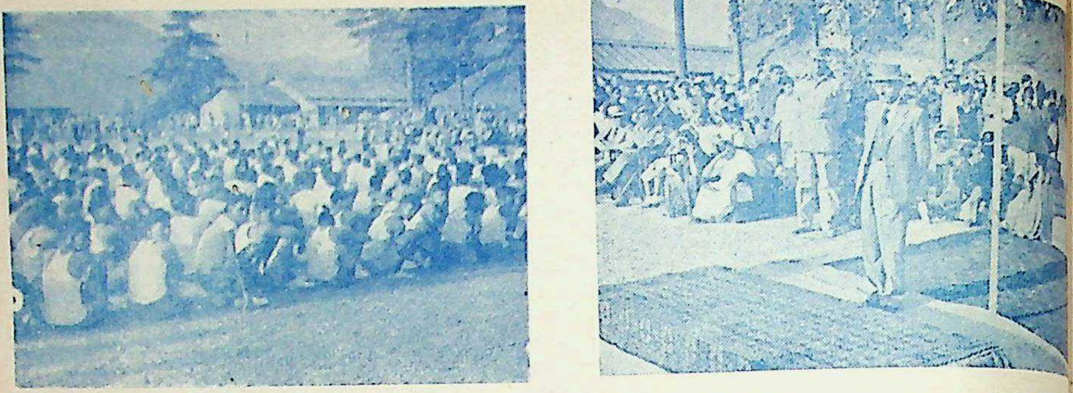

शिक्षा संचालक, श्री भैरव नाथ झा, चकराता में पी० ई० सी० छात्र-सैनिकों के सम्मुख भाषण कर रहे हैं।

कृष्ण कला मन्दिर संगीत विद्यालय (सांस्कृतिक केन्द्र), देहरादून के चतुर्थ दीक्षान्त समारोह के अवसर पर बालिकाओं द्वारा नृत्य प्रदर्शन ।

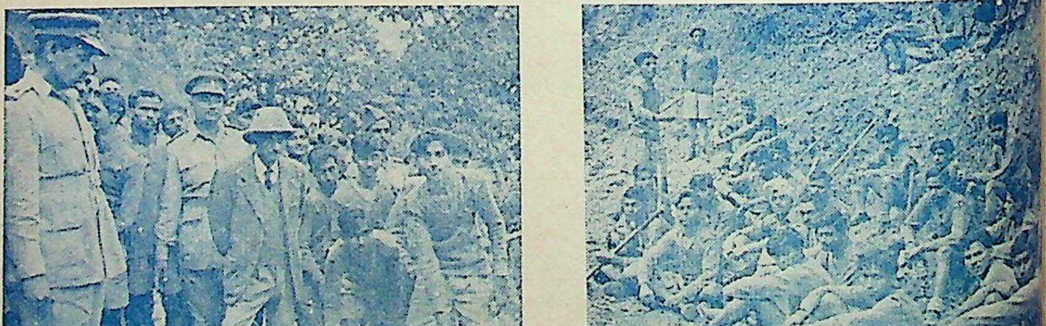

शिक्षा संचालक केडेटों द्वारा शिमला को जानेवाली एक मील लम्बी सडक के निर्माण कार्य का निरीक्षण, करते हु

हमारे कार्य-कलाप तथा कार्य-क्रम

कृषि शिक्षा की प्रगति

विगत त्रिमास में रुद्रपुर, नैनीताल तथा ८ अन्य जूनियर ट्रेनिंग कालेजों में २५३३ छात्राध्यापकों को प्रशिक्षित किया गया जिनमें से २४८७ सफल रहे। इन अध्यापकों को जुलाई मास प्रारम्भ होते-होते विभिन्न जिलों में भेज दिया जायगा। प्रारम्भ में जिला विद्यालय निरीक्षकों को सुविधा देने के विचार से प्रत्येक १० स्कूलों पर एक प्रसार प्रदर्शक 'एक्स्टेन्शन गाइड' देने का भी विचार किया गया है। अभी ये प्रदर्शक जिले में ही रहेंगे किन्तु अधिक भूमि उपलब्ध हो जाने पर अपने-अपने क्षेत्रों में भेज दिये जायँगे। स्थायीरूप से प्रत्येक जिले में ५० स्कूलों पर एक प्रदर्शक रखने की योजना बनाई गई है। प्रसाराध्यापकों को अपने काम के सम्बन्ध में खेतों को सुधारने, ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने, अहाते को सुन्दर करने, पथ ठीक करने आदि के सम्बन्ध में आवश्यक आदेशों से संकलित एक पुस्तिका भी दी जा रही है। खरीफ की फसल बोने का काम तुरन्त आरम्भ कर दिया जाने वाला है और बलिया तथा सुल्तानपुर में तो इस दिशा में कुछ प्रगति भी हो चुकी है।

इसके अतिरिक्त जूनियर हाई स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम बन गया है और कक्षा ६ के लिए पुस्तकें भी लिखी जा रही हैं, जो जुलाई के अंत से पहले प्रकाशित हो जायँगी। शाकोत्पादन, उद्यान-विज्ञान, मधुमक्खी पालन, औजार हथियार तथा अन्य विषयों पर भी पुस्तकें प्रकाशित करने की योजना है। प्रसाराध्यापकों को १५ सितम्बर से पुनः प्रशिक्षित करने का भी विचार है। तदर्थ चुने गये केन्द्रों के नाम तथा उनमें शिक्षा पाने वाले अध्यापकों की संख्या उनके सामने नीचे दी जाती है।

केन्द्र का नाम	प्रशिक्षितों की संख्या
आगरा	६०
झांसी	५०
गोरखपुर	५०
बलिया	४०
हरदोई	५०

प्रारम्भ में ऐसे अध्यापकों को शिक्षा दी जायगी जिनके पास कृषि अथवा शिक्षण सम्बन्धी कोई सनद न हो। उद्यान विज्ञान 'हार्टिकलचर' की शिक्षा राजकीय उद्यान, चौबतिया, तथा राजकीय नार्मल स्कूल, भीमताल में दी जाने वाली है जिनमें क्रमशः ७० तथा ३० छात्राध्यापक होंगे। निर्वाचित अध्यापकों को उद्यान विज्ञान में लगभग ६ महीने

की शिक्षा दी जायगी जो १५ सितम्बर से प्रारम्भ होगी । दूसरी बार पहाड़ के शेष प्रसाराध्यापकों को उक्त प्रशिक्षणार्थ भेजा जायगा ।

इस समय तक १६२२ जूनियर हाई स्कूलों में तथा २५६ उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में भूमि प्राप्त हो गई है जो क्रमश: ७४४० तथा ३८३६ एकड़ है । जून के अंत तक की मुख्य मन्त्री शिक्षा कोष की आय भी १५ लाख से अधिक हो चुकी है ।

शीघ्र ही और नये अध्यापकों को लेने का विचार है । पहाड़ों पर अलग से ऐसे नवयुवकों का चुनाव कर लिया जायगा जो पहाड़ पर कार्य करने को प्रस्तुत हों, क्योंकि मैदान के व्यक्ति पहाड़ों पर जाना पसन्द नहीं करते । पुर्नव्यवस्थित शिक्षा योजना का उद्घाटन १५ अगस्त १६५४ को होगा जिसमें राज्य के मन्त्री, सभा सचिव, सचिव तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति भाग लेंगे । तदर्थ एक कार्यक्रम भी निर्धारित किया जा रहा है जिसमें प्रभात फेरी, खेलकूद तथा झंडारोहण आदि का समावेश रहेगा । अमेरिका के फोर एच० क्लब के आदर्श पर अपने देहातों में भी प्रसाराध्यापकों द्वारा यूथ-क्लब प्रचरित करने का विचार है और उसके लिए साहित्य भी एकत्र हो रहा है । इन यूथ-क्लबों का उद्घाटन सम्भवत: २६ जनवरी, १६५५ को हो सकेगा ।

पाठ्य पुस्तक विभाग

नई बेसिक पुस्तकें, जो आगामी शिक्षा सत्र से सारे राज्य में पढ़ाई जायेंगी, पुस्तकों के लेखकों-विशेष पदाधिकारियों-के निरीक्षण में प्रकाशन के हेतु राज्य की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थाओं को दे दी गई हैं । जून में ये पुस्तकें तैयार होकर सर्वत्र प्राप्त हो जायेंगी ।

नवीन बेसिक रीडर भाग १, भाग २ तथा बेसिक अंकगणित भाग २ में संशोधित देवनागरी का प्रयोग हुआ है ।

कक्षा १ से ८ तक के पाठ्यक्रम को अन्तिम रूप दे दिया गया है और वह शीघ्र प्रकाशित होने वाला है । यह पाठ्यक्रम कृषि केन्द्रित है जिसको शिक्षा का नवीन व्यावहारिक रूप देने के लिए तैयार किया गया है । यह १६५४-५५ के शिक्षा सत्र में विद्यालयों में लागू होगा ।

एन० सी० सी०

विगत त्रिमास में आधा समय तो छात्रों का परीक्षाओं में ही बीता । शेष समय की मुख्य घटनायें अमरकण्टक, विंध्यप्रदेश, तथा रानीखेत, अल्मोड़ा में हुए शिविर-कार्य हैं । अमरकण्टक के शिविरवास का प्रबन्ध विंध्य प्रदेशीय शासन ने किया था जिसमें काशीस्थ बटालियन के १२० केडेट गये थे जिन्होंने विंध्य प्रदेशीय केडेटों के साथ मिल कर कार्य किया । रानीखेत शिविर २० मई से प्रारम्भ होकर १८ जून तक चला । इसमें भी

सैनिक प्रशिक्षण के अतिरिक्त सभी ने महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य किये और स्थानीय नागरिकों के हित में खेल तथा सम्मेलनों के हेतु भूमि बराबर की। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न केन्द्रों पर जैसे देहरादून, रानीखेत, काम्पटी तथा तम्बरम में सीनियर डिवीजन के अधिकारियों का पुनर्प्रशिक्षण तथा जूनियर डिवीजन की हवाई टुकड़ी, कानपुर तथा अन्य हवाई सैनिक अधिकारियों का कमीशन-पूर्व प्रशिक्षण भी हुआ है।

सैनिक शिक्षा तथा समाज सेवा

परीक्षाओं तथा कालिजों के बन्द रहने के कारण इन दिनों केवल अल्मोड़ा और नैनीताल में शिक्षण का कार्य चलता रहा। नैनीताल में राज्यपाल महोदय को गार्ड आफ आनर दिया गया। इस वर्ष सैनिक शिक्षा तथा समाज सेवा का प्रथम ग्रीष्म कालीन शिविर देहरादून से ६२ मील दूर चकराता में २२ मई से प्रारम्भ हुआ। यह शिविर पूरे एक मास तक चलता रहा और २० जून को समाप्त हुआ। इसमें ५०० चुने हुए केडेटों की विशेष सैनिक शिक्षा तथा समाज सेवा का आयोजन किया गया था।

ये युवक सैनिक अपने-अपने कालेजों में जाकर सैनिक शिक्षा का नेतृत्व करेंगे। शिविर में अन्य मुख्य व्यक्तियों के अतिरिक्त भारतीय रक्षा मंत्री श्री महावीर त्यागी तथा पुनर्वास मन्त्री श्री अजित प्रसाद जैन भी पधारे थे और शिविर के कार्य की बहुत प्रशंसा की। श्री त्यागी ने केडेटों के समाज-सेवा कार्य का उद्घाटन भी किया। १८ जून को शिक्षा-मन्त्री डा० हरगोविन्द सिंह तथा शिक्षा-संचालक, श्री बी० एन० झा ने भी शिविर का निरीक्षण किया। 'गार्ड आफ आनर' के पश्चात् संध्या समय केडेटों ने शिक्षा-मन्त्री को सैनिक सलामी दी और मार्च पास्ट का प्रदर्शन किया। तत्पश्चात ही व्यायाम (पी० टी०) का आयोजन किया गया। शिक्षा-मन्त्री ने केडेटों के काम की सराहना की और कहा कि अनुशासन स्थापित करने तथा आज्ञा पालन कराने के पूर्व यह आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं अनुशासन में रहना तथा आज्ञा पालन करना सीखे। शिक्षा-संचालक ने शिक्षा-मन्त्री को धन्यवाद देते हुए केडेटों द्वारा उनके आदेशों के पालन का आश्वासन दिया।

शिक्षा-मन्त्री तथा शिक्षा-संचालक महोदय ने केडेटों द्वारा शिमला को जाने वाली एक मील लम्बी सड़क-निर्माण कार्य का भी १९ जून के प्रातःकाल निरीक्षण किया। रात्रि में नवयुवकों ने विनोद गोष्ठी का एक अत्यन्त मनोरंजक कार्यक्रम रखा जिसे पसंद किया गया।

मनोविज्ञान केन्द्र, प्रयाग

मनोविज्ञान केन्द्र प्रयाग तथा उसके पाँच उप केन्द्रों ने मनोवैज्ञानिक अनुसंधान तथा निर्देशन का कार्य जारी रखा।

१—स्टेनफर्ड—बिने वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा के अनुशीलन कार्य में प्रश्न-विश्लेषण किया गया।

२—केन्द्र की १९५२ की प्रौढ़ बुद्धि-परीक्षा की तत्व रचना का अध्ययन किया गया।

३—उत्तर प्रदेश की नवीन कृषि केन्द्रित शिक्षा योजना के अध्यापकों की बुद्धि तथा मानसिक सजगता के माप के लिए एक विशेष परीक्षा निर्मित की गई।

परामर्श कार्य

शैक्षिक, व्यावसायिक तथा वैयक्तिक परामर्श कार्य जारी रहा। उत्तर प्रदेश की अनेक पाठशालाओं की आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों का मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया गया।

अध्यापक निर्देशकों का प्रशिक्षण

नौ अध्यापकों का मनोवैज्ञानिक-परामर्श-कार्य का शिक्षण समाप्त हुआ।

नवीन शिक्षा योजना के अध्यापकों की परीक्षा

उपरोक्त योजना के लगभग २,४०० अध्यापकों का जो रुद्रपुर और आठ जे० टी० सी० कालिजों के प्रशिक्षित हो रहे थे, उनका मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया गया। जून में परीक्षाफल भी तैयार करके अधिकारियों को दे दिया गया।

माध्यमिक परिषद

इस बीच परिषद की हाई स्कूल तथा इन्टरमीडियट की परीक्षायें, जिनमें लगभग १॥ लाख परीक्षार्थी सम्मिलित हुए थे, अप्रैल में समाप्त हुईं। इधर उधर से करीब १ हजार छात्रों के अनुचित साधन प्रयोग में लाने की शिकायतें आईं जिन्हें उचित दंड दिया गया। लगभग १० हजार विद्यार्थियों ने बीमारी आदि के कारण परीक्षा में सम्मिलित न हो सकने की क्षमा के आवेदन पत्र भेजे हैं। विगत मई, जून में परीक्षा केन्द्रों, परीक्षकों, गणकों आदि से भारी पत्र व्यवहार चला किया तथा परीक्षा फल को पूर्ण एवं घोषित करने का उद्योग होता रहा। इन्टर तथा हाई स्कूल परीक्षा में जो छात्र अब तक उत्तीर्ण हुए हैं उनकी संख्या निम्न प्रकार है :—

	परीक्षार्थियों की पंजीकृत संख्या	परीक्षा में सम्मिलित होनेवालों की संख्या	उत्तीर्ण संख्या
हाई स्कूल परीक्षा	२,०४,३५७	१,८५,६१०	९३,८५८
इण्टरमीडिएट परीक्षा	६४,०४६	५५,०९९	२७,६७२

इसके अतिरिक्त १८ अप्रैल की बैठक में मान्यता समिति ने २२ उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा १३ नये इन्टरमीडियट कालेजों को तथा मई की बैठकों में १४ सस्थाओं को हाई स्कूल तथा इन्टर की कक्षायें प्रारम्भ करने की स्वीकृत प्रदान की।

संस्कृत शिक्षा

विलीन टेहरी तथा बनारस राज्यों की ८ संस्कृत पाठशालाओं तथा राजकीय संस्कृत पाठशाला मिर्जापुर में अब तक नवीन संस्कृत पाठ्यक्रम के अनुसार आधुनिक विषयों तथा कतिपय संस्कृत विषयों के अध्यापन की व्यवस्था नहीं की जा सकी थी। परन्तु जुलाई १९५४ से टेहरी की राजकीय संस्कृत पाठशालाओं में ६ एम० ए० एल० टी, बनारस राज्य की पाठशालाओं में २ एम० ए०, एल० टी० तथा मिर्जापुर की संस्कृत पाठशाला में एक एम० ए०, एल० टी० की नियुक्ति का राज्यादेश प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार टेहरी की समस्त राजकीय पाठशालाओं में संस्कृत विषयों के अध्यापनार्थ एक-एक व्याकरणाचार्य या साहित्याचार्य तथा बनारस में एक व्याकरण-साहित्याचार्य की नियुक्ति सम्बन्धी राजाज्ञा मिल चुकी है। इससे इन पाठशालाओं में अध्ययनाध्यापन की पूर्ण सुविधा प्राप्त हो गई है। इसके पूर्व टेहरी में चार ऐसी राजकीय पाठशालायें थीं जहाँ केवल एक ही एक अध्यापक कार्य करता था। अब इनमें तीन-तीन अध्यापकों का प्रबन्ध हो गया है। टेहरी की पाँच संस्कृत पाठशालाओं में परिचारकों के अभाव में पहिले छात्रों तथा अध्यापकों को कष्ट का अनुभव होता था अब इनमें एक-एक परिचारक की नियुक्ति भी स्वीकृत हो चुकी है। विलीन टेहरी तथा बनारस राज्यों की संस्कृत पाठशालाओं के भवन-निर्माण का प्रश्न तथा इनमें छात्रवृत्तियों की व्यवस्था पर भी सरकार विचार कर रही है। संस्कृत पाठशालाओं में भी निर्वाह निधि (प्रावीडेंट फंड) की योजना कार्यान्वित करने पर विचार हो रहा है और इस सम्बन्ध में सभी पाठशालाओं से इस योजना को स्वीकार करने के सम्बन्ध में पूछा गया है। आशा है कि इस योजना के प्रारम्भ हो जाने पर संस्कृताध्यापकों को अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त विशेष आर्थिक संकट सहन नहीं करना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी प्रदेश की स्वीकृत संस्कृत पाठशालाओं के अध्यापकों को आधुनिक शिक्षण पद्धति की शिक्षा देने के हेतु राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी में प्रशिक्षण का आयोजन किया गया है। यह प्रशिक्षण १० जुलाई से २४ सितम्बर तक चलेगा। ऐसी पाठशालाओं के, जहां एक से अधिक अध्यापक हों, अध्यापकों से प्रबन्धकों द्वारा आवेदन पत्र भेजने की सूचना भी प्रसारित कर दी गई है। इस प्रशिक्षण में शास्त्री अथवा आचार्य परीक्षोत्तीर्ण अध्यापकों को, जो प्रथमा अथवा मध्यमा कक्षाओं को पढ़ाते हैं तथा जिनकी अवस्था ४५ वर्ष से कम है, बुलाया गया है। इन शिक्षकों को प्रशिक्षण काल का पूर्ण वेतन पाठशाला से प्राप्त होगा तथा उन्हें शासन की ओर से २० रु० मासिक पूरक वृत्ति भी मिलेगी।

रामपुर डिग्री कालेज का दीक्षांत भाषण

विगत मार्च में राजकीय डिग्री कालेज, रामपुर में शिक्षा संचालक श्री बी० एन०

झा ने दीक्षांत भाषण दिया जिसमें उन्होंने कहा कि अब आपको अपना जीवन स्वतन्त्र भारत में बिताना है, जिसका अर्थ आपके गंभीर उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता है। निस्सन्देह आप सभी को किन्हीं न किन्हीं विषयों में यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो चुका है किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। अब भावी परीक्षा इस बात की होगी कि आप उक्त ज्ञान के प्रयोग की कहाँ तक क्षमता रखते हैं। आपका व्यक्तित्व आपके क्रिया-कलाप पर निर्भर है। व्यक्तित्व का विकास सद्गुणों के संगठन से होता है। अतः ज्ञानार्जन के अतिरिक्त प्रत्येक दिशा में अथक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। साथ ही बौद्धिक एवं सांकल्पिक विकास का आवश्यक सहचर होता है स्वास्थ्य। इसी से शिक्षण संस्थाओं में शारीरिक साधनाओं की ओर भी ध्यान दिया जाता है। भावी जीवन में भी स्वास्थ्य और संयम अन्य उच्चतर उपलब्धियों के हेतु मूलतः आवश्यक हैं।

यहाँ से जाने पर आप अपने लिए कोई व्यवसाय ढूँढ़ेंगे और जैसी परिस्थिति है उसमें सम्भव है आप सफल न भी हों। इसका दोष हम पर है। हमने आपको ऐसी शिक्षा नहीं दी जिससे आप अपने जीवन की समस्यायें हल कर सकें। हम तो आपको वही शिक्षा देते रहे जो यहाँ परतंत्रता के युग में मिलती रही है। यह संक्रमण काल है और इसमें न्युनाधिक असामंजस्य रहेगा ही। फिर भी यदि आप में यौवन की स्फूर्ति है, आपने यदि विद्यालयों में वास्तविक शिक्षा प्राप्त की है और आप परिश्रम से दूर नहीं भागते, तो राष्ट्रोत्थान की दिशा में पवित्र उद्देश्यों सहित आप ग्रामीण भाइयों की सेवा करने का व्रत लीजिए। इससे चाहे आप धन न बटोर सकें किन्तु सम्मान तथा संतोष की आप ऐसी निधियां प्राप्त कर लेंगे जिनके सम्मुख भौतिक धन तुच्छ है। यहीं से डिग्री प्राप्त करने वाले स्नातक, यदि यह संकल्प करलें कि वे अपने अंदर शुभशक्ति संचय कर समाज के दोष एवं दुर्गुणों को दूर कर देंगे जिससे वह अधिक कल्याणकारी बन सके, तो मुझे विश्वास है कि आप २०० शिक्षित व्यक्ति ही देश के सम्पूर्ण वातावरण को सद्भावों से अनुप्राणित कर सकते हैं।

शैक्षिक-गोष्ठी, मसूरी

श्री असदुल्ला काजमी, एम० ए०, एम० एड० (लीड्स) के संचालन में विगत २० मई से २१ जून तक ३० उत्तर प्रदेश के और १० बिहार के शिक्षाधिकारियों की एक शैक्षिक गोष्ठी मसूरी में चली है। उक्त शिक्षाधिकारी सहायता प्राप्त तथा राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों एवं राजकीय प्रशिक्षण विद्यालयों के प्रधानाध्यापक तथा आचार्य थे। गोष्ठी का सामान्य अभिप्राय माध्यमिक शिक्षा पर केन्द्रीय शासन की माध्यमिक शिक्षा परिषद की प्रमुख संस्तुतियों को कार्यान्वित किये जाने के विषय में सरल सुझाव प्रस्तुत करना था। इसकी एक विशेषता यह थी कि यह पूर्णतया स्वतन्त्र वातावरण में संगठित की गयी थी जिससे उसके सदस्य उसमें निस्संकोच भाव से भाग ले सकें और अपने

विचार तथा स्वानुभूत वास्तविक कठिनाइयों का स्पष्ट वर्णन तथा उन पर वाद विवाद कर सकें। गोष्ठी को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया था जो पृथक एवं सम्मिलित रूप से शिक्षा के निम्नांकित ३ अंगों पर विचार-विमर्श कर सकें।

(क) शिक्षकों की स्थिति, नियुक्ति, निर्वाचन तथा प्रशिक्षण।
(ख) माध्यमिक शिक्षा के विषय, प्रणाली तथा संगठन।
(ग) प्रशासन, नियंत्रण तथा व्यय।

यह प्रारम्भ से ही निश्चित कर लिया गया था कि केवल ठोस सुझाव तथा क्रियात्मक प्रोजेक्टों पर वार्तालाप चलेगा। तदनुसार लगभग एक दर्जन प्रोजेक्टों—जिनका सम्बन्ध, अनुशासन, पुस्तकालय, मैगजीन, टीचर्स-क्लब, प्रशासन के लोकतंत्रीकरण, शिक्षा-प्रणाली, शिक्षात्मक स्थिति के सुधार, कार्यक्रम निर्धारण आदि से था—पर वादविवाद हुआ। आशा की जाती है कि गोष्ठी के सदस्य इन प्रोजेक्टों के अनुकूल व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से अपनी संस्थाओं में कार्य करेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ संस्तुतियाँ भी, जिन्हें माध्यमिक शिक्षा में कार्यान्वियन के निमित्त आवश्यक समझा गया—यथा, विद्यालयों में प्रवेशार्थ आवेदकों के निर्वाचन की पद्धति—तर्क वार्ता में आईं और उन्हें उच्च अधिकारियों के पास बढ़ा दिया गया।

गोष्ठी का अन्तिम समारोह २०-६-५४ को संध्या समय मनाया गया जब शिक्षा-मंत्री श्री हरगोविन्द सिंह तथा शिक्षा-संचालक वहाँ पधारे थे। श्री काज़मी द्वारा गोष्ठी के कार्य-विवरण दिये जाने के पश्चात् शिक्षा-मंत्री महोदय ने कहा कि मुझे प्रसन्नता है कि माध्यमिक शिक्षा के विषयों पर पूर्व निश्चित लीकों के बाहर स्वतंत्र वातावरण में यहाँ वार्ता की गयी और मुझे आशा है कि यहाँ के शिविरवासी अपनी संस्थाओं में जा कर यथासम्भव तदनुसार आचरण करेंगे, यद्यपि प्रशासन के विभिन्न सोपानों से आबद्ध अधिकार-मर्यादा की जो परिपाटी बनी हुई है उसका निरादर भी नहीं होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि जिस प्रकार वैज्ञानिक कुछ निर्जीव पदार्थों को लेकर परिणाम की चिन्ता किये बिना प्रयोग करते हैं उस प्रकार के प्रयोग शिक्षा में सम्भव नहीं हैं क्योंकि यहाँ हमारा संसर्ग विकासशील सजीव बालकों से होता है। गोष्ठी में एक वक्ता द्वारा कथित 'निराशा' (फ्रस्ट्रेशन) की ओर संकेत करते हुए शिक्षा-मंत्री ने कहा कि अध्यापक का कर्तव्य-पालन किसी प्रतिकार पर निर्भर नहीं करता, वह तो राष्ट्र-निर्माण के उच्चादर्श से उत्प्रेरित हो कार्यरत होता है। उन्होंने उनका भौतिक सुखों की उपेक्षा कर राष्ट्र की सेवा के निमित्त आह्वान किया। पश्चात् शिक्षा-संचालक ने शिक्षा-मंत्री को धन्यवाद देते हुए आश्वासन दिया कि गोष्ठी में सीखी तथा उनकी बातों का समुचित पालन किया जायगा।

शिक्षा जगत के समाचार

अखिल भारतीय संस्कृत परिषद का वार्षिक अधिवेशन

अखिल भारतीय संस्कृत परिषद का उद्घाटन करते हुये राज्य पुनर्संङ्गठन समिति के सदस्य सरदार के० एम० पन्निकर ने संस्कृत के अध्ययन और प्रचार पर बल देते हुये कहा कि संस्कृत साहित्य की रिक्तियों को भरने तथा उसमें आधुनिकता विकसित करने लाने की अत्यन्त आवश्यकता है जो उसके साहित्य में नये अंगों को लाने, आजकल की भाषाओं से अनूदित करने तथा भारतीय मस्तिष्क की विगत एक शताब्दी की उपलब्धियों को अंकित करके ही हो सकता है। उन्होंने कहा कि मेरे विचार से यदि संस्कृत को संस्कृति की भाषा के रूप में उन्नति करना है तो उसे वैयाकरणों के हाथ से ले लेना होगा और संस्कृत को उसी प्रकार प्रचारित करना होगा जैसे अन्य भाषायें सिखाई जाती हैं। इस दृष्टि से एक सामान्य तथा आधारभूत संस्कृत की आवश्यकता पड़ेगी।

उन्होंने आगे कहा कि संस्कृत समस्त भारत की भाषा है और उस पर किसी एक क्षेत्र अथवा जाति का दावा उचित नहीं क्योंकि इसको संवारने में सभी ने योग दिया है और उसमें अनेक विचारधाराओं का समावेश भी है। उन्होंने यह भी कहा कि संस्कृत के पुनरुत्थान को प्रतिक्रियावादिता कहना भ्रामक है। संस्कृत वास्तव में भारत की एक राष्ट्रभाषा है। व्यवहार की भाषा के रूप में हिन्दी का भविष्य में चाहे जो भी स्थान हो, किन्तु जिस दिन हिन्दी संस्कृत से नाता तोड़ लेगी उसी दिन भारतीय एकता का अन्त हो जायगा। संस्कृत को क्षेत्रीय भाषाओं पर जो सम्मान प्राप्त है उसे प्राप्त करने का हिन्दी कभी भी दावा नहीं कर सकती। ऐसी भाषा में जो चार सहस्र वर्षों से अपना अस्तित्व बनाये हुये है, कुछ त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। यह भी ठीक है कि पुराने ढङ्ग से संस्कृत का अध्ययन करने वाले शास्त्रादि में अन्ध विश्वास रखने लगते हैं किन्तु यह बात तो अंग्रेजी और फ्रेंच पढ़ने वालों में भी मिलती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत में प्रगतिशील विचारों को भी समर्थन मिलता है और इसमें सन्देह नहीं कि देश के महान सुधारक वे ही हुए हैं जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था।

अध्यक्षपद से भाषण करते हुये मुख्य-मंत्री ने कहा कि यदि संस्कृत एटम बम अथवा हाइड्रोजन बम सम्बन्धी शिक्षा न दे सके तो भी वह अपूर्ण नहीं कही जा सकती क्योंकि संस्कृत में प्राचीन ऋषियों ने विद्या और अविद्या का भेद दर्शाया था जिससे संस्कृत भाषा प्रकाश बन कर हमारा अंधकार में भी पथ-प्रदर्शन करती है।

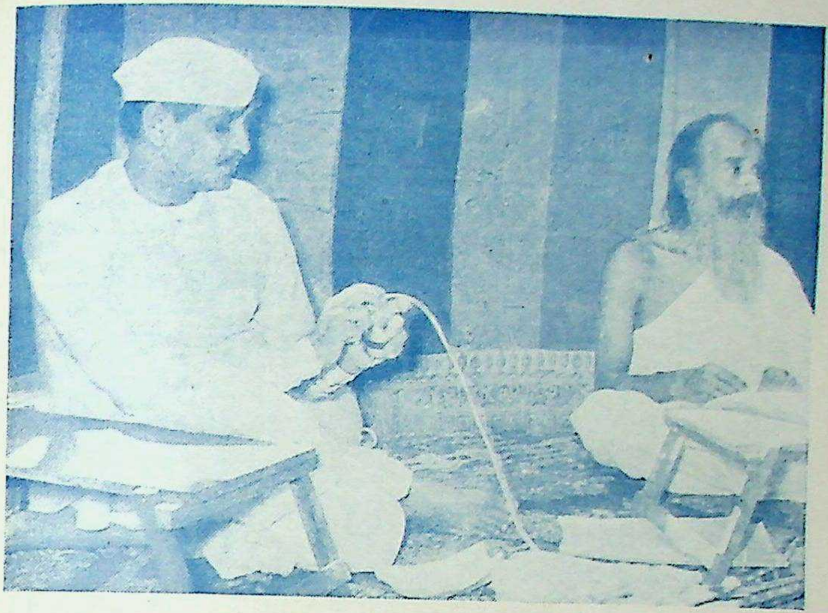

उत्तर प्रदेश के शिक्षा मन्त्री श्री हरगोविन्द सिंह गोंडा जिले में मलावां स्थित सेवा ग्राम के रचनात्मक कार्य कर्ताओं के आश्रम में समाज शिक्षा के अन्तर्देशीय सेमिनार में भाषण कर रहे हैं, सेमिनार के संचालक बाबा राघव दास भी बैठे हैं।

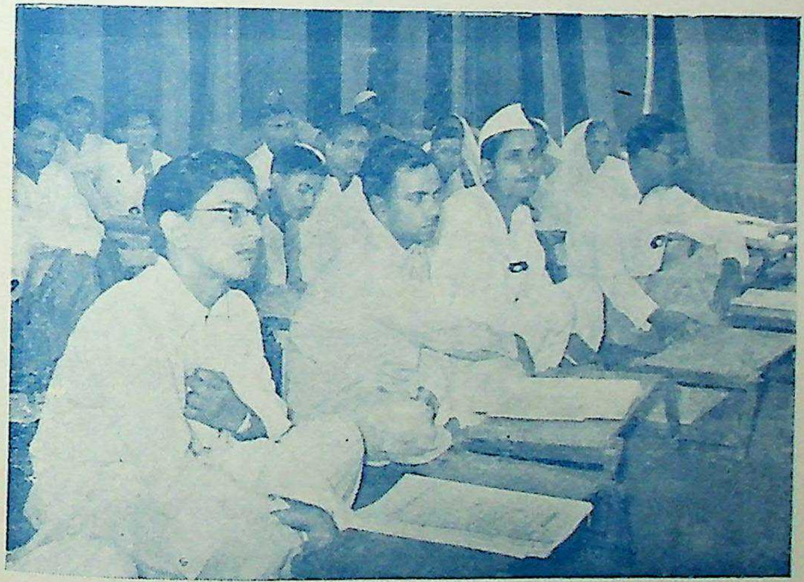

सेमिनार में आये सदस्यों एवं कार्य कर्ताओं का समूह शिक्षा मन्त्री का भाषण सुनते हुए।

छात्राध्यापक कटी हुई फसल को इकट्ठा करते हुए।

प्रशिक्षण केन्द्र रुद्रपुर का एक छात्राध्यापक फसल काटते हुए।

प्रदेश

प्रदेशीय शिक्षा-परिषद्

उत्तर प्रदेशीय शासन ने शिक्षा-पुनर्व्यवस्था की योजनाओं के सम्बन्ध में एक प्रदेशीय शिक्षा-परिषद की स्थापना की है जिसके अध्यक्ष स्वयं मुख्यमंत्री हैं तथा शिक्षा-मंत्री उपाध्यक्ष। इसके सदस्यों में सूचना एवं सिंचाई मंत्री, कृषि एवं माल मंत्री, स्वायत्त शासन मंत्री, नियोजन उप मंत्री, सूचना-सचिव, शिक्षा, सूचना तथा कृषि विभागों के संचालक, अतिरिक्त शिक्षा संचालक, उद्योग उप संचालक, तथा शिक्षा के विशेष पदाधिकारी, श्री बी० डी० भट्ट हैं, जो परिषद के सेक्रेटरी भी हैं। शिक्षा-पुनर्व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षा को प्रदेश की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से अधिक वास्तविक सम्पर्क स्थापित कराना है जिससे भावी विद्यालयों से निर्गत छात्र अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को समझने तथा किसी उपयोगी व्यवसाय में कार्यलीन हो सकने योग्य आदर्श नागरिक बन सकें।

परिषद के विधान सभा भवन में **२४ अप्रैल, १९५४ को हुये प्रथम सम्मेलन में** मुख्य-मंत्री पं० गोविन्द वल्लभ पंत ने कहा कि शिक्षा इस प्रकार से दी जानी चाहिए कि उसमें मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साधनों की शिक्षा हो सके और मानव-कार्यक्षेत्र के जितने भी कार्यकलाप हैं उनसे सम्पर्क बना रहे। अत: पुनर्व्यवस्थित शिक्षा के अन्तर्गत विद्यालयों को सामुदायिक केन्द्र बन जाना चाहिए जिससे विद्यार्थी जिस विद्यालय में जाते हों उससे उनका पूरा-पूरा सम्बन्ध हो और अध्यापक का भी सम्बन्धित क्षेत्र के साथ नाता रहे। ऐसे अध्यापकों को वास्तव में प्रसाराधिकारी कहना अधिक उपयुक्त होगा। आपने शिक्षा के पाठ्यक्रम में सामाजिक शिक्षा को आवश्यक बताया। उन्होंने यह भी कहा कि समय इस प्रकार विभाजित होना चाहिए कि आधा पढ़ाई में लगे तो आधा कृषि अथवा दस्तकारी में, फिर चाहे दिन के घंटे ही बाँट लिये जायँ या सप्ताह के तीन-तीन दिन तदर्थ नियोजित किये जायँ। उन्होंने विद्यालयों के सुचारु रूपेण परिचालन के निमित्त अन्य विभागों के सहयोग की भी नितान्त आवश्यकता बताई। उन्होंने आगे कहा कि यदि हम अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप अपनी कृषि २५ प्रतिशत भी बढ़ावें तो २५ करोड़ रुपये की प्रदेशीय आय बढ़ जायगी। इसके अतिरिक्त हम प्रदेश में सहस्त्रों प्रदर्शनीय कृषि क्षेत्र 'डिमांस्ट्रेशन प्लाट' बना लेंगे जिनसे लोगों को उत्साह प्राप्त होगा। इसी प्रकार अन्य दस्तकारियों को भी लेना है जिनकी खपत सम्बन्धित क्षेत्रों में हो सके। परन्तु दस्तकारियों में कृत्रिमता नहीं आनी चाहिये और अपने क्षेत्रों में उन्नति पाने की उनमें सामर्थ्य होनी चाहिए। मुख्य मंत्री-शिक्षा-कोष में प्राप्त धन पर प्रसन्नता प्रगट करते हुए उन्होंने जनता तथा विद्यालयों के सहयोग की सराहना की और यह आदेश दिया कि किसी से दबाव डाल कर किसी किस्म का पैसा नहीं लिया जाना चाहिये।

परिषद के नैनीताल में २९-६-५४ को हुए **द्वितीय सम्मेलन में मुख्य-मंत्री ने पुनः**

कहा कि इस योजना के सफल कार्यान्वयन में अन्य विभागों को भी, और मुख्यतः कृषि तथा नियोजन विभाग को, उतना ही भाग लेना है जितना शिक्षा विभाग को। कृषि विभाग को तो, उन्होंने कहा, इन अध्यापकों को अपने गोद लिये बालक के समान समझना चाहिए यदि शिक्षा विभाग भी उन्हें अपना समझे। अभिप्राय यह है कि यह काम दोनों का ही है, और नियोजन विभाग का भी, और शायद कृषि विभाग इसका मुख्याधार है। उक्त विभागों के स्थानीय-निरीक्षक आदि को भी इन अध्यापकों के सहयोग में काम करना चाहिए। मुख्य-मंत्री ने उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में भी इस योजना को आरम्भ किये जाने की ओर संकेत किया।

प्रदेशीय शैक्षिक सेवा-सङ्घ

प्रदेशीय शैक्षिक सेवा-संघ के पाचवें अधिवेशन का इस वर्ष गत् २६ अप्रैल को शिक्षा-मन्त्री ने प्रयाग में उद्घाटन किया। उन्होंने शिक्षा पुनर्व्यवस्था का जिक्र करते हुए कहा कि आजकल के शिक्षा सुधारों का देश के सुखद भविष्य से सीधा संबन्ध है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे कार्यकर्त्ता ऐसे हों जिनकी उनमें आस्था हो क्योंकि यह बात तो अशोभनीय एवं अक्षम्य होगी कि कोई उसकी निन्दा भी करे और उसे कार्यान्वित करने का ढोंग भी रचे। हाँ योजना के प्रति स्वतन्त्र विचार तथा रचनात्मक सुधार के सुझाव यदि कोई दे तो उसका अवश्य स्वागत किया जायगा। उन्होंने विभाग की उस प्रवृत्ति के प्रति भी क्षोभ प्रगट किया जिसमें नीचे वाले अपने उत्तरदायित्व को उच्चाधिकारियों पर फेंक देते हैं अथवा उच्चाधिकारी अपने में ही सारी शक्ति को निहित कर लेना चाहते हैं। ऐसे अधिकारियों से, जो केवल कागजों को इधर से उधर बढ़ा देने मात्र का काम करते हों, उन्होंने अपने में आत्म-विश्वास तथा इनीशियेटिव विकसित करने को कहा। उन्होंने संघ की माँगों से सहानुभूति प्रगट करते हुए इस बात का आश्वासन दिया कि शासन उनकी माँगों की ओर से विमुख नहीं हो सकता क्योंकि इससे कार्यकर्ताओं में निराशा तथा अकर्मण्यता का उदय होगा। परन्तु यह विषय गौण है और मुख्य विषय है कर्त्तव्य पालन का, क्योंकि शिक्षा पर व्यय होने वाला अधिकांश धन निर्धनों से प्राप्त होता है जिनमें से बहुतों को शायद उससे कोई भी लाभ न होता हो, अर्थात् समस्या का एक सामाजिक पहलू भी है जिसका विस्मरण नहीं किया जा सकता।

श्री श्याम बिहारी लाल, उप शिक्षा संचालक प्रथम, ने स्वागत भाषण में कहा कि संघ ने अपने जीवन के अल्प काल में अपने स्वार्थों के हेतु न्यूनाधिक सफलता प्राप्त की है किन्तु इस प्रकार के आत्मपरितोष की भावना से बचना चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में अनेक ऐसे उपयोगी कार्य हैं जो बिना किसी व्यय के कार्यान्वित किये जा सकते हैं। बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की दिशा में उसे स्वतन्त्रतापूर्वक पढ़ने, विचार करने तथा तर्क करने की परिस्थितियाँ अभी नहीं उत्पन्न हुई हैं। अभी तो पुस्तकों अथवा अध्यापकों का ही बोलबाला है। वाद-विवाद, मनोरंजन, साहित्य-रचना,

आदि की कमी है। इसके अतिरिक्त, बालक के चरित्र पर विशेष बल देना है। उत्तरदायित्व तथा नेतृत्व की भावना, बड़ों के प्रति आदरभाव, संयम, सेवा, सचाई तथा ईमानदारी आदि की प्रवृत्तियाँ बालकों में जाग्रत करने की नितान्त आवश्यकता है। समय की प्रगति तक साथ-साथ अब तो वास्तव में 'खुले पुस्तकालय तथा बिना निरीक्षकों के परीक्षा' संचालन की योजना होनी चाहिए। श्री एस० सी० कपूर उप शिक्षा संचालक ने सभापति के पद से कहा कि हमें गर्व है कि प्रदेश में प्रवीन कृषि केन्द्रित शिक्षा को प्रयोग में ला, हम अन्य प्रदेशों के समक्ष ऐसा ही अग्रिम कार्य कर रहे हैं कि जैसे आज से १५ वर्ष पूर्व बेसिक शिक्षा के प्रसार द्वारा हमने किया था। आशा है कि समयांतर से इस योजना के प्रयोग द्वारा हम वास्तव में सर्वोत्तम शिक्षा प्रणाली को विकसित कर सकेंगे। उन्होंने संघ की ओर से योजना में पूर्ण एवं हार्दिक सहयोग का विश्वास दिलाया।

सामाजिक शिक्षा गोष्ठी

विगत ८ मई को जिला गोंडा से ७० मील दूर मलावाँ ग्राम में सामाजिक शिक्षा गोष्ठी (सेमीनार) का उद्‌घाटन मुख्य-मंत्री पंडित गोविंद वल्लभ पंत जी ने किया। इस गोष्ठी का प्रस्ताव श्रीमती सज्जन देवी, एम० एल० ए० ने किया था और आयोजन बाबा राघवदास जी के द्वारा हुआ था। इसमें पूर्वी बंगाल, पंजाब, सौराष्ट्र, बिहार, बम्बई तथा मध्यप्रदेश एवं दक्षिण भारत आदि के पचासों प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। मुख्य-मंत्री ने अपने भाषण में कहा कि हमारी शिक्षा में अब तक छात्र और उसके वातावरण के बीच एक बड़ी खाई रही है। उन्होंने बताया कि सामाजिक शिक्षा का लक्ष्य एक नये प्रकार के मनुष्य का सृजन है जो वास्तव में सेवक हों और भारतीय समाज के लिए एक रत्न, जिससे समाज के साथ उसका एकाकार हो सके और जिस से उसे आनन्द एवं उमंग की निधियाँ प्राप्त हों। इसकी सिद्धि के हेतु यह आवश्यक है कि देहात का विद्यार्थी अपने वातावरण में इतनी रूचि जाग्रत करे कि वह उसे छोड़ कर नगर-प्रयाण की अभिलाषा न रखे। उन्होंने आगे कहा कि सामाजिक शिक्षा द्वारा विद्यार्थी में यह भाव उत्पन्न होना चाहिये कि वह समाज का एक अविच्छिन्न अंग है और सहयोग पूर्ण जीवन के प्रति उसमें सम्मान होना चाहिये। उसे यह ज्ञात होना चाहिये कि सामाजिक निर्धनता किस सीमा तक उसके अध्ययन में बाधा स्वरूप रही है और फिर भी जो कुछ ज्ञान उसने प्राप्त किया है वह उसके पूर्वजों के प्रयत्नों के फलस्वरूप एवं धरोहर में मिला है और अकेले व्यक्तिगत स्थिति में वह कुछ न कर पाता। पं० पंत ने यह भी कहा कि नवीन शिक्षा से छात्र की मौलिकता तथा तत्परता को प्रोत्साहन मिलना चाहिये जिससे वह कृषि शिक्षा, स्वास्थ्य विज्ञान, आदि में अपनी परिस्थितियों तथा योग्यता के अनुकूल नवीन योजनायें प्रस्तुत कर सके। दूसरे दिन शिक्षा-मंत्री ने वहाँ पधार कर गोष्ठी में भाषण किया और सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र एवं महत्व पर प्रकाश डाला।

अन्य प्रदेश

१. पेप्सू

इस प्रदेश में प्रारम्भ में केवल ६६२ अप्रारम्भिक पाठशालायें थीं जिनमें से अधिकांश में एक ही अध्यापक था और सामान भी कम ही था तथा अध्यापक सभी अप्रशिक्षित थे। परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रथम मंत्रि-मण्डल ने १०८ पाठशालायें तथा राष्ट्रपति के शासनकाल में ६१४ नये प्रारम्भिक स्कूल खोले गये जिससे गत वर्ष उनकी संख्या १८०० से ऊपर हो गई थी। शासन अपने लगभग ७ करोड़ के बजट में से १ करोड़ शिक्षा पर व्यय करता है जो देश के उत्तम प्रदेशीय अनुपातों में से है।

योजना है कि जिस गाँव में भी स्कूल चल सकता है वहाँ स्कूल कायम किया जाय जिससे थोड़ा ही पैदल चलने पर लड़के वहाँ पहुँच जायें। प्रारम्भिक कक्षाओं में छात्र-छात्राओं दोनों को साथ पढ़ने की आज्ञा भी दे दी गई है जिससे काफी लाभ उठाया जा रहा है। पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत दो-दो अध्यापकों वाले स्कूल खोले गये हैं और इसी प्रकार के १०० अन्य स्कूल 'फाइनेन्स कमीशन' की आर्थिक सहायता द्वारा तथा केन्द्रीय शासन की बेकारी-निवारण योजना के अन्तर्गत एक अध्यापक वाले भी ७०० स्कूल खुले हैं। इन सभी प्रारम्भिक पाठशालाओं को बेसिक ढंग पर लाने का विचार है। अतः प्रान्त की राजधानी नाभा में एक बेसिक ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट भी स्थापित किया गया है और वहाँ पढ़ाने के लिए जामिया मिल्लिया, दिल्ली में ६ प्रशिक्षित स्नातक शिक्षार्थ भेज दिये गये हैं। पाठ्यक्रम में भी संशोधन हो रहा है। इसके अतिरिक्त ११०० सामाजिक शिक्षण केन्द्र भी संगठित हुए हैं जिनमें एक-एक अवैतनिक अध्यापक कार्य करते हैं और १६,५०० प्रौढ़ उनमें शिक्षा पा रहे हैं। साथ ही फरीदकोट तथा जिन्द के नार्मल स्कूलों में क्रमशः ३२६ तथा २१० पूर्व माध्यमिक स्तर के अध्यापक प्रशिक्षित किये जा रहे हैं। इसी प्रकार जनता द्वारा चलाये गये ऐसे ही प्रशिक्षण विद्यालयों में २४६ व्यक्ति शिक्षा पा रहे हैं। १९५२-५३ में हाई स्कूलों की संख्या ११८ थी जो अब १४० है। उनमें से २० छात्राओं के विद्यालय हैं, जिनमें पहले के केवल १५ हैं। सभी विद्यालयों की संख्या में १२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है और सभी प्रकार के विद्यालयों की छात्र-संख्या अब २३३८३ है जो पूर्व छात्र-संख्या से १० प्रतिशत बढ़ी हुई है।

२. मध्य भारत

विगत २३ जून को शिक्षा विभाग में मंडलीय उप शिक्षा संचालकों, जिला विद्यालय निरीक्षकों, और निरीक्षिकाओं का एक सम्मेलन बुलाया था जो तीन दिन तक चला। इसमें पंचवर्षीय योजना के परिचालन, टेकनिकल तथा वोकेश्नल शिक्षा, बेकारी, विद्यालय-भवन,

अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा तथा अन्य अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर वार्ता तथा वादविवाद हुआ। सम्मेलन शिक्षा-मन्त्री द्वारा सम्बोधित किया गया था और दूसरे दिन विकास-कमिश्नर ने भी नेशनल एक्सटेनशन ब्लाक पर सदस्यों से बातचीत की। प्रदेश की द्वितीय बेसिक शिक्षा परिषद की बैठक भी ग्वालियर में २१-६-५४ को हुई जिसमें भावी कार्यक्रम के विषय में अनेक निर्णय लिये गये। विभाग के शिक्षण चलचित्र वानों ने इन दिनों २४ चित्र दिखाये जिन्हें अनुमान है कि लगभग १५ हजार व्यक्तियों ने देखा।

३. विहार

केन्द्रीय शासन द्वारा निर्मित बेकारों को नौकरी देने की योजना के अन्तर्गत विहार में २५० सामाजिक शिक्षा केन्द्र खोले गये हैं। इनमें से हर एक पर एक एक हजार रुपया व्यय होने का अनुमान है जो शिक्षक के वेतन, सामान तथा आकस्मिक व्यय में लगेगा। शिक्षक निम्न प्रकार के काम करेंगे :

१—साक्षरता तथा नागरिकता की शिक्षा, जो साढ़े तीन घंटे चलेगी,
२—स्थानीय जन-पुस्तकालय में मंत्री-पद का भार-वहन,
३—नित्य प्रातःकाल शारीरिक व्यायाम की कक्षाओं तथा अखाड़ों का आयोजन,
४—बाल-क्लब का संगठन, और
५—स्थानीय क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्यों का परिचालन।

ये सभी केन्द्र औद्योगिक तथा मुख्य नगरों में खोले गये हैं। इन पर गत वर्ष में दो लाख चालीस हजार रुपया व्यय होने का अनुमान किया गया था जिसमें आधे का भार प्रदेशीय शासन को वहन करना था।

केन्द्र

नवसाक्षरों के हेतु साहित्य-सृजन

केन्द्रीय शासन फोर्ड फाउंडेशन की आर्थिक सहायता से नवसाक्षरों की शिक्षा के हेतु साहित्य-सृजन की दृष्टि से, देश के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं के चार स्थानों में प्रशिक्षण कार्य चला रहा है। इस प्रकार का प्रथम केन्द्र अगस्त १९५३ में दिल्ली में चला था, जहाँ उत्तर प्रदेशीय शिक्षा विभाग के भी कुछ व्यक्ति शिक्षार्थ गये थे। इस प्रकार का दूसरा प्रशिक्षण विगत जनवरी में मैसूर में चलाया गया था जो एक महीना चला और जिसमें आन्ध्र, कुर्ग, हैदराबाद, मद्रास, मैसूर तथा त्रावनकोर, कोचीन के २५ लेखकों ने भाग लिया। इन लेखकों ने नवसाक्षरों के हेतु साहित्य के उत्पादन तथा सिद्धान्तों एवं प्रणालियों का अध्ययन किया और नमूने तैयार करने में अभिरुचि ली। पश्चिमी भारत का केन्द्र बन्हाला (बम्बई) में फरवरी मास से प्रारम्भ हुआ और

उसमें मराठी, गुजराती तथा हिन्दी बोलने वाले क्षेत्रों के २५ लेखकों को इस कला की शिक्षा दी गयी । इन प्रशिक्षितों ने साधारण तथा देहातों में बोले जाने वाले शब्दों की एक सूची बनाई और नवसाक्षरों की रुचि, प्रवृत्ति तथा योग्यता की जाँच के निमित्त एक खोज भी किया गया ।

प्राचीन भारतीय पुस्तकों का अनुवाद

सांस्कृतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत यूनेस्को ने एक योजना बनाई है जिसके अनुसार पूर्व की, मुख्यतया भारत, जापान, तथा चीन की, मुख्य-मुख्य पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी भाषा में किया जायगा । इसका अभिप्राय पूर्व तथा पश्चिम का सांस्कृतिक आदान-प्रदान विकसित करना है । केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के इंडियन नेशनल कमीशन फार यूनेस्को, पेरिस स्थित सचिवालय ने इस प्रकार की १०, १५ पुस्तकों की सूची मांगी है । अतः जब तक एकेडेमी आफ लेटर्स, जिसे केन्द्रीय शासन स्थापित कर रहा है, अस्तित्व में नहीं आ जाता तब तक निम्नलिखित ख्याति प्राप्त तथा भाषा समितियों द्वारा संस्तुत पुस्तकें केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री द्वारा कमीशन के सभापति की हैसियत से स्वीकृत की गई हैं ।

(१) गोदान	.... प्रेमचन्द
(२) कृष्णकांत का वसीयत नामा	... बंकिम चन्द्र चटोपाध्याय
(३) तिरुकुरल	... तिरुवलुवर
(४) कम्ब रामायण	... कम्बन
(५) ज्ञानेश्वरी	.... ज्ञानेश्वर
(६) तुकारामोह अहंग	... तुकाराम
(७) रामचरित मानस	... तुलसीदास
(८) कामायनी	... जयशंकर प्रसाद
(९) कुरानशरीफ के अध्ययन की भूमिका	.... मौ० अबुल कलाम आजाद

इनमें से १, २, ४, ५, ६, ७ तथा ९ का अनुवाद अंग्रेजी में होगा तथा ३ एवं ८ का फ्रांसीसी में क्योंकि इनका अनुवाद अंग्रेजी में हो चुका है ।

सामाजिक शास्त्र की शिक्षा

अभी कुछ समय पूर्व यूनेस्को द्वारा दक्षिण एशिया में सामाजिक शास्त्रों की शिक्षा की स्थिति के परीक्षण पर दिल्ली में एक सम्मेलन आयोजित हुआ था । इसमें बर्मा, लंका, हिन्देशिया, मलाया राज्य, पाकिस्तान तथा स्याम ने भाग लिया । सम्मेलन का सभापतित्व लन्दन के एक समाज-शास्त्र के प्रोफेसर श्री मार्शल ने किया था । इसमें संस्तुति की गई कि सामाजिक शास्त्र की पुस्तकें इस प्रकार की निर्मित की जायँ कि उनसे स्थानीय

आवश्यकताओं की पूर्ति हो और उसी से मेल खाते हुए शिक्षण-पद्धति का भी अनुसरण किया जाय। इसमें नियुक्तियों के विषय पर भी विचार किया गया क्योंकि कुछ स्थानों में जितनी माँग है उतने अध्यापक नहीं मिलते। अत: यह कहा गया कि विश्वविद्यालयों के सहयोग से विदेशी सेवा, स्वास्थ्य, श्रम, तथा ग्राम सेवा आदि के विभागों के हेतु राजकीय अधिकारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध हो। यह भी संस्तुति की गई कि दक्षिण एशिया में राष्ट्रीय समाजशास्त्र खोज समितियों की स्थापना हो, जिनसे खोज को प्रोत्साहन तथा सहयोग प्राप्त हो और उनसे शासन, विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थायें परामर्श कर सकें।

विदेश

रूस

रूस की राजधानी मास्को में एक बाल-पुस्तकालय है जिसके विभिन्न विभागों में बालकों की नित्य भीड़ लगी रहती है जो अपनी प्रवृत्ति तथा इच्छा के अनुसार साहित्य का लाभ लेते हैं। यह तो अन्य स्थानों में भी हो सकता है किन्तु यहाँ की विशेषता यह है कि यहाँ साहित्य स्रष्टा, आलोचकों, सम्पादकों, कलाकारों तथा प्रकाशकों आदि का एक समागम होता है और वे फिर बालकों, अध्यापकों, युवक संस्थाओं एवं पुस्तकालयों के कार्यकर्ताओं के सम्पर्क में आते हैं। इनमें पारस्परिक स्वतंत्र वार्ता एवम् वादविवाद चलते हैं और लेखकों को पाठकों से उनकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में सम्मति प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार वाद-विवाद बालकों से विद्यालयों, बाल पुस्तकालयों तथा बालकों के एकत्र होने के अन्य केन्द्रों में भी आयोजित किये जाते हैं जिससे बालकों की प्रतिक्रियाओं तथा उनकी मांगों का पता चलता है। इससे इस बात का अनुभव प्राप्त होता है कि ज्ञान तथा मनोरंजक साहित्य के प्रति विभिन्न अवस्था के बालकों में कैसी प्रवृत्तियाँ उद्दीप्त हुआ करती हैं।

हिन्देशिया

हिन्द एशिया के बन्दुङ्ग स्थान में जुलाई सन् १९५० से बहुसंख्यक अध्यापकों को लिखित पाठों द्वारा प्रशिक्षित करने की एक नवीन प्रणाली का शिक्षा सुधार की दृष्टि से श्री गणेश किया गया था। इसका प्रधान उद्देश्य पाठों के निर्माण, प्रकाशन तथा वितरण का है जो देश भर में अध्यापकों के पटवर्षीय प्रशिक्षण के निमित्त काम आ सके। यहाँ पर चुने हुये अध्यापक तथा शिक्षा के विशेषज्ञ पाठों की रूप रेखा निर्धारित तथा प्रस्तुत करते हैं। पाठ्य क्रम का सम्बन्ध प्रारम्भिक शिक्षा में प्रयुक्त विषयों से होता है। पाठों के प्रकाशन के पूर्व वे पाँच सदस्यों के एक 'लेखक समिति' द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं। ये पाठ एक सचित्र साप्ताहिक के रूप में वितरित होते हैं। निरीक्षण से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिये विशेषांक भी निकाले जाते हैं। सभी

पाठ देश की राष्ट्रीय भाषा (बहासा इन्डोनेशिया) में छपते हैं। प्रशिक्षितों का प्रथम दल १९५१ में निकला था। जिन्होंने प्रातः साढ़े सात से ग्यारह बजे तक नवीन प्राथमिक पाठशालाओं में अध्यापन कार्य किया तथा अपरान्ह में वे उपयुक्त पाठों के अध्ययन में व्यस्त रहते थे।

दक्षिण अफ्रीका

दक्षिण अफ्रीका के ट्रान्सवाल प्रान्त की सुवर्ण नगरी जौहान्सबर्ग में हिन्दी-विद्या-मन्दिर द्वारा भारतीयता का प्रेरणात्मक कार्य किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में आज से कुछ समय पूर्व भारतीय भव्य, आकर्षक, कला पूर्ण, प्राकृतिक व अपूर्व सजावट के साथ पाटीदार हाल में बड़े ही उत्साहपूर्ण समारोह के साथ संस्था के केन्द्रीय अध्यक्ष डा० वल्लभ भाई गोविन्द जी पटेल के सभापतित्व में ईश्वर स्तुति व राष्ट्र वन्दना सहित संस्था का चतुर्थ प्रमाण पत्र वितरणोत्सव का विविध कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया और इस अवसर पर दक्षिण अफ्रीका स्थित भारतीय हाई कमिश्नर के उप सचिव श्री जगदीश लाल मेहरोत्रा जी का स्वागत भी हुआ।

सर्व प्रथम देश विदेशों से आये हुए शुभ संदेश प्रस्तुत हुए, जिनमें हिन्दी के प्राण राजर्षि श्री पुरुषोत्तम दास जी टंडन, भूदान यज्ञ के प्रणेता आचार्य श्री विनोबा भावे, देशमूर्ति श्री पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत लोक सभा के अध्यक्ष श्री मालवङ्कर, केन्द्रीय शासन के शिक्षा, स्वास्थ्य, वित्त, गृह, यातायात एवं उत्पादन मंत्री, पटियाला के महाराजा, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, विन्ध्य प्रदेश के उपाध्यक्ष, कनाडा, युनाइटेड किंगडम तथा ईस्ट अफ्रीका के हाई कमिश्नर एवं बड़े-बड़े तत्व ज्ञानी, कलाकार व सम्पादक आदि थे जिन्होंने प्रदेश में हो रहे इस कार्य की प्रशसा करते हुए, इसे निरन्तर आगे बढ़ाते रहने की अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित कीं थीं। एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के प्रधान श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने अपने संदेश में यह बल पूर्वक बताया कि हिन्दी भाषा को दुनिया की भाषाओं में समान हक मिलना चाहिए क्योंकि हिन्दी भाषा दुनिया की बोली जाने वाली भाषाओं में अंग्रेजी और चाइनीज़ के बाद तीसरी आती है।

श्री मलहोत्रा जी ने सफलता पाने वाले विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र वितरित करते हुए व अभिनन्दन देते हुए कहा कि हिन्दी भारत की प्राचीन संस्कृति को जोड़ने वाली एक शृङ्खला है और इसका उद्देश्य सत्य, अहिंसा तथा निस्वार्थ सेवावृत्ति है। संस्था के प्रति अपने कुछ हार्दिक उद्गारों को प्रकट करते हुए उन्होने आगे यह भी कहा कि हिन्दी विद्या-मन्दिर आज पाँच साल से काम कर रहा है और इसके सम्पर्क में आने से इसमें मुझको जितनी भारत-भक्ति दिखाई दी है वह सचमुच ही सराहनीय है। अतः जनता को इस संस्था को अपना कर पूर्ण सहयोग देना चाहिए ताकि आपके अपने बच्चे भारतीय

वातावरण में सच्चे भारतीय बन इस देश में अपने गुणों से अपना सर्वस्व प्राप्त कर गौरव के साथ रह पायें। डा० वल्लभ भाई पटेल ने अध्यक्ष पद से हिन्दी भाषा का अलग-अलग दृष्टि-कोण से उल्लेख करते हुए यह बताया कि यहाँ के युवकों के सांस्कृतिक जीवन में उन्नति होनी ही चाहिये और उन्होंने मानव जीवन के वास्तविक स्थान को बताते हुए युवकों से आचार्य विनोबा भावे के 'सर्वोदय' की ओर झुकने का संकेत भी किया।

सम्पादकीय

अनेकांगी शिक्षा

शिक्षा की प्रवृत्ति इस समय देश के ही अनेक प्रान्तों में क्या अनेक विदेशों में भी रचनात्मक तथा उत्पादक कार्यक्रम की दिशा में बड़ी तीव्र गति से होती जा रही है। इस प्रवाह से कहीं की शिक्षा प्रणाली अक्षुण्ण रह जाय, ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता और न इसे विपरीत दिशा में विरत करना ही उचित होगा। विशेषतया हमारे देश तथा प्रान्त के लिए, जहाँ आबादी की बाढ़ रुकना ही न जानती हो, खाने की कमी हो और व्यक्ति की औसत आय अत्यन्त निम्नस्तर पर हो, औद्योगीकरण नितान्त आवश्यक है ही जिसमें प्रत्येक नागरिक अपने श्रम द्वारा कुछ-न-कुछ उत्पन्न कर सके। वास्तव में महात्मा गाँधी का यह कथन कि जो बिना श्रम किये खाता है वह पाप खाता है, आज पहले से भी अधिक सार्थक प्रतीत होने लगा है।

हमारी पहले की शिक्षा विदेशी शासन के दृष्टिकोण के अनुसार कुछ अंग्रेजी ढंग पर आवश्यक कर्मचारी उत्पन्न करने की थी और अब तक भी स्थिति पहले से अधिक भिन्न नहीं है। हमारे अधिकांश शिक्षालय अब भी पुस्तकीय तथा एकांगी शिक्षा देते हैं जिसमें सामाजिक जीवन-व्यापार का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता और व्यक्ति की सर्वांगीण शिक्षा संभव नहीं होती; उसकी भावनाओं, प्रवृत्तियों, संकल्प, स्वतंत्र विचार, सहयोग तथा इनिशिएटिव की शिक्षा को अवकाश नहीं मिलता। शिक्षा का लक्ष्य तो ऐसे नागरिक उत्पन्न करना है जो स्वतन्त्र भारत में अपने सामाजिक तथा आर्थिक उत्तरदायित्व को समझें तथा तद्नुसार कर्तव्यपरायण आचरण कर सकें। संसार में केवल ज्ञान सब कुछ नहीं होता। उसके साथ-साथ व्यक्ति के सम्मुख सच्चे आदर्श होने चाहिएँ और उसे सही सामाजिक शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे समय-समय पर आने वाले संकटों एवं संघर्षों से अभिभूत वह पथ भ्रष्ट न हो और ऐसी प्रवृत्तियों से, जिनसे विभेद तथा संकुचितता को प्रोत्साहन मिलता हो, लड़ सके। इसीलिए शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता है और उसे एकमार्गी न होकर अनेक दिशाओं की आवश्यकता-पूर्ति करनी है। वास्तव में जिस शिक्षा का देश की आवश्यकताओं तथा आदर्शों से सम्पर्क नहीं वह शिक्षा ही नहीं है। अपनी वर्तमान निर्धनता को देखते हुए उसमें उत्पादनशीलता की दिशा में प्रयत्नों का समावेश अत्यावश्यक है। अब तक की शिक्षा में चरित्र-निर्माण तथा देश को समृद्ध बनाने के यत्न कम थे।

इसी भावना से प्रेरित माध्यमिक शिक्षा-सुधार सम्बन्धी केन्द्र की मुदालियर समिति तथा उत्तर प्रदेश शासन द्वारा नियोजित नरेन्द्रदेव समिति ने अपने विवरणों में शिक्षाक्रम

स्थानविशेष तथा छात्रों की प्रकृति-वैचित्र्य का ध्यान रखते हुये विभिन्नता लाने की संस्तुति की है – उत्तरप्रदेश में तो वैसे आज से पांच छः वर्ष पूर्व से ही इस प्रकार के ए०–साहित्यिक, बी०–वैज्ञानिक, सी०–रचनात्मक तथा डी०–कलात्मक नाम के चार ग्रूप प्रचलित हैं। इस वर्ष पाठ्यक्रम में और भी परिवर्तन हुये हैं जिनके अनुसार मुख्य तथा अनिवार्य का भेद मिटा दिया गया है और छात्रों के निर्वाचनार्थ धुलाई, सिलाई, रंगाई, रफूगीरी, नृत्य आदि विषय बढ़ा दिये गये हैं। परिणामस्वरूप अब उपर्युक्त श्रेणियों का रूप भी सी–कृषि, डी० वाणिज्य, ई––रचनात्मक अथवा प्रीटेकनिकल तथा एफ–कलात्मक हो गया है। साथ ही अनेक विषयों में परस्पर परिवर्तन का अवकाश दे दिये जाने के कारण निर्वाचन का क्षेत्र विशेष विस्तृत हो गया है और वैकल्पिक विषयों में तो यह स्वतंत्रता अपरिमित सी हो गई है।

इस वर्ष शिक्षा के रचनात्मक कार्यक्रम में कृषि पर विशेष बल दिया गया है और अब हम प्रदेश के सहस्रों पूर्व माध्यमिक विद्यालयों में कृषि शिक्षा का श्रीगणेश कर रहे हैं। कुछ उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में भी इसे प्रारम्भ किया जा रहा है और विचार यह है कि ऐसे अधिकांश विद्यालयों में कृषि का प्रसार किया जाय। नगरों के विद्यालयों में स्थानीय सुविधा तथा आवश्यकतानुसार अनेक अन्य उद्योगों एवं निपुणताओं का भी प्रचार करने की योजना है। इस प्रकार हमारा अनुमान है कि हम शीघ्र ही प्रत्येक जिले में एक न एक विद्यालय को अनेकांगी शिक्षा देने योग्य बनाने में समर्थ हो सकेंगे। इस दिशा में हमें केन्द्रीय शासन से भी आर्थिक सहायता मिलने लगी है। भविष्य में हम और भी सहायता की आशा रखते हैं और आगामी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत हमारी धारणा है कि इस विषय में हम काफी प्रगति कर लेंगे।

तब हमारी शिक्षा संस्थाओं में विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम चल सकेंगे जिससे विविध रुचियों, प्रवृत्तियों एवं बुद्धियों की सेवा संभव हो सकेगी। विशिष्ट आयुस्तरों पर ये वृत्तियाँ प्रधानता ग्रहण करती हैं और तभी अनेक माध्यमों को प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। केवल पुस्तकीय शिक्षा से ही सब की तृप्ति नहीं हो सकती क्योंकि व्यक्ति के विकास के अनेक द्वार होते हैं और आधुनिक शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार बुद्धिमत्तापूर्वक संगठित क्रियात्मक कार्यक्रम में रूढ़िगत प्रणालियों की अपेक्षा किशोरावस्था की निहित शक्तियों को प्रस्फुटित करने की अधिक क्षमता होती है। इससे छात्र की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास को ही उचित अवसर नहीं मिलता वरन् पारस्परिक भेद-भाव के प्रतिकूल सहकारितापूर्ण उत्पादक तथा सद्बुद्धि के वातावरण की भी उपस्थिति होती है जिसमें नवयुवक एक जाग्रत एवं उपयोगी नागरिक की भाँति देश के सामाजिक पुनरुत्थान तथा आर्थिक उन्नति में प्रभावपूर्ण रूप में अपना भाग ले सके।

———

नियमावली

उद्देश्य

(१) शिक्षा-विभाग और जनता का सम्बन्ध घनिष्ट करना

(२) शिक्षा-सम्बन्धी नवीन योजनाओं का प्रामाणिक विवरण देना

(४) भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप प्रदेशीय शिक्षा-विधान की सुव्यवस्था में योग देना

(४) अध्यापन-कार्य में संलग्न व्यक्तियों का ज्ञानवर्धन तथा पथ-प्रदर्शन करना

(५) शिक्षा-प्रचार के पुण्य कार्य में जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करना

प्रकाशन

त्रैमासिक—वर्ष में चार अंक—जूलाई, अक्टूबर, जनेवरी, अप्रैल

मूल्य

वार्षिक मूल्य—सात रुपया (डाक-व्यय सहित), विदेश—दस रुपया

प्रति अंक—दो रुपया (डाक-व्यय सहित)

विज्ञापन

केवल विशुद्ध शिक्षा-सम्बन्धी-विज्ञापन स्वीकार किये जायँगे।

दर—पूर्ण पृष्ठ ४० रु० प्रति वार

अर्द्ध पृष्ठ—२५ रुपया प्रति वार

लेख

शिक्षा में प्रकाशनार्थ मौलिक लेख प्रबंध-सम्पादक के नाम भेजना चाहिये।

भारतीय संस्कृति, कला तथा शिक्षा-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख ही प्रकाशित किये जायँगे।

शिक्षा-सम्बंधी अनुसन्धान तथा प्रयोगों के विवरण विशेषरूपेण स्वीकार किये जायँगे

सचित्र लेखों के लिए उपयुक्त चित्रों के भेजने का उत्तरदायित्व लेखकों पर होगा।

अस्वीकृत लेख डाक-व्यय आने पर ही लौटाये जायँगे।

किसी लेख के स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का पूरा अधिकार सम्पादक मण्डल को होगा।

प्रकाशनार्थ प्राप्त लेखों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकेगा!

लेख हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी भाषा में सुस्पष्ट लिखे हुए होने चाहिएँ।

मिलने का पता—प्रबन्ध-सम्पादक, "शिक्षा",

अशोक मार्ग, लखनऊ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

Printed by Ram Nath Agarwal, at the Art Printers, Allahabad-3.
published by the Department of Education, U. P. Lucknow.

अक्टूबर

१९५४

शिक्षा

उत्तर-प्रदेश के शिक्षा-विभाग का मुख-पत्र

अक्टूबर, १९५४ वर्ष ७ अंक ३

शिक्षा

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री श्री हरगोविन्द सिंह के संरक्षण में प्रकाशित

शिक्षा-विभाग का सचित्र, त्रैमासिक मुख-पत्र

प्रधान सम्पादक—श्री भैरव नाथ झा

प्रबन्ध सम्पादक—श्री जगदीश चन्द्र वर्मा

सम्पादक मण्डल

१—अध्यापकों का शिक्षण	श्री. ए. काजमी, एम. ए., एम. एड. (लीड्स), संचालक, राजकीय अध्ययन-विज्ञान केन्द्र, प्रयाग
२—सामान्य विज्ञान	डा. बी.एस. हैकड़वाल, एम. ए., एल. एल. बी., पी. एच. डी. उपशिक्षा संचालक-प्रथम, इलाहाबाद
३—मनोविज्ञान	डा० सी. एम. भाटिया, पी. एच. डी (एडिन) संचालक, केन्द्रीय मनोविज्ञानशाला, प्रयाग
४—पुरातत्व	श्री एम. एम. नागर, संचालक, राजकीय कौतुकालय, लखनऊ
५—सैनिक शिक्षा तथा समाज-सेवा	श्री पी. एन. माथुर, संचालक, सैनिक शिक्षा तथा समाज-सेवा, लखनऊ
६—नियोजन	श्री डी. एन. चतुर्वेदी, एम. ए., एल टी, विशेष पदाधिकारी 'माध्यमिक शिक्षा', ४ ए, पार्क रोड, लखनऊ
७—प्राच्य विभाग	आचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, काशी, निरीक्षक, संस्कृत पाठशालाएँ तथा निरीक्षक अरबी मदरसे
८—वैज्ञानिक अनुसन्धान	सर के० एस० कृष्णन, संचालक, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, दिल्ली

लेखक सूची

		पृष्ठ
१. प्राचीन अभिलेखों में काव्य	श्रीकृष्णदत्त बाजपेयी, एम० ए०, पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा	१
२. प्राचीन भारत की राजकीय कर-व्यवस्था	आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, पोरबन्दर, काठियावाड़	८
३. प्रशिक्षण विद्यालय में अनुभव प्राप्त तथा अनुभव रहित छात्राध्यापकों की उपलब्धि विषयक अनुसधान	श्री लक्ष्मीलाल के० ओड़, लेक्चरर, विद्याभवन टीचर्स कालेज, उदयपुर....	१३
४. वैदिक साहित्य में राजाओं की शिक्षा	श्री अलखनिरंजन पांडेय, एम० ए०, बी. टी., आचार्य, सहायक निरीक्षक, संस्कृत पाठशालायें, काशी	२७
५. जूनियर हाई स्कूलों में कृषिशिक्षा: कुछ सुझाव	श्री राम कृष्ण अग्रवाल, नियोजन विभाग, लखनऊ	३१
६. मानसिक अन्तर्द्वन्द	श्री रामदेव श्रीवास्तव, एम० एड०, मनोविज्ञान केन्द्र, लखनऊ	४४
७. भूगोल की शिक्षा का महत्व तथा उद्देश्य	श्री जगतराम मिश्र, एम० ए०, एल० टी०, राजकीय बेसिक ट्रेनिंग कालेज, लखनऊ	३६
८. परीक्षा का मनोविज्ञान	श्री रामकिशोर पाषाण, काकावाड़ी, वर्धा	४६
९. आलोचना: समस्यायें तथा संभावनायें	श्री अजित कुमार, एम० ए०, लेक्चरर (हिन्दी विभाग), डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ...	५२
१०. संस्कृत शिक्षण में शुद्ध उच्चारण की महत्ता	श्री वी० एन० चौबे, एम० ए०, एम० एड, साहित्यिक सहायक, पाठ्य पुस्तक विभाग, लखनऊ	६२

११.	महाभाष्यकार पतञ्जलि के दृष्टिकोण का विश्लेषण	श्री राम शंकर भट्टाचार्य, टीकमणि संस्कृत कालेज, दशाश्वमेध, बनारस
12.	Towards better Teachers	Sri Dev Inder Lal, Director of Education, Bhopal. ... 77
13.	Agricultural Education under the New Education Scheme in U. P.	Dr. Ram Das, M.A.,Ph. D. (Wisconsin), Dy. Director of Education, (Reorientation Scheme), Allahabad. ... 94
14.	Teaching Profession : Some Observations	Dr. Somnath Sarraf, Research Officer, Govt. of India, Education Department, New Delhi. ...101
15.	Composite or Multilatral High Schools	Sm. Urmila Johri, M. A. (Col.) 11, Babar Lane, Delhi. ...105
16.	The Education System in Ancient India	Sri R. M. Thakur, Gurkula University, Kangri, (Hardwar)....111
17.	A few facts about our Boys	Psychological Research Wing, Defence Service Organizat on, Government of India, Delhi. ... 117
18.	Who will Teach Physcial Education ?	Sri M. Chaube, M.A., M.Ed., Principal, Govt. College of Physcial Education, Allahabad...122
19.	Theory and Practice in Teachers' Colleges (An Investigation)	Sri Bhagwan Dayal, M.A.,B.T., Vidya Bhawan Teachers' College, Udaipur. ...128
20.	The Folk Schools of Denmark	Sri Austin A. D'Souza, M. A., B. T., Dip. Ed. (London), Inspector of Anglo Indian Schools, 60B, Chowranghee, Calcutta. .. 135

			पृष्ठ
2 .	The Selection of Basic Craft: A psychological approach	Sri M. Khushdil, Coronation Hindu Degree College, Moradabad.	...140
22.	Test Reliability by Analysis of Variance	Sri S. N. Mehrotra, M.A.,B.Ed. (Edin), Psycholgist, Psychological Bureau, Allahabad.	...147
23.	Reorientation of the Objectives of the study of English	Sri C. P. Tandon, Pedagogical Institute, Allahabad.	...157
२४.	हमारे कार्यकलाप तथा कार्यक्रम		.... १७५
२५.	शिक्षा जगत के समाचार		.... १८७
२६.	संपादकीय		... १९६

१५ अगस्त, १९५४ को, जब प्रदेश के प्रत्येक जिले में पुनर्व्यवस्थित शिक्षा का उद्घाटन-समारोह मनाया गया, पं० गोविन्द वल्लभ पंत, मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश, बख्शी के तालाब, लखनऊ में सम्मेलन के उपरान्त कृषि फार्म का उद्घाटन कर रहे हैं।

वर्ष ७ **शिक्षा** अक्टूबर १९५४

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग का त्रैमासिक मुख-पत्र

प्राचीन अभिलेखों में काव्य

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी, एम० ए०,

अभिलेखों से यहाँ तात्पय उन प्राचीन लेखों से है जो पत्थर की चट्टानों, शिला-स्तंभों, ताम्रपत्रों आदि पर लिखे हुए मिलते हैं। प्राचीन भारत में जब पुस्तकों के मुद्रण की व्यवस्था नहीं थी और हाथ से लिखे जाने वाले ग्रन्थों का भी प्रयोग या तो नहीं था या बहुत कम था, उस समय भारत के विभिन्न भागों में शिलाओं और खंभों पर लेख खुदाये गये मौर्य सम्राट् अशोक से पहले के शिलालेख इने-गिने ही उपलब्ध हुए हैं। अशोक के लेखों की संख्या काफी बड़ी है। इस प्रियदर्शी सम्राट् ने अपने कर्मचारियों और प्रजा के लिए अनेक राजाज्ञाएँ जारी कीं और उन्हें भारत के विभिन्न प्रदेशों में पहाड़ की चट्टानों और ओपयुक्त (पालिशदार) खंभों पर उत्कीर्ण करवाया। अशोक के समय में प्रायः समस्त भारत में ब्राह्मी लिपि चलती थी, केवल उत्तर-पश्चिमी भाग में खरोष्ठी लिपि का चलन था। यह खरोष्ठी लिपि उर्दू की तरह दाहिने से बायें तरफ लिखी जाती थी। अशोक के लेखों की भाषा पाली है। यह उस समय जन-साधारण की भाषा थी और इसी लिए इसका प्रयोग किया गया। अशोक के इन अभिलेखों में शासन एवं समाज-व्यवस्था संबंधी जो विविध आदेश हैं उनके पढ़ने से पता चलता है कि इस प्रियदर्शी राजा अशोक को अपनी प्रजा का कितना अधिक ध्यान था और उसकी भलाई के लिए उसने किस प्रकार बहुमुखी कार्य किए।

अशोक के बाद अभिलेखों की परंपरा प्रायः अविच्छिन्न रूप से मिलती है। जिन गजवशों ने भारत के विभिन्न भागों में शासन किया उन्होंने अपनी विजय, संधि, शासन-व्यवस्था, धार्मिक कार्यों आदि का विवरण अभिलेखों में अंकित करवाया है। इन अभिलेखों से पता चलता है कि किस काल में किस-किस राजवंश का भारत में प्रभुत्व रहा है और उसके समय में किस प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक उत्थान-पतन हुए। यदि ये अभिलेख उपलब्ध न होते तो हमें प्राचीन भारत का इतिहास

जानने में बड़ी कठिनाई होती और अनेक युगों के संबन्ध में तो हम अन्य साधनों द्वा बहुत कम जान सकते। इसका कारण यह है कि लिखित रूप में प्राचीन भारत का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता और उसकी जानकारी के लिए हमें ऐतिहासिक अभिलेखों आदि पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

प्राचीन अभिलेखों के मुख्य विषय हैं–राजवंशों का वर्णन, विजय यात्रा, युद्ध, दान तथा जनता के हित में किये गए विविध कामों का उल्लेख। इन लेखों की रचना प्रायः राजदरबार के लेखकों और कवियों द्वारा गद्य अथवा पद्य में की जाती थी। इसके बाद इस रचना को पत्थर-तराशों या धातु-उत्कीर्णकों को दे दिया जाता था। वे निर्देशानुसार उस लिपिबद्ध रचना को पत्थर या विभिन्न धातुओं के पत्थरों पर खोद देते थे। मिट्टी के फलकों तथा लकड़ी आदि पर भी कुछ प्राचीन लेख मिले हैं पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। यद्यपि अधिकांश प्राचीन लेख ठीक प्रकार से उकेरे हुए मिले हैं पर कुछ लेखों में खुदाई करते समय अनेक अशुद्धियाँ हो गई हैं। कहां-कहीं भाषा सबधी दोष भी आ गये हैं। ऐसे लेख भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं जो विभिन्न आर्थिक एवं व्यापारिक संगठनों (श्रेणियों और निगमों) के द्वारा या विभिन्न धार्मिक संस्थाओं द्वारा अथवा संभ्रान्तवर्ग या जनसाधारण के द्वारा खुदवाये गए। इन अभिलेखों के उद्देश्य विविध प्रकार के होते थे। कुछ अभिलेखों में धर्मशाला, मंदिर, मठ और स्तूप बनवाने का ज़िक्र मिलता तो कुछ में समाज-उपयोगी संस्थाओं के लिये दान देने की चर्चा है। किन्हीं में शिल्प-व्यापार संबंधी विज्ञापन हैं तो किन्हीं में यज्ञादि धार्मिक क्रिया-कलापों, का या मूर्तियों के निर्माण और उनके प्रतिष्ठापन का उल्लेख है। कहीं भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान देने या भोजन कराने का वर्णन है तो कहीं सार्वजनिक उपयोग के लिये कुवां, प्याऊ, बगीचा आदि बनवाने का।

इस प्रकार ये अभिलेख भारत के इतिहास और संस्कृति पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। अधिकांश पुराने अभिलेखों की भाषा संस्कृत, पाली, या प्राकृत है। केवल कुछ लेखों को छोड़ कर शेष सभी ब्राह्मी या उससे निकली हुई लिपियों में हैं। अभिलेखों में तत्कालीन राजवंशों का वर्णन तथा संबंधित राजा के शासनकाल में कार्य विशेष का विवरण प्रायः सीधी-सादी भाषा में मिलता है। परन्तु ऐसे लेख भी मिले हैं जिनमें भाषा और भाव संबंधी अनेक विशेषताएँ हैं। कहीं शब्दालंकारों की छटा है तो कहीं कल्पना की ऊँची उड़ान। कहीं प्रकृति की सुषमा का चित्रण है तो कहीं विविध भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति। अनेक अभिलेखों के पढ़ने से मालूम होता है कि उनके रचयिता महान् कवि और कला-मर्मज्ञ थे। हम वाल्मीकि, भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, माघ आदि कवियों के विषय में उनके उत्कृष्ट ग्रंथों द्वारा जानते हैं। परन्तु अनेक प्राचीन कवि और लेखक, जिनकी रचनाएँ केवल पाषाण-खंडों या ताम्रपत्रों पर ही सुरक्षित रह सकी हैं, आज विस्मृत से हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे अभिलेखों से उदाहरण प्रस्तुत करेंगे जिनसे पता

चलेगा कि इन अज्ञातनामा साहित्य-रचयिताओं में भी कितनी प्रतिभा और कवित्व-शक्ति थी।

मंदसोर (मध्यभारत) से मालव संवत् ५२४ (४६७ ई०) का एक लेख मिला है जो एक शिलाखंड पर खुदा हुआ है। इस लेख की रचना रविल नामक कवि के द्वारा की गई। इस लेख में गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लड़के गोविन्दगुप्त का उल्लेख है। गोविन्दगुप्त के सेनापति वायुरक्षित के पुत्र का नाम दत्तभट था, जिसके द्वारा लोकहित के अनेक कार्य संपादित किये गये। उसने एक स्तूप का निर्माण कराया और उसके समीप एक कुवां, प्याऊ तथा वाटिका भी बनवाई। सर्वसाधारण के उपयोग के लिये उस कुएँ का उद्घाटन बसंत ऋतु में किया गय, जब कुआं बन कर तैयार हो गया था। उस अवसर का संक्षिप्त वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

भृंगांग भारालसचालपद्मे काले प्रपन्ने रमणीयसाले।
गतासु देशान्तरितप्रियासु प्रियासु कामज्वलनाहुतित्वम्॥
नात्युष्णशीतानिलकम्पितेषु प्रवृत्तमत्तान्यभृतस्वनेषु।
प्रियाधरोष्ठारुणपल्लवेषु नवां वहत्सूपवनेषु कान्तिम्॥

अर्थात् "कुवां और स्तूप आदि का निर्माण उस बसंत ऋतु में पूरा हुआ जब बाल कमल भौंरों के भार से झुक गये थे और शाल वृक्षों की शोभा रमणीय हो गई थी जब कि प्रोषितपतिका कामिनियां व्यथा का अनुभव कर रही थीं और जब ऐसी मंद हवाएँ बह रही थीं जो न तो अधिक गर्म थीं और न अधिक ठंडी। उन हवाओं के संचरण से कुन्जों के लता-वृक्षों में कंपन उत्पन्न हो रहा था। उस समय मत्त कोकिल मृदुस्वर से आलाप कर रही थी और उपवनों की नवीन कोपलें सुन्दरियों के अधरोष्ठों की तरह अरुण वर्ण की हो गई थीं।"

कवि ने उस कुएँ के ठंडे जल का भी वर्णन किया है जो उधर आने वालों की प्यास बुझाता था। "उस कुएँ का जल ऐसा शांतिदायक था जैसे दो घनिष्ठ मित्रों का आपस में मिलन होता है और ऐसा स्वच्छ था जैसे कि मुनियों का मन निर्मल होता है। पथिकों के लिये वह जल उसी प्रकार हितकारी था जैसे गुरुजनों की सीख होती है।"—

यस्मिन्सुहृत्संगमशीतलं च मनो मुनीनामिव निर्मलं च।
वचो गुरूणामिव चाम्बु पथ्यं पेपीयमानः सुखमेतिलोकः॥

मंदसौर में शिवना नदी के घाट पर लगे हुए एक अन्य बड़े शिलापट्ट पर सं० ५२६ (४७२ ई०) का एक लेख खुदा है। इसके लेखक का नाम वत्सभट्टि दिया हुआ है। चवालीस श्लोकों में यह लेख समाप्त हुआ है और उसमें शार्दूलविक्रीड़ित, वसंततिलका, आर्या, उपेंद्रवज्रा, मंदाक्रांता आदि छंदों का व्यवहार किया गया है। लेख में अनुप्रास अलंकार

का सुन्दर प्रयोग मिलता है। अर्थालकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक की छटा स्थान-स्था पर दिखाई देती है।

इस लेख में दशपुर (जो मंदसौर का पुराना नाम था) के एक विशाल सूर्य-मंदिर वहाँ के रेशम के व्यवसायियों द्वारा जीर्णोद्धार कराने का वर्णन है। यह मंदिर कुछ स पूर्व इन व्यवसायियों की श्रेणी द्वारा बनयाया गया था। लेख में दशपुर नगर तथा व के निवासियों के काव्यमय वर्णन के साथ प्रकृति का मनोहर चित्रण मिलता है। उदाहर के लिये कुछ श्लोक यहाँ दिये जाते हैं। दशपुर नगर का वर्णन देखिये—

विलोलवीचीचलितारविंद पतद्रजः पिंजरितैश्च हंसैः।
स्वकेसरोदारभरावभुग्नैःक्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भांति ॥ ८ ॥
स्वपुष्प भारावनतैर्नगेन्द्रैर्मदप्रगल्भालिकुल स्वनैश्च।
अजस्रगामिश्च पुरांगनाभिर्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि ॥ ९ ॥
चलत्पताकान्य बलासनाथान्यत्यर्थ शुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लता चित्र सिताभ्रकूट तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥

अर्थात् "उस दशपुर में स्थान-स्थान पर सरोवर थे, जिनमें उटी हुई चंचल कमल-पुष्पों को हिला डुला देती थीं, जिससे कमलों की पीली पुष्प-रज सरोवर पर हुए हंसों की पीठ पर गिर पड़ती थी और उन सफेद हंसों को पीला कर देती थी। तालाब में अपनी केसर के भार से कमलिनियां झुकी जा रही थीं। उस नगर के उप फूलों से लदे हुए विटपों से सुशोभित थे, जिन पर मत्त भौंरें गूंज रहे थे। नगर वनिताएँ उन उपवनों में विविध प्रकार के गीत गा रही थीं और उस दशपुर में विशा भवन थे जिनके ऊपर पताका फहर रहे थे। ऊँची सफेद अट्टालिकाएँ जिनके सुन्दरियाँ बैठी हुई थीं, ऐसी लग रही थीं मानों बिजली से संयुक्त शुभ्र मेघमालाएँ हो।"

इस शिलालेख में दशपुर के रेशम-व्यवसायियों द्वारा तैयार किये गये वस्त्रों भी अत्यंत रोचक वर्णन किया गया है—

तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदाश्रयं यावन्न पट्टमय वस्त्रयुगानिधत्ते ॥ २०॥

अर्थात् "यौवन और सौंदर्य से संपन्न महिलाएँ, चाहे वे स्वर्णहार तथा ताम्बू पुष्पादि से अलंकृत ही क्यों न हों, तब तक अपने शृंगार को अपूर्ण मान कर प्रिय पास जाने में लजाती हैं जब तक उनके पास दशपुर का बना हुआ रंगीन रेशमी युगल न हो।"

*** इसकी तुलना कालिदास के अलका-वर्णन से की जा सकती है। मेघदूत उत्तरार्द्ध में अलका नगरी की उपमा मेघ के साथ और वहाँ की रमणियों की उपमा बिज से दी गई है—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्रा। (मेघ २, १)**

प्राचीन काल में विज्ञापन का यह कैसा सुन्दर उदाहरण है।

दूसरे श्लोक में कपड़ों की बारीकी और उनकी लोकप्रियता का कथन है—

स्पर्शवता वर्णान्तर विभाग चित्रेण नेत्रसुभगेन।
यैः सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण ॥ २१ ॥

'ये वस्त्र छूने में मुलायम हैं, विविध रंग-वैचित्र्य से युक्त हैं और आँखों को आनद प्रदान करने वाले हैं। यह सारी पृथ्वी इन रेशमी वस्त्रों द्वारा अलंकृत कर दी गई है।'

गिरिनार पहाड़ी की चट्टान पर गुप्त संवत् १३७ (४५६-४५७ ई०) का एक लेख खुदा है, जिसमें गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त के शासनकाल में सौराष्ट्र प्रदेश में सुदर्शन नामक एक झील पर बाँध बाँधे जाने का वर्णन आया है। इस झील से बहुत दिन तक सिंचाई का काम लिया जाता रहा परन्तु दुर्भाग्य से एक बार भीषण वर्षा के कारण उसका बाँध टूट गया। इससे झील का पानी फूट कर बाहर उमड़ चला। अब जनता में बड़ी खलबली मच गई और लोग इस आकस्मिक घटना के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। अन्त में सौराष्ट्र के तत्कालीन राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने बड़ी कुशलता के साथ बाँध की मरम्मत कराई और लोगों का कष्ट दूर किया तथा सुदर्शन झील फिर अपनी पूर्वावस्था में आ गई।

इस लेख में मालिनी, उपजाति, इंद्रवज्रा आदि छंदों का विविध स्थलों पर धारावाहिक प्रयोग किया गया है। स्कंदगुप्त तथा उसके शासन का एवं पर्णदत्त तथा चक्रपालित के गुणों और कार्यकलापों का वर्णन मनोग्राही हुआ है। भीषण वर्षा के कारण सुदर्शन के बाँध का टूटना तथा उसके कारण लोगों की व्याकुलता को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। कुछ अंश नीचे दिया जाता है:—

अथ क्रमेणाम्बुदकालआगते निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः।
ववर्ष तोयं बहु सन्ततं चिरं सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात्॥
इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गताः पलाशिनीयं सिकताविलासिनी।
समुद्रकान्ताश्चिरबन्धनोषिताः पुनः पतिं शास्त्रयथोचितं ययुः॥
अवेक्ष्य वर्षागमजं महोद्भ्रमं महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना।
अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो नदीमयो हस्त इव प्रसारितः॥
विषादमानाः खलु सर्वतो जनः कथं कथं कार्यमिति प्रवादिनः।
मिथो हि पूर्वापररात्रमुत्थिता विचिन्तयां चापि बभूवुरुत्सुकाः॥
अपीहलोके सकले सुदर्शनं पुमान्हि दुर्दशनतां गतं क्षणात्।

अर्थात् 'जब वर्षा ऋतु ने आकर मेघों के द्वारा ग्रीष्म ऋतु को विदीर्ण कर दिया तब इतनी भीषण और अनवरत वृष्टि हुई कि सुदर्शन झील का बाँध टूट गया और पलाशिनी तथा सिकताविलासिनी आदि नदियाँ, जो रेवतक पर्वत से निकलती हैं, उमड़ कर तेज़ी से बह चलीं। ग्रीष्म में वे सूख गई थीं जिससे अपने पति समुद्र से उनका

विछोह हो गया था। अब वे शास्त्रोचित मर्यादा के अनुरूप समुद्र से मिलने के लिए तेज़ी से दौड़ पड़ीं। भीषण वर्षा के कारण उत्पन्न परिस्थिति से कहीं समुद्र घबड़ा न जाय इस लिए ऊर्जयत् नामक पहाड़ ने अपने से निःसृत नदियों, को जिनके तट पुष्पों से अलंकृत थे, समुद्र के पास तक पहुँचा दिया मानो उसने उन नदियों के रूप में अपनी मित्रता का हाथ बढ़ा दिया हो।

'और, लोगों की हालत तो बड़ी दयनीय बन गई। चारों ओर से एकत्र होकर शोकमग्न लोग एक दूसरे से पूंछने लगे कि अब क्या करें, कैसे करें। दो रातें उन्होंने जग कर बिता दीं और घबड़ाहट के साथ सोचते रहे कि इस कष्ट को कसे दूर किया जाय। जो झील अभी तक अपना 'सुदर्शन'—देखने में अच्छी लगने वाली नाम चरितार्थ करती थी, वही अब भयंकर लगने लगी।'

इसके बाद लेख में आया है कि किस प्रकार बाँध की आवश्यक मरम्मत कराकर चक्रपालित ने लोगों का कष्ट दूर किया।

कदंबराज शांतिवर्मा का तालगुंड लेख भी काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह लेख मैसूर राज्य के शिमोगा जिले में तालगुंड नामक स्थान पर प्रणवेश्वर के भग्न मंदिर के सामने एक शिला पर उत्कीर्ण है। इसका समय ई० छठी शती का प्रारम्भ है। इस लेख से हम यहाँ केवल एक उदाहरण देते हैं। लेख के ३१ वें श्लोक से पता चलता है कि उत्तर भारत के प्रसिद्ध गुप्तवंश तथा कतिपय अन्य राजवंशों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित कर कदंबों ने अपनी राजनीतिक शक्ति को दृढ़ बनाया था। इस बात को लेख के रचयिता ने, जिसका नाम कुब्ज दिया हुआ है, इस प्रकार व्यक्त किया है :—

गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादरप्रणयसंभ्रमकेसराणि ।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि, यो बोधयद्दुहितृदीधितिभिर्नृपार्कः ॥३१॥

अर्थात् 'कदंबराज शांतिवर्मा ने, जो सूर्य के समान तेजस्वी था, गुप्तादि उन राजवंशों से अपना संबंध जोड़ा जो अस्फुट कमल पुष्पों के समान थे, जिनमें स्नेह, आदर, प्रेम और प्रतिष्ठा पुञ्जीभूत थी और जो भ्रमर रूपी अनेक शक्तिशाली राजाओं द्वारा सेवित थे। ये संबंध शांतिवर्मा ने अपनी कन्याओं को उक्त राजकुल में विवाहित करके स्थापित किये—जो कन्याएँ सूर्य को उन किरणों के सदृश थीं जो कमलावली को प्रफुल्लित और विकसित करती है।'

उक्त श्लोक का उत्प्रेक्षालंकार ध्यान देने योग्य है। कमलावली तब तक प्रफुल्लित एवं विकसित नहीं होती जब तक सूर्य की किरणें उस पर न पड़ें। कवि ने जिस कुशलता के साथ कन्या-प्रदायी अपने राजा की संबंधित राजकुलों की अपेक्षा उच्चता और महानता की ओर संकेत किया है वह सराहनीय है। कवि के अनुसार गुप्तादि राजकुल कदंब वंश से संबंध स्थापित होने के बाद ही अधिक अभ्युदय एवं विकास को प्राप्त हुए।

लड़कियों की सूर्य-किरणों के साथ उपमा भी आकर्षक है। कालिदास ने राम के पौत्र अतिथि के दूतों की उपमा सूर्य-किरणों से दी है और लिखा है कि गुप्तचर राज्य के सभी मामलों को उसी तरह प्रकाश में ले आते थे जैसे सूर्य के प्रकाश में रखी हुई वस्तु छिपी नहीं रह सकती—

न तस्य मंडले राज्ञो न्यस्तप्रणिधि दीधितेः।
अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः॥ रघु० १७४८॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक प्राचीन अभिलेखों के रचयिता महान् कवि थे। प्रयाग-प्रशस्ति के लेखक हरिषेण, मंदसौर लेखों के कवि रविल तथा वत्सभट्टि, चालुक्य राज पुलकेशिन के ऐहोल लेख के रचयिता रविकीर्ति, तालगुंड लेख के कर्ता कुब्ज तथा अन्य कितने ही अभिलेख-कार निस्संदेह उच्च कोटि के कवि थे। दुर्भाग्य से इन तथा अन्य कवियों में से अनेक के नाम केवल एक या दो शिलालेखों में ही बचे हैं। कुछ के नाम साहित्यिक ग्रंथों में भी अन्य लेखकों के द्वारा उल्लिखित हुए हैं। परन्तु अधिकांश कवियों के नामों के अलावा उनके विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। ऐसे अभिलेख भी बड़ी संख्या में मिले हैं जिनमें रचयिताओं के नाम या तो दिये ही नहीं गये या छूट गये हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार बहुत से कवि अपनी कृतियों में अपने नाम देना ठीक नहीं समझते थे क्योंकि वे अधिक आत्मश्लाघा एवं आत्म-विज्ञापन को वांछनीय नहीं मानते थे। भवभूति जैसे लेखक, जिन्होंने दावे के साथ लिखा है—उत्पत्स्यते ममतुकोऽपि समान धर्मा……, अपवाद स्वरूप ही कहे जा सकते हैं। अभिलेख रचयिताओं में भी कतिपय ऐसे व्यक्ति हुए हैं। उनमें से आंध्र के १४ वीं शती के राजा अन्नवेम के शासन-पत्र के लेखक त्रिलोचनार्य का उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है। शासन-पत्र के अंत में यह कवि अपने संबंध में लिखता है:—

महानटजटाछटानटदमन्दमन्दाकिनी।
कलक्वणितकंकणव्रजविजृम्भिवाग्गुम्फनः॥
कविः कविकुलोद्भवो भुवनभव्यदिव्योदयः।
शिवागमविशारदो जयति शारदावल्लभः॥

अर्थात् "त्रिलोचनार्य कवि की जय हो, जो न केवल स्वयं कवि है अपितु कवियों के वंश में उत्पन्न हुआ है और जिसका भव्य प्रकाश भुवन में व्याप्त है; जो शैवागम का पंडित है और सरस्वती का स्नेह-पात्र है; जिसके काव्य के शब्द वैसे ही सरस और मधुर हैं जैसे शिव जी के जटाजूट के ऊपर नृत्य करने वाली मंदाकिनी के कंकण से निःसृत शब्द।"

अंत में हम उन अप्रसिद्ध महाकवियों का अभिनंदन करते हैं जिनकी महान कृतियाँ अभिलेखों में सुरक्षित हैं—जो न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है अपितु साहित्य की भी अमूल्य निधियाँ हैं।

प्राचीन-भारत की राजकीय कर-व्यवस्था

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

भारत में अनेक प्रकार की शासनपद्धतियाँ समय-समय पर प्रयो में लाई जा चुकी हैं। इन प्रयोगों से सार्वजनिक जीवन और राजकीय व्यवस्था में जो चढ़ाव-उतार होते रहे - उनका वर्णन प्राचीन वाङ्मय में निर्देशात्मक रूप में मिलता है। इतिहास का अनुशीलन करने से परिज्ञात होता है कि यहाँ राजनीति विद्या भी उत्थान की उच्च सीमा तक पहुँच चुकी थी। प्राचीन आर्यों ने जहाँ विविध ज्ञान-विज्ञान और दर्शन पद्धतियों के विषय में संसार को मार्गदर्शन कराया वहाँ राजनीति और अर्थशास्त्र में भी उनकी देन एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। काल की कराल गति से विविध ज्ञानराशि लुप्तप्राय हो गई। आज उसका नाम तक देखने और सुनने को नहीं मिलता। फिर भी जो प्राचीन भारतीय वाङ्मय समुपलब्ध है उसे देखने से कतिपय ऐसे ग्रंथों का पता चलता है जो मानव जाति के लिये महार्ह रत्न थे। राजनीति विद्या के भी बहुत से ग्रंथ लुप्तप्राय हैं। जो उपलब्ध हैं उनके देखने से पता चलता है कि इस दिशा में एक महती प्रगति प्राचीन काल में हुई थी। जिस देश के अनेक चक्रवर्ती राजा भूमण्डल पर सफल शासन कर चुके हों, उसमें कोई राजनीति-विज्ञान और परिमार्जित राजप्रणाली न रही हो—यह कैसे सम्भव है। कैवल्योपनिषद् में सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, सर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त, भरत – इन राजाओं की नामावलि पायी जाती है। ये सभी राजा चक्रवर्ती थे-ऐसा इस उपनिषद् में उद्धृत है। इसी प्रकार राजनीति और अर्थशास्त्र विषयों पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य भी कई हो चुके हैं। ऐसा महाभारत शान्ति पर्व ६७ अध्याय में लिखा गया है और चाणक्य ने भी अपने अर्थ शास्त्र में इसे पुष्ट किया है--मनु प्रथम राजा हुआ। इस वैवस्वत मनु के काल से ही राजनीति शास्त्र और अर्थ शास्त्र का प्रयोग वृद्धि को प्राप्त हुआ। ब्रह्मा ने वेद से आकृष्ट करके त्रिवर्ग का एक मूल वृहदाकार शास्त्र बनाया। बाद में उसका संक्षेप होता गया। ब्रह्मा से लेकर महाभारत-पर्यन्त राजनीति विद्या के निम्नलिखित २४ उपदेष्टा हो चुके हैं। ब्रह्मा, स्वायंभुव मनु, प्राचेतस्मनु, वैवस्वतमनु, विशालाक्ष (शिव), इन्द्र, बृहस्पति, उशनाः, नारद, बुद्ध, सुधन्वाआंगिरस, मरुत्त, भारद्वाज, पराशर, गर्ग, गौरशिरा, भागुरि, भीष्म, द्रोण, कृष्ण, उद्धव, विदुर, शाम्ब, तथा वेदव्यास। इनमें से कौटिल्य ने ही अपने अर्थ शास्त्र में १० के नामों का यथास्थान उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त आठ धर्मसूत्रकारों ने भी न्यूनाधिक् रूप से राजशास्त्र का उपदेश किया है। ये हैं—हारीत देवल, शंख, गोतम. वसिष्ठ, आपस्तम्ब, बौधायन और शौनक। बाद में आम्भीय, चारायण, विष्णुगुप्त कौटिल्य, विष्णुशर्मा, कामन्दक और सोमदेवसूरि ने इस विषय के ग्रंथ लिखे हैं। इनको देखने से इस विषय में सामग्री मिलती है। इनमें जहाँ राजशासन आदि की प्रक्रिया उपलब्ध होती है—वहाँ कर-व्यवस्था का भी परिचय भली प्रकार मिलता है। पुराकालिक भारत में कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर ही राजकीय कर-व्यवस्था आधारित थी। ये सिद्धान्त इतने दृढ़ थे कि अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी राजकर में प्रजा ने कभी किसी प्रकार की अवहेलना नहीं की। नियत कर राजा को सदा मिलता ही रहा। वेद से लेकर महाभारत और उससे लेकर कौटिल्य के समय तक इस कर-व्यवस्था का प्रचलन मिलता है। ऋग्वेद १०। १७३। ६ में सर्व प्रथम राजा को प्रजा से कर लेने वाला अधिकारी कहा गया है। उसके बाद नीति ग्रन्थों में इस कर-प्रणाली का फैलाव किया गया है।

नीति-ग्रन्थों से पता लगता है कि एक राष्ट्र के संघठन की दृष्टि से राजकीय कर-व्यवस्था एक अत्यन्त महत्व की वस्तु है। किस किस नियम और हिसाब से कर लिया जाय—यह सब निश्चित था। शासन-व्यवस्था कोई भी रहे, शासक का मन कभी राजकर के विषय में विचलित नहीं होता था। यही प्रधान कारण था कि राजा और प्रजा में राजकर विषय को लेकर कोई झगड़ा नहीं खड़ा होता था। कर धर्म पूर्वक लिया जाता था और राजा को इस विषय में किसी प्रकार का लोभ नहीं होता था। महाभारत शान्ति-पर्व ७१। १५ का कथन है कि जो लोभी राजा ऐसे कर एकत्र करके, जिनका शास्त्रों में अनुमोदन नहीं है, अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, वह वस्तुतः अपने ऊपर ही अन्याय करता है। यदि कोई राजा कभी धर्मनियम को तोड़ कर 'कर' ग्रहण करता भी था तो उसे निन्दित ठहराया जाता था। कभी कभी तो यहाँ तक हो जाता था कि प्रजा बलात् अधिक कर लगाने वाले राजा को उसका राज्य छोड़ जाने की धमकी दे डालती थी। पश्चिम भारत के पुरातत्व-विभाग की अनुसंधान रिपोर्ट (खण्ड ४ पृ० ६०) में शातवाहन राजवंश की महाराणी बलश्री का शिलालेख उद्धृत है। उसमें यह घोषित किया गया है कि उसका पुत्र धर्म-व्यवस्था के अनुसार कर लिया करता था। अन्य शिला-लेखों से भी यह बात सिद्ध होती है। महाराज चन्द्रगुप्त को ही उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उन्हें सेल्यूकस के साथ युद्ध करने के लिये धन की आवश्यकता थी। उन्होंने और उनके महामात्य कौटिल्य ने इस धन को एकत्र करने के लिये अपना सारा बुद्धि-कौशल व्यय कर दिया—क्योंकि धर्म के अनुसार जो राज-कर प्राप्य था वह इस कार्य के लिये पर्याप्त नहीं था। चाणक्य ने इसके लिए कुछ विलक्षण साधनों का आश्रय लिया। उसने देव-मन्दिरों से भी चढ़ावे का धन एकत्र किया। कौटिलीय अर्थशास्त्र

में यह राजकोष में धन लाने के चौदह स्रोतों में एक स्रोत माना गया है। किन्तु चाण के इस कार्य से चन्द्रगुप्त को निन्दित होना पड़ा। संस्कृत साहित्य में राजा को 'षष्ठांशवृ' कहा गया है अर्थात् प्रजा की उपज का छठाँ भाग उसकी वृत्ति एवं कर था। प्राचीन का में पहले राजा को देव माना जाता था। उसे इन्द्र, विष्णु, कुबेर आदि देवों का स्थान सम जाता था अतः प्रजा उसे जो 'कर' देती थी वह मानो देव को देती थी। यह 'कर' दै सिद्धान्त की भित्ति पर आधारित था। परन्तु बाद में यह राजा का वेतन अथवा राजक समझा जाने लगा जो उसे प्रजा की रक्षा के बदले में मिलता था। महाभारत शान्तिप ७१।१० और नारद-स्मृति १८।४८ में बताया गया है कि षष्ठांश अर्थात् शुल्क अथवा आयात और निर्यात 'कर', अपराधियों से मिलनेवाला जुर्माना, उनका अपहृत धन आदि जो कुछ शास्त्रों के विधानों से प्राप्त हो—वह सब 'राजकर' होगा और प्रजा की रक्षा करने के पुरस्कार-स्वरूप राजा को मिलेगा। शुक्रनीति १।११८ में लिखा है कि ब्रह्मा ने राजा को यद्यपि स्वामी के रूप में बनाया है, परन्तु वह वस्तुतः प्रजा का सेवक है। प्रजा की रक्षा और वृद्धि के बदले में राजकीय कर के रूप में उसका भाग वेतन के रूप में मिलता है। प्रजा वास्तव में स्वामी थी और वह राजा का रक्षण करने के लिये बाध्य थी। राज्याभिषे के समय भी यह वचन राजा को मिलता था कि उसका भाग उसे मिलता रहेगा। मनु, गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, विष्णु और बौधायन आचार्यों के अनुसार प्राचीन भारत में राज-कर चार उद्देश्यों पर आधारित थे। वे हैं—कृषि, पोषण, सम्पन्नता और क्षेम अथवा कल्याण। इनमें मुख्य 'कर' राजा के लिये वही था जो उसे कृषि की उपज में से दिया जाता था। बाज़ार में बिकनेवाले माल में उसका अंश एक दशमांश अथवा परिस्थिति के अनुसार इसके लगभग होता था। इसके अतिरिक्त राज-कर के और कतिपय साधन थे जो शुल्क कहे जाते थे। आजकल की चलती फिरती परिभाषा में इसे आयात और निर्यात सम्बन्धी आय कहा जा सकता है। इनकी दर निश्चित करने में राजा को थोड़ी स्वतन्त्रता थी परन्तु उसका भी धर्मशास्त्र में नियंत्रण कर दिया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र ११।२ से प्रमाणित होता है कि चमड़े और परों पर 'कर' नहीं लगता था। नन्दों ने इन पर भी कर लगाये थे अतः उन पर दोष लगाया जाता है। मगध-साम्राज्य और हिमालय-प्रदेशों में चमड़े और परों का व्यापार ज़ोरों से चलता था। देश में आनेवाले इन पदार्थों पर कर लगने के कारण चन्द्रगुप्त के पूर्वजों पर लोभी होने का अपवाद जनता ने लगाया। प्राचीन राजकीय कर व्यवस्था के जो सिद्धान्त साधारणतः राजनीति और अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में पाये जाते हैं, वे ये हैं :—

१—राज-कर को एकत्र करने में राजा को कभी तृष्णा और लोभ के वश में होकर अपना और दूसरों का मूलोच्छेद नहीं करना चाहिए। २—प्रजा पर इस प्रकार कर लगाना चाहिए कि आगे चलकर उसमें भार-वहन करने की शक्ति बनी रहे। महाभारत १२।८७।

२०-१ में इस बात को 'गौ' और वत्स की उपमा से प्रस्फुट किया गया है। ३—जिस राज्य की प्रजा पर बहुत अधिक करों का भार होता है वह बड़े बड़े कार्य नहीं कर सकती। प्रजा उस राजा का विरोध करती है जो शासन में बहुत अधिक व्यय करता है। महाभारत ६७।१६ में ऐसे राजा को "अतिवादो" कहा गया है। संस्कृत-साहित्य में 'लादन' शब्द का व्यवहार पारिभाषिक रूप में राज-कर के लिये होता था। ४—प्रजा पर राज-कर ऐसा होना चाहिये जो भारी न जान पड़े। महाभारत में राजा को इस विषय में मधुमक्खी के समान नियम बर्तने का आदेश दिया गया है। ५—राज्य जब अधिक सम्पन्न होने लगे तब शनैः शनैः यथासमय राज-कर बढ़ाये जाने चाहिए। राज-कर इकट्ठा करने के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष नियम थे। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं। १-कर उपयुक्त स्थान, उपयुक्त काल, और उपयुक्त रूप में लगाये जाने चाहियें। उनके संग्रह का ढंग कष्टदायक नहीं होना चाहिये। इस प्रसंग में महाभारत १२।८८।४ में कहा गया है कि गाय का दूध दुह लेना चाहिए, उसके स्तन नहीं नोचने चाहियें। शिल्प आदि पर कर लगाने के ये नियम थे। १—कर लगाने से पूर्व इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि माल की तैयारी में कितना परिश्रम पड़ा है, उत्पादन की मात्रा कितनी है और ये कर अदा करने के बाद भी शिल्पी उस उद्योग को चालू रख सकेगा या नहीं ? २—प्रत्येक शिल्प में कितना सामान लगता है, कितनी लागत पड़ती है, शिल्पी को उस वस्तु के बनाने में स्व-निर्वाह के लिए कितने धन की आवश्यकता होती है और उसकी परिस्थिति क्या है ?

आयात-कर का सिद्धान्त इस प्रकार था : १—वाणिज्य सम्बन्धी वस्तु की बिक्री का मूल्य, क्रय का मूल्य, उसके आने की दूरी, आने का व्यय, लागत और व्यापारी को जोखिम कितना उठाना पड़ा—आदि बातों के विचार के बाद कर लगाया जावे। २—राष्ट्र के लिये दुःखदायक, निरर्थक केवल शौक की वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर उनका आयात बन्द करना चाहिए। ३—राष्ट्र को बहुत अधिक लाभ देनेवाली वस्तुओं को कर से मुक्त कर देना चाहिए। अपने राज्य में कम मिलनेवाली अधिक उत्पादन साधन-भूत वस्तुओं को भी बिना शुल्क आने देना चाहिए। ५—कुछ ऐसे भी पदार्थ परिगणित थे जिनका निर्यात वर्जित होता था। देश में उनका अधिक आयात करने के लिये किसी प्रकार का शुल्क नहीं होता था। यथा—अस्त्र-शस्त्र, धातु, सेवा कार्य के साधक रथ, यान आदि; अप्राप्य पदार्थ; अनाज और पशु आदि। ६—विदेश से आनेवाली और स्वदेश में बनने वाली सुरा आदि पर भी अधिक कर लगाया जाता था। राजा के इस 'कर' की मात्रा को मनु ने उत्तरोक्त प्रकार से कुछ बाज़ारी वस्तुओं पर निर्धारित किया था। पशु और सेना में पचास प्रतिशत, धान्यों में आठवाँ भाग अथवा छठाँ एवं बारहवाँ भाग।

राज-कर से जो आय होती थी, उस पर मंत्रिपरिषद् का पूरा-पूरा अधिकार होता था। उसको राज-कर एकत्र करने का भी अधिकार था। ईसा से पूर्व चतुर्थ शती तक आय-

व्यय आदि पर मंत्रि-परिषद् का अधिकार होना प्रमाणित होता है। मेगस्थनीज़ ने भी स्वीकार किया है। वेदों के प्रचार काल में "रत्नी" कोषाध्यक्ष होते थे। ये भी इस प्रकार अधिकार से युक्त अधिकारियों के एक पूर्वरूप थे। देवगिरि में शासन करनेवाले यादवों समय के भी प्रमाण मिलते हैं कि इन्होंने चावल, पान, इलायची आदि पर कर लगाये शिला-लेखों और महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों के परिशीलन से इस प्रकार की कर-व्यव का पता चलता है। राज्य कर के बिना चल नहीं सकता, परन्तु कर भाररूप और अनुचि नहीं होना चाहिए—यही इस व्यवस्था का सार प्रतीत होता है।

प्रशिक्षण विद्यालयों में अनुभव प्राप्त तथा अनुभव रहित छात्राध्यापकों की उपलब्धि विषयक अनुसंधान

श्री लक्ष्मीलाल, के० ओड़०

प्रस्तावना—इस विषय में बड़ा प्रवाद है कि शिक्षण विद्यालयों में प्रवेश पाने के साथ छात्राध्यापक को कुछ अध्यापन संबंधी अनुभव होना चाहिये अथवा नहीं। कुछ विद्वानों की राय है कि प्रशिक्षण विद्यालय में प्रवेश पाने के पूर्व कम से कम २-३ वर्षों का अध्यापन अनुभव होना आवश्यक है, क्योंकि सिद्धांतों का समुचित आकलन तभी संभव है, जब कि प्रयोगिक रूप में उसका कुछ ज्ञान हो। प्रशिक्षण विद्यालय में प्रवेश प्राप्त करने के पूर्व अध्यापक के सामने कुछ समस्याएँ होना चाहिये जिन्हें प्रशिक्षणावधि में वह हल करना चाहता हो। जो कार्य उसके भावी जीवन का एक प्रमुख अंग बनने वाला है—जिस क्षेत्र के लिये वह अपने आपको समर्पित करने जा रहा है—उस क्षेत्र का कुछ इरादा प्रारंभ में ही हो तो अच्छा है। इसी पक्ष में एक दलील यह भी रक्खी जाती है कि कुछ व्यक्ति अल्पकाल के लिये ही इस क्षेत्र में आते हैं जब तक कि उन्हें दूसरी कोई नौकरी न मिल जाय। वास्तव में बहुत से अध्यापकों की इस ओर विशेष रुचि नहीं होती। अतः इसी क्षेत्र में समायोजित होने के लिये कुछ समय उन्हें देना आवश्यक है। तदनन्तर ही प्रशिक्षण विद्यालयों में उन्हें प्रवेश प्रदान करना उचित है। इस प्रकार कुछ प्रशिक्षण विद्यालयों ने यह विषय सा बना लिया है कि कम-से-कम २ वर्ष के अध्यापन अनुभव के पश्चात् ही छात्राध्यापक को विद्यालय में भर्ती किया जाय।

कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक विश्वास है कि शिक्षक के लिये केवल अनुभव ही आवश्यक है; ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों शिक्षक की अध्यापन पद्धति भी सुधरती चलती है। वह भूल और प्रयत्न (Trial and error) पद्धति द्वारा अपने आप में सुधार करता चलता है। बंबई राज्य में १० वर्ष के अनुभवी मैट्रिक उत्तीर्ण शिक्षक को एस. टी. सी. के समकक्ष मान लिया गया है तथा १५ वर्षीय अनुभव प्राप्त बी. ए. एस. टी. सी. को बी. ए. बी. टी. के समकक्ष माना गया है।

दूसरी ओर कुछ विद्वानों का मत इसके विपरीत है। वे अपने पक्ष का समर्थन मनोवैज्ञानिक आधार पर करते हैं। इन विद्वानों के अनुसार केवल नये स्नातकों को ही प्रशिक्षण विद्यालयों में भर्ती करना चाहिये। बिना प्रशिक्षण पाये किसी व्यक्ति को शिक्षक का उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य देना उचित नहीं। वे अज्ञान वश छात्रों का बहुत अनिष्ट कर सकते हैं। साथ ही कुछ समय अनुचित ढंग से पढ़ाने के फलस्वरूप एक अनुचित आदत का निर्माण हो जाता है, अतः प्रशिक्षण विद्यालय में अध्यापकों का काम दोहरा कठिन हो जाता है। नये स्नातक में नये संस्कार ही डालने की आवश्यकता पड़ती है जब कि एक

पुराने शिक्षक के अनुचित संस्कार मिटाने पड़ते हैं और नये डालने पड़ते हैं। फलतः अनुभवी छात्राध्यापक की प्रगति नवीन छात्राध्यापक की अपेक्षा विलम्ब से तथा शिथिलप्राय होती है तथा प्रशिक्षण विद्यालय छोड़ने के पश्चात् पुनः परंपरित प्रणाली अपना लेता है। इस प्रकार प्रशिक्षण द्वारा नवीन शिक्षक जितना लाभ उठा सकते हैं उतना पुराने नहीं। इस पक्ष की धारणाओं में विश्वास रखनेवाले कुछ विश्व-विद्यालय तथा प्रशिक्षण विद्यालय केवल नये स्नातकों को ही भर्ती करते हैं।

अनुसंधान का हेतु—(१) इस अनुसंधान द्वारा यह पता लगाना है कि अनुभव रहित तथा अनुभवी शिक्षक—इन दोन में कौन से शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय में अधिक सफल होते हैं? तथा (२) क्या अनुभव के साथ शिक्षण योग्यता भी उसी अनुपात में क्रमशः बढ़ती है?

पद्धति--विद्या-भवन टीचर्स कालेज, उदयपुर (राजपूताना विश्व-विद्यालय द्वारा स्वीकृत) के १९५३–५४ प्रशिक्षण वर्ष में १४४ छात्रों ने बी. एड् कक्षा में प्रवेश प्राप्त किया था, जिनमें अनुभव आदि की दृष्टि से विभिन्न कोटि के छात्राध्यापक थे! कुछ अधिक अनुभव वाले, कुछ कम अनुभववाले तथा कुछ अनुभव रहित छात्राध्यापक भी थे। १४४ में से केवल १४२ छात्रों का परिणाम घोषित हुआ, अतः इस अनुसंधान में उन्हीं १४२ छात्राध्यापकों को सम्मिलित किया गया है। अनुभव की विविधता के आधार पर इन्हें ५ समूहों में विभक्त कर लिया गया जो निम्न प्रकारेण है--

प्रथम सरणी

छात्राध्यापकों का समूह विभाजन

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५	कुल
जिन्हें अध्यापन का कोई अनुभव नहीं है।	जिन्हें २ वर्ष या इससे कम अध्यापन अनुभव है।	जिन्हें २ वर्ष से अधिक और ५ वष तक का अनुभव है।	जिन्हें ५ वर्ष से अधिक ९ वर्ष पर्यंत का अनुभव है।	जिन्हें ९ वर्ष से अधिक अनुभव है।	
४३	२२	२४	२७	२६	१४२

सूचना—समूह ५ के अन्तर्गत १३ छात्राध्यापकों ने बी० एड्० का अल्पकालीन (Short Term) अभ्यास क्रम लिया था।

इन परीक्षार्थियों की लिखित एवं प्रत्यक्ष पाठ परीक्षाओं (Theoritical and Practical Examinations) के प्राप्तांकों पर यह अनुसंधान आधारित है।

परिशोध तथा विश्लेषण (Findings and Analysis)—द्वितीय सरणी में इन समूहों द्वारा प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में उपलब्ध अंकों का मध्यक मान (Values of mean) तथा तृतीय सरणी लिखित परीक्षा में उपलब्ध अंकों का मध्यक मान दिया गया है। विशेष स्पष्टीकरण के लिये द्वितीय सरणी के लिये स्तंभालेख प्रथम तथा तृतीय सरणी के लिये स्तंभालेख द्वितीय किया गया है।

द्वितीय सरणी

प्रत्यक्ष पाठ में प्राप्तांकों का मध्यकमान (Values of mean)

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५	
९५·१५ (सं=४३)	९९·९०९ (सं०=२२)	१०४·८७५ (सं०=२४)	९९·९४ (सं०=२७)	१०४·९६ (सं=२६)	

प्रत्यक्ष पाठ में उपलब्ध अंकों के मध्यकमान तथा स्तंभालेख प्रथम को देखने से

आलेख प्रथम

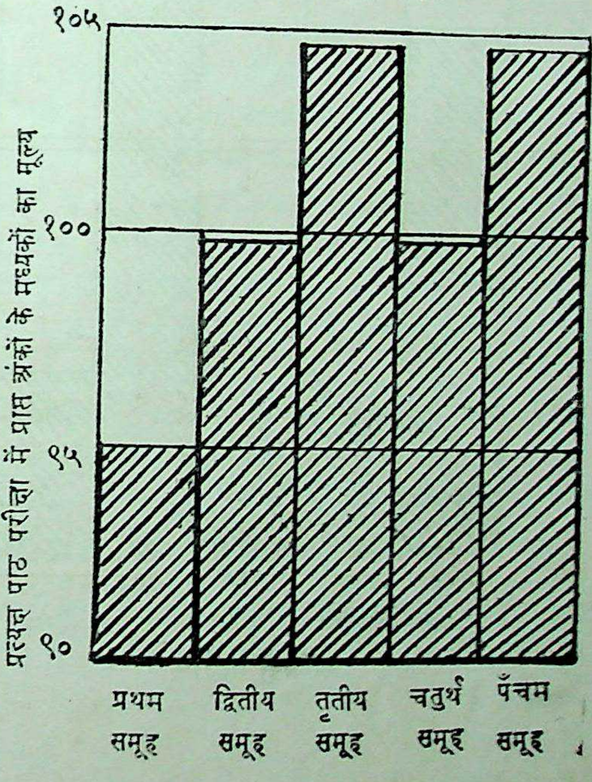

यह स्पष्ट होगा कि अनुभव रहित शिक्षकों के समूह की अपेक्षा अन्य सभी समूह (चाहे उनका अनुभव थोड़ा हो या अधिक) प्रत्यक्ष पाठ में अधिक सफल होते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष पाठ (Practice lesson) अध्यापन कार्य का पुराना अनुभव किसी न किसी रूप में उन्हें सहायता देता ही है, परन्तु आलेख द्वारा भी यह स्पष्ट होगा कि यद्यपि प्रथम समूह से अन्य सभी समूहों के

तृतीय सरणी

लिखित परीक्षा में प्राप्तांकों का मध्यक-मान

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५
१३७.६१ (सं=४३)	२२६.२२ (सं=२२)	२३२.२५ (सं=२४)	२४०.४ (सं=२७)	२२६.५ (सं=२५)

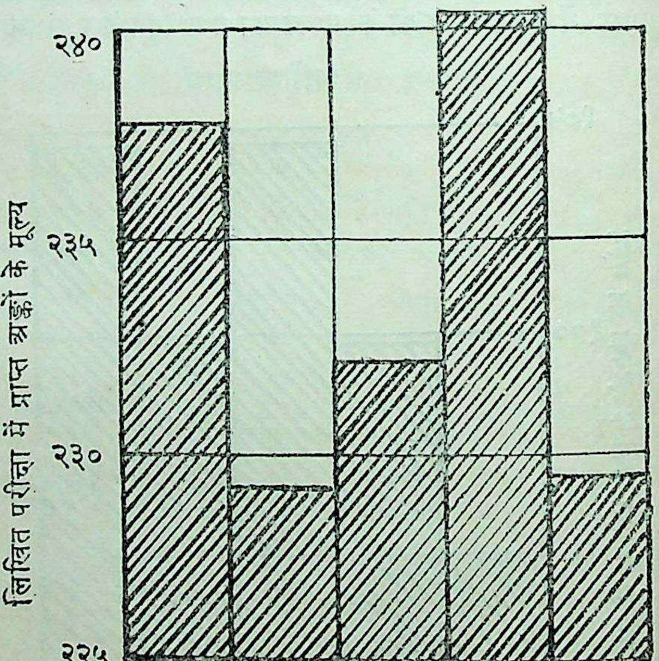

आलेख द्वितीय

सफलता स्तंभ अधिक लंबे हैं, परन्तु वे उत्तरोत्तर लंबे नहीं होते गये हैं। तृतीय समूह तक स्तंभ निरन्तर बढ़ते गये हैं परन्तु चतुर्थ समूह में आकर स्तंभ पुनः द्वितीय समूह की स्थिति में आ गया है। पंचम समूह ने पुनः प्रगति दिखाई है तथा तृतीय एवं पंचम समूह लगभग समान ऊँचाई के हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुभव की वृद्धि के साथ-साथ अध्यापन कला की सफलता वृद्धि का कोई निश्चित् क्रम नहीं हैं। नये शिक्षक की अपेक्षा कुछ अनुभव से दो वर्ष पर्यंत अनुभव वाले निश्चित् प्रगति बतलाते हैं; इसी प्रकार दो वर्ष के अनुभव वालों की अपेक्षा ५ वर्ष तक के अनुभव वाले थोड़ी और अध्यापन कला में प्रगति करते हैं, इसके पश्चात् प्रगति का प्रवाह रुक जाता है और क्रमशः परागति (अधोगति) होने लगती है, क्योंकि अध्यापन कार्य की नवीनता व सुधार की भावना तब तक नष्ट हो जाती तथा शिक्षक अध्यापन कार्य को एक दैनिक परंपरा (Routine) के अन्तर्गत ले लेता है। कार्य में नीर सत्ता का अनुभव करने लगता है। इस समय दिया गया प्रशिक्षण उसके लिये इतना लाभ-दायक नहीं होता जितना कि ४–५ वर्ष के अनुभव के पश्चात् दिया गया प्रशिक्षण हो सकता है।

पंचम समूह (जिसमें ६ वर्ष से अधिक अनुभव के लोग सम्मिलित किये गये हैं) की प्रगति पुनः तृतीय समूह की समकोटि बल्कि कुछ अधिक ही दिखाई देती है। इससे कुछ शंका होने लगती है कि इसके पूर्व चतुर्थ समूह में परागति होने के पश्चात् पुनः प्रगति कैसे संभव है, परन्तु जैसा कि प्रारंभ में ही स्पष्ट किया जा चुका है, इस समूह के २६ छात्राध्यापकों में से १३ छात्राध्यापक सी० टी० परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हैं तथा उन्होंने बी० एड्० के लिये त्रैमासिक अल्पकालीन प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में प्रवेश प्राप्त किया था, और दो छात्राध्यापकों ने इसके पूर्व बी० टी० सी० (प्राथमिक शिक्षक प्रमाण-पत्र) परीक्षा पास कर ली थी। फलतः इन अध्यापकों को १० वर्षीय अथवा अधिक अनुभव वाले शिक्षकों की कोटि में सम्मिलित करने से मध्यक-मान बढ़ना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इनमें से आधे से अधिक शिक्षक प्रशिक्षण दीक्षा प्राप्त कर चुके थे तथा अध्यापन कला के सिद्धांतों को शालाओं के वास्तविक जीवन में प्रयुक्त भी कर चुके थे। अभ्यास पाठों का जहाँ तक संबंध है वे बी० टी० अथवा सी० टी दोनों ही पाठ्यक्रमों में एकसे होते हैं। कुछ लोग यदि विधियों को भूल गये हों, तो वे भी प्राचीन अभ्यास वश उन वस्तुओं को शीघ्र सीख लेते हैं, जैसा कि स्पियर मेन लिखता है—

"Cognitive events by occurring establish disposition which facilitate their recurrences" *

अब हम यदि तृतीय सरणी एवं द्वितीय आलेख की ओर दृष्टिपात करें तो हमारे सम्मुख एक दूसरा ही चित्र उपस्थित होगा। प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में जो समूह अच्छा

---

* देखिये लेखक द्वारा प्रतिपादित अनुसंधान Long Term Vs Short term course of B. Ed.

है, वह लिखित परीक्षा में उतना सफल नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत, जो समूह प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में उतने अधिक सफल नहीं हुए वे लिखित परीक्षा में अधिक सफल हुए हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि बहुधा सैद्धांतिक (Theoritical) एवं प्रत्यक्ष (Practical) परीक्षाओं में + सह संबंध नहीं होता, या तो कोई सह संबंध होता ही नहीं है या '—' नकारात्मक सह संबंध भी हो सकता है। एक उच्चकोटि का शिक्षक प्रायः पुस्तकीय अध्ययन तथा प्रत्युत्तर लिखने में सिद्धांतों का अच्छा प्रतिपादन नहीं भी कर सकता है।

समूह प्रथम के अधिकांश छात्राध्यापक तत्काल ही विश्वविद्यालयीन शिक्षा समाप्त करके आये हुए थे, अतः पुस्तकीय अध्ययन तथा लिखित परीक्षाओं के सतत परिचय में ही वे थे, जब कि अनुभवी शिक्षकों में से अधिकतर बी० ए०, एम० ए० आदि कुछ वर्षों पूर्व ही कर चुके थे, और यहाँ इस अनुभव को ताजा करना था। एक यह भो कारण था कि अधिकतर अनुभवी शिक्षकों ने बी० ए० आदि परीक्षाएँ प्राइवेट रूप से पास की थीं, और लगभग सभी तृतीय श्रेणी के स्नातक थे। यह भी एक कारण उनके लिखित परीक्षा में पिछड़ने का हो सकता है। समूह चतुर्थ अवश्य अपवाद स्वरूप दिखाई देता है जिसका स्तंभ सर्वोच्च है। संभव है इस समूह में अधिकतर विश्वविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त छात्राध्यापक हों अथवा असाधारण रूप से कुशाग्र बुद्धि हों, परन्तु अध्यापन कला (प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा) में इन्होंने इतनी कुशाग्रता नहीं दिखाई।

पंचम समूह के आधे छात्राध्यापकों को अध्ययन का अवसर केवल ३ मास प्राप्त हुआ। इन तीन महीनों में वे शाला का नियमित अध्यापन कार्य भी करते रहें। इसके अतिरिक्त सी० टी० प्रशिक्षण का पूर्व अध्ययन बी० टी० की लिखित परीक्षा में अधिक सहायक नहीं हुआ, क्योंकि सी० टी० की अपेक्षा बी० एड० का पाठ्यक्रम पर्याप्त मात्रा में उच्चतर होता है तथा गत १० वर्षों की अवधि में बहुत कुछ पूर्व ज्ञान विस्मृत भी कर चुके होंगे। यदि उन्हें पूरा समय अध्ययन के लिये उपलब्ध होता, तो भी यह समूह प्रथम या चतुर्थ समूह की कोटि में भी आ सकता या नहीं, इसमें शंका है।

मध्यक-मान द्वारा (Mean Values) एक केन्द्रीय प्रवृत्ति (Central Tendency) का अध्ययन हो सकता है, परन्तु मध्यका-मान (Median Values) द्वारा स्तर की उच्चता अथवा निम्नता का प्रारंभिक विचार (Concept) स्थिर हो सकता है। चतुर्थ तथा पंचम सरणी में मध्यकामान दिये गये हैं।

चतुर्थ सरणी

प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में उपलब्ध अंकों का मध्यका-मान
(कुल अंक २००)

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५	
१००.८६ (सं=४३)	१०२ (सं=२२)	१०७ (सं=२४)	१०२.३५ (सं=२७)	१०२.८३ (सं=२६)	

पंचम सरणी

लिखित परीक्षा में उपलब्ध अंकों का मध्य का मान
(कुल अंक ५००)

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५
२३५.२५ (सं=४३)	२४९.२ (सं=२२)	२४०.२ (सं=२४)	२३५.२५ (सं=२७)	२३६.३७ (सं=२६)

प्रत्यक्ष परीक्षा के मध्यका-मान (Values of median) तथा मध्यक-मान (Values of mean) में वैसे तो बहुत अन्तर दृष्टि-गोचर नहीं होता, तथापि कुछ अन्तर अवश्य है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अंकों का सभी परीक्षार्थियों में समविभाजन नहीं है। विभिन्न समूहों की तुलना द्वारा यद्यपि हमारे पूर्व निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि प्रथम समूह की अपेक्षा अन्य सभी समूहों का मध्यमक-मान उच्चतर है तथा प्रथम से द्वितीय और द्वितीय से तृतीय समूह तक प्रगति का क्रम भी स्पष्ट ही है। चतुर्थ समूह उसी प्रकार निम्नतर कोटि पर पहुँचकर द्वितीय समूह की कोटि में आ गया है। पंचम समूह ने पुनः प्रगति की है, परन्तु जिस प्रकार मध्यक मान दृष्टि से यह समूह सर्वोपरि है, उस प्रकार मध्यका मान की दृष्टि से नहीं है। उसके स्थान पर तृतीय समूह जो मध्यक मान की दृष्टि से उसी के समकक्ष था, अब सर्वोपरि दिखाई देता है, अर्थात् इस समूह के ५०% के लगभग छात्रों ने २४०.२ अंकों से अधिक अंक प्राप्त किये हैं, जबकि यह मध्यका अन्य समूहों में काफी नीचे है।

लिखित परीक्षा में भी मध्यका मान तथा मध्यक मान में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। मध्यक-मान के अनुसार चतुर्थ समूह सर्वोपरि ठहरता है तथा उसके पश्चात् प्रथम का क्रम आता है, और द्वितीय तथा पंचम समूह निम्नतम दिखाई देते हैं, जबकि इसके ठीक विपरीत मध्यका मान के अनुसार द्वितीय समूह सर्वोपरि उसके पश्चात् तृतीय तदनन्तर पंचम और अंत में प्रथम और चतुर्थ आते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि समूह द्वितीय के ५०% छात्राध्यापक लिखने व अध्ययन में बहुत अच्छे हैं तथा शेष बहुत निम्न कोटि के हैं। फलतः उस समूह का मध्यकमान निम्नतम आया है। यही बात तृतीय एवं पंचम के बारे में कही जा सकती है। मध्यक-मान तथा मध्यका-मान में अन्तर होने का एक कारण अंकों का केंद्रीकरण (Concentration) अथवा प्रसरण (Scattering) भी हो सकता है। विभिन्न समूह के अंकों का प्रसरण अथवा केंद्रीय करण सरणी ६ तथा ७ में दिये गये (Standard Deviation) मान से हो सकेगा।

षष्ट सरणी

प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में प्राप्त अंकों का S. D. मान

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५
१०.०	१०.६५	७.८	६.२	८.६

सप्तम सरणी

लिखित परीक्षा में उपलब्ध अंकों का S. D. मान

समूह १	समूह २	समूह ३	समूह ४	समूह ५
२५.८३	२६.०७	२७.२७	३१.५	२३.४

सरणी षष्ट में दिये गये S. D. मान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में चतुर्थ समूह के अंकों का प्रायः केंद्रीकरण है अर्थात् अधिकतर छात्राध्यापकों को समान या उसके आस-पास ही अंक प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार समूह तृतीय एवं पंचम में अधिकतर अंकों का केंद्रीकरण हुआ है। सबसे अधिक अंकों का प्रसरण प्रथम एवं द्वितीय समूहों में दिखाई देता है जो स्वाभाविक भी है, क्योंकि अनुभव रहित शिक्षकों में अनेक कोटियाँ हो सकती हैं, जब कि अनुभव प्राप्त शिक्षकों में ये कोटियाँ अपेक्षाकृत कम होती हैं।

लिखित परीक्षा में सबसे अधिक केंद्रीकरण पाँचवें समूह में मिलता है, जिसमें अधिकतर शिक्षकों को अध्ययन का अवसर बहुत कम प्राप्त हुआ था। क्योंकि उन्होंने अल्प-कालीन पाठ्यक्रम लिया था। उन सभी का अभ्यास लगभग एक सा तथा चुनिंदा (Selected) था। प्रथम समूह में भी केंद्रीकरण की वृत्ति दिखाई देती है। क्रमशः द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थसमूह में अधिकतर प्रसरण (Scattering) की गति दिखाई देती है। प्रसरण तथा केंद्रीकरण का चित्रमय स्पष्टीकरण आलेख क्रमांक ३ और ४ द्वारा सुचारु रूप से हो सकेगा।

उपरोक्त ५ समूहों का विभाजन हमने क्रमिक विकास का अध्ययन करने के प्रयोजन से किया था। अब यदि हम सब छात्राध्यापकों को केवल दो विभागों (अनुभवी तथा अनुभव रहित छात्राध्यापक) में विभक्त करके अध्यन करें, तो क्या हमारे निष्कर्षों में कोई अन्तर उपस्थित हो सकता है ?

सरणी ८

नवीन समूह विभाजन

	अनुभव रहित	अनुभव प्राप्त	कुल
प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा	४३	९९	१४२
लिखित परीक्षा	४३	९८	१४१

समान रूप से इनका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये इनकी आवृत्ति (Frequency) को प्रतिशत में परिवर्तित कर दिया गया है।

नवम सरणी

तृतीय आलेख का सांख्यिक आधार

अर्थात्

प्रत्यक्ष पाठ परीक्षा में प्राप्त अंकों की पुनरावृत्ति का प्रतिशत

वर्गांतर	मध्यांक	अनुभव प्राप्त छात्रों की आवृत्ति का प्र.श.	अनुभव रहित छात्रों आवृत्ति का प्र. श.
१२३–१२७	१२४.५	४	०
११८–१२२	११९ ५	१२.१	६.९
११३–११७	११४.५	४	२.३
१०८–११२	१०९.५	२२.२	२.३
१०३–१०७	१०४.५	२१.२	१८.६
९८–१०२	९९.५	२३.२	२५.५
९३–९७	९४.५	७	२३.०
८८–९२	८९.५	३	६.९
८३–८७	८४.५	२	६.९
७८–८२	७९.५	०	४.६
७३–७७	७४.५	१	२.३

सूचना—प्र० श० निकटतम दशमलव तक निकाला गया है।

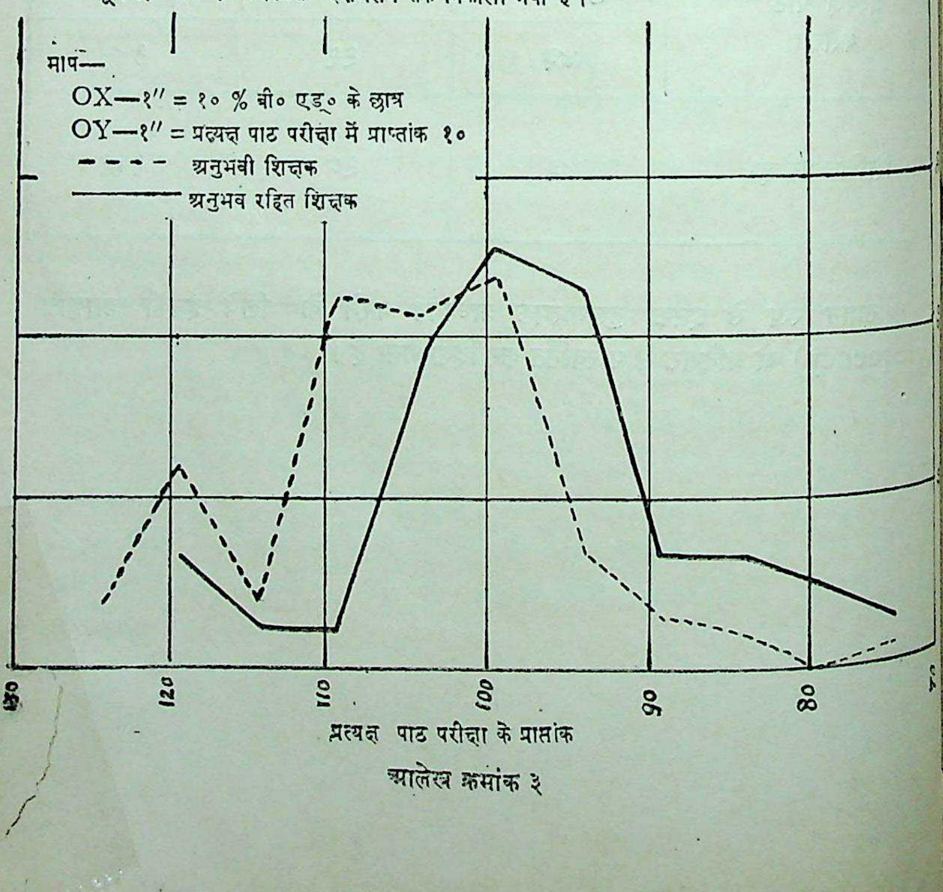

आलेख क्रमांक ३

आलेख का विवेचन–शून्यांकित रेखा (Dotted line) जो अनुभवी छात्राध्यापकों का प्रतिनिधित्व करती है तथा गहरी काली रेखा जो अनुभव रहित छात्राध्यापकों का प्रतिनिधित्व करती है इन दोनों ही रेखाओं की गति में बहुत कुछ समानता है। दोनों लगभग ७४.५ अंकों से प्रारंभ करके ९९.५ अंकों पर सर्वोच्च शिखर पर पहुँचती है अर्थात् अधिकांश शिक्षक (अनुभवी शिक्षक २३.२% तथा अनुभव रहित २५.५ % लगभग १०० अंक अर्थात् ५० % अंक प्राप्त करते हैं जिसे निम्नतम द्वितीय श्रेणी माना जाता है। इसके साथ ही एक वस्तु विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि इस शिखर तक गहरी काली रेखा, शून्यांकित रेखा से ऊपर ही ऊपर दिखाई देती है अर्थात् अनुत्तीर्ण, तृतीय श्रेणी एवं निम्नतम द्वितीय श्रेणी प्राप्त करने में अनुभवहीन छात्राध्यापकों की प्रतिशत संख्या अनुभवी छात्राध्यापकों की अपेक्षा काफी अधिक है, परन्तु इसके पश्चात् गति एकदम बदल जाती है। उच्चतर द्वितीय श्रेणी तथा प्रथम श्रेणी प्राप्त करने में अनुभवी छात्राध्यापक अनुभवहीन लोगों की अपेक्षा काफी अधिक हैं। उच्चतम दिशा में अनुभव रहित छात्राध्यापकों की गहरी काली रेखा अपना गंतव्य स्थान ११९.५ पर ही पूरा कर लेती है, जबकि शून्यांकित रेखा १२४.५ तक बढ़ती चलती है, अर्थात् उच्चतर प्रथम श्रेणी ४ % अनुभवी छात्राध्यापक प्राप्त करते हैं जबकि अनुभव रहित छात्राध्यापकों में कोई भी इस सीमा तक नहीं पहुँचता। सामान्य प्रथम श्रेणी भी अनुभवी छात्राध्यापकों में से १२.१ प्रतिशत प्राप्त करते हैं तो अनुभवहीन छात्राध्यापकों में केवल ६.९ प्रतिशत इस स्थिति तक पहुँच पाते हैं। उच्चतम द्वितीय श्रेणी (अर्थात् लगभग ११० अंक) अनुभवहीन छात्राध्यापकों में से केवल २.३ प्रतिशत प्राप्त करते हैं, तो दूसरी ओर अनुभवी छात्राध्यापकों में २२.२ प्रतिशत इस अवस्था तक पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार हमारे पुराने निष्कर्ष को इससे समर्थन ही मिलता है कि अनुभवी शिक्षक अनुभव रहित शिक्षकों की अपेक्षा प्रत्यक्ष पाठ में अधिक सफल होते हैं।

निम्न सरणी १० में आलेख क्रमांक ४ का सांख्यिक आधार दिया गया है।

सरणी दशम

लिखित परीक्षायें उपलब्ध अंकों की पुनरावृत्ति का प्र० श०

वर्गांतर	मध्यांक	अनुभवी छात्र-शिक्षकों द्वारा प्राप्तांकों का प्र.श.	अनुभवहीन छात्रशिक्षकों द्वारा प्राप्तांकों का प्र.श.
३०६-३१४	३०९-५	१	०
२९७-३०५	३००-५	३	२·३
२८८-२९६	२९१-५	०	०
२७९-२८७	२८२-५	४	२·३
२७०-२७८	२७३-५	२	४·६
२६१-२६९	२६४-५	६·१	१६·२
२५२-२६०	२५५-५	१०·२	११·६
२४३-२५१	२४६-५	१८·३	११·६
२३४-२४२	२३७-५	११·२	४·६
२२५-२३३	२३८-५	११·२	१३·९
२१६-२२४	२१९-५	१२·२	११·६
२०७-२१५	२१०-५	७·१	६·९
१९८-२०६	२०१-५	४	९·२
१८९-१९७	१९२-५	२·०	४·६
१८०-१८८	१८३-५	५·१	०
१७१-१७९	१७४-५	२·०	०

प्रतिशत निकटतम दशमलव तक निकाला गया है।

आलेख ४ का विवेचन—शून्यांकित रेखा (अनुभवी शिक्षकों की प्रतिनिधि) प्रारम्भ भी काफी निकट से करती है अर्थात् १७४·५ से शुरू करती है और साथ ही अपने गंतव्य स्थान को भी काफी दूरी पर प्राप्त करती है, अर्थात् ३०९·५ तक पहुँचती है। दूसरी ओर गहरी काली रेखा (अनुभव रहित शिक्षकों की प्रतिनिधि) १९२·५ से प्रारम्भ करती है और साथ ही ३००·५ पर समाप्त भी हो जाती है। इस प्रकार अनुभवी छात्राध्यापकों में कुछ प्र० श० अनुत्तीर्ण होने वाले भी हैं जब कि नये छात्राध्यापकों में ऐसा कोई नहीं है। १९२·५ से २६०·५ तक (अर्थात् निम्नतम तृतीय श्रेणी) के अंक प्राप्त करने वालों में अनुभवी छात्राध्यापकों की संख्या कम तथा अनुभवहीन छात्राध्यापकों की संख्या अधिक दिखाई देती है। इसके पश्चात् कुछ दूर तक रेखाएं समानरूप से चलती हैं। इसके अनंतर २३७·५ से २४६·५ तक (अर्थात् निकटतम अथवा निम्नतम द्वितीय श्रेणी प्राप्त करने वाले छात्राध्यापकों में भी अनुभवी छात्राध्यापकों की संख्या अधिक है। इसके पश्चात् २६४·५ (अर्थात् उच्चतर द्वितीय श्रेणी) प्राप्त करने वालों में अनुभव रहित छात्राध्यापक अनुभवी छात्राध्यापकों से बहुत अधिक हैं। उच्चतम द्वितीय श्रेणी तथा प्रथम श्रेणी प्राप्त

करने वाले छात्रों का प्रतिशत दोनों ओर लगभग समान ही है, परन्तु उच्चतम प्रथम श्रेणी में पुनः अनुभवी छात्राध्यापक ही पहुँचते हैं।

इसके द्वारा भी हमारे पूर्व निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है कि लिखित परीक्षा में अनुभवी छात्राध्यापकों की अपेक्षा अनुभवरहित छात्र शिक्षकों की उपलब्धि अधिक होती है।

अनुसंधान की मर्यादाएं—इस अनुसंधान में एक विशिष्ट प्रकार का समूह विभाजन किया गया था। संभव है यदि दूसरी तरह से इसका विभाजन किया जाय तो परिणामों में कुछ अन्तर आ जाय, परन्तु तुलनात्मक रूप से दो भागों में विभाजित करके भी हमने देखा तो हमारे निष्कर्षों में अन्तर नहीं पड़ता।

जैसा कि प्रारम्भ में भी स्पष्ट किया जा चुका है, इस अनुसंधान का आधार विश्वविद्यालयीन परीक्षा का परीक्षाफल है जो प्रमाणिकता की दृष्टि से बहुत विश्वास जनक नहीं माना जाता। उसमें परीक्षक का व्यक्तित्व (Subjectivity) सन्निहित रहता ही है। जब तक प्रशिक्षण योग्यता का नवीन मापदण्ड नहीं बन जाता तब तक योग्यता उपलब्धि जानने के लिये इसी मापदण्ड का आश्रय लेना पड़ेगा। अनुसंधान के लिये यह क्षेत्र खाली पड़ा है।

इस अनुसंधान द्वारा जो निष्कर्ष निकले वे एक प्रवाह (Trend) अथवा दिशा निर्दिष्ट करते हैं। उससे यह अनुमान लगाना ठीक नहीं होगा कि प्रत्येक अनुभवी शिक्षक अनुभवहीन शिक्षक से प्रत्यक्ष पाठ में अधिक सफल होगा ही अथवा प्रत्येक नया स्नातक अनुभवी शिक्षक से उच्चतर अंक ही प्राप्त करेगा। इस अनुसंधान में भी ऐसे अनेक नये शिक्षक थे, जिन्होंने प्रत्यक्ष पाठ में प्रथम श्रेणी तथा उच्चतम द्वितीय श्रेणी प्राप्त की है। इसके विपरीत १०–१२ वर्ष के पुराने अनुभवी शिक्षकों को भी ततीय श्रेणी प्राप्त हुई है।

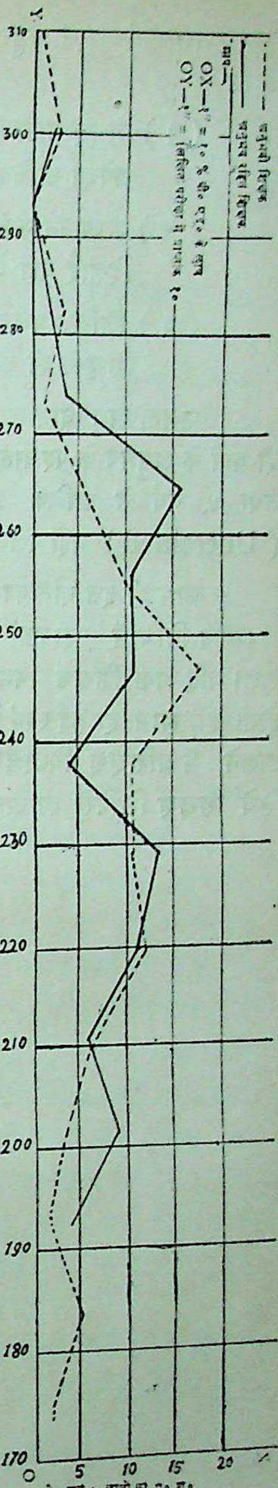

निष्कर्ष—इस अनुसंधान के विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

(१) प्रत्यक्ष पाठों में २ से ४-५ वर्ष तक के अनुभवी शिक्षक नवीन शिक्षकों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं।

(२) अध्यापन कला में दक्षता वृद्धि की दृष्टि से विकास का कोई निश्चित क्रम दिखाई नहीं देता।

(३) लिखित परीक्षा में विश्वविद्यालय से सत्वर ही दीक्षा प्राप्त स्नातक, अनुभवी शिक्षकों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं।

फलतः अनुसंधान कर्ता की सम्मति में यह उचित प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक दो वर्षों के अनुभव के पश्चात् प्रशिक्षण विद्यालय में छात्राध्यापकों को भर्ती करना चाहिये तथा ५ वर्ष से अधिक समय तक किसी शिक्षक को प्रशिक्षणदीक्षा से रहित (Untrained) नहीं रखना चाहिये।

साथ ही इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि नये शिक्षकों की देख भाल तथा अध्यापन विधि में सहायता का कार्य ट्रेण्ड प्रधानाध्यापक अथवा अन्य ट्रेण्ड शिक्षक करें। यदि नया शिक्षक मनमानी विधियों का प्रयोग करने लगेगा तो छात्रों की तो हानि होगी ही, साथ ही वह स्वयं ऐसी बुरी आदतों का शिकार बनेगा जिन्हें मिटाकर नई आदतें डालने में प्रशिक्षण विद्यालय में कठिनाई होगी। सरकार समय समय पर इन शिक्षकों के लिये शिक्षण शिविरों का आयोजन करे तो भी काफी लाभ हो सकता है।

वैदिक साहित्य में राजाओं की शिक्षा

[श्री अलख निरञ्जन पाण्डेय, एम० ए०, बी० टी०,]

समस्त प्रचलित एवं प्राचीन ज्ञान के गवेषणार्थ प्रायः वेदों के अन्तस्तल में अनुसन्धान किया जाता है। यह सत्य भी है तथा उचित भी क्योंकि संसार की प्राचीनतम संस्कृति का बुद्धि वैभव वेदों में निहित है तथा अनेक अर्वाचीन एवं प्राचीन ज्ञानराशि ,का स्रोत हम वेदों में प्राप्त कर सकते हैं। वेदों के अध्ययन से प्रत्यक्ष होता है कि वेदों की शिक्षा वैदिक-संस्कृति का मूल आधार था। चारों वेदों में ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस महाग्रन्थ में जिस संस्कृति का चित्रण किया गया है उसमें वीरों का जीवन प्रमुख है। ऋग्वेद-काल में समाज वीरयोद्धाओं से गोरवान्वित था तथा राजाओं की शिक्षा का यह परमध्येय था कि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के निमित्त वे सैनिक शिक्षा पारंगत हों (ऋग्वेद ४।४२।५)। ऋग्वेद के अनन्तर ब्राह्मण-युग में–जिस युग में ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ—सैनिक शिक्षा के साथ राजाओं की शिक्षा में वेदाध्ययन का प्राधान्य रहा। इस समय राजाओं तथा राजकुमारों ने वेदाध्ययन की ओर विशेष रुचि तथा मनोयोग का प्रदर्शन किया। अथर्वेद (१५।५।१७) में इस सिद्धान्त की चर्चा की गयी है कि ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यमान राजा भी अपने देश की रक्षा कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि विद्याध्ययन के साथ साथ सैनिक शिक्षा एवं सैनिक-कला का प्रदर्शन शिक्षा-व्यवस्था का अंग था तथा वेदाध्ययन के साथ ही साथ पाठ्यक्रम में सैनिक शिक्षा की महत्ता मानी जाती थी। ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषद् ऐसे राजकुलों के मनोमोहक वर्णनों से सुशोभित हैं। जिनमें राजा एवं राजकुमार वेदों के साथ दर्शनशास्त्र के भी विचक्षण विद्वान् थे। विदेह नरेश जनक ब्रह्मविद्या के धुरीण ज्ञाता थे। सत्यकाम, विदग्ध्य साकल्य, वर्कु इत्यादि सकलशास्त्र पारंगत विश्वविख्यात आचार्य इस महापुरुष के गुरू थे (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।१)। राजा जनक अपने समकालीन पंडितों में मूर्धन्य विद्वान थे क्योंकि मुनि याग्यवल्क्य ऐसे धर्मशास्त्र के अधिकारी विद्वान् के भी अग्निहोत्र विषयक ज्ञान एवं अध्ययन तथा मनन को भी उन्होंने अपूर्ण सिद्ध किया था। (शतपथ ब्राह्मण ११।६।२।१) राजा जनक के प्रकाण्ड अध्यापकों ने उन्हें ६ परिभाषाओं को विधिवत् हृदयंगम कराया था। वाक्, प्राण, चक्षु, कर्ण, मन, हृदय, ये ६ परिभाषाएँ उस समय की सर्वथा मनोवैज्ञानिक एवं उपयोगी शिक्षा के मूलतत्व थे। इन परिभाषाओं का स्पष्टीकरण याज्ञवल्क्य ने निम्नांकित रूप में किया है:—

(१) वाक्—इससे प्रजा का सम्बन्ध है तथा बुद्धि विकसित होती है। वाणी ही समस्त ज्ञान के आत्मसात् करने तथा व्यवहार में लाने का परम मनोवैज्ञानिक साधन है।

आधुनिक शिक्षा में भी मौखिक भावाभिव्यक्ति ज्ञान के संवर्धन एवं परिपाक का सक शिक्षा विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित प्रमुख मार्गों में प्रधान मार्ग माना जाता है। वाणी अभ्यास तथा मनन राजा जनक द्वारा प्राप्त शिक्षा का महत्वशील अंग था।

(२) **प्राण**—इससे प्रिय का सम्बन्ध है। याज्ञवल्क्य के अनुसार इससे आत्मर का ज्ञान होता है। याज्ञवल्क्य मुनि ने इसकी विस्तृत व्याख्या नहीं की है। पर इससे समाज, राष्ट्र, देश, एवं संसार में आत्मोन्नति के समस्त व्यापारों, व्यवसायों, कलाओं एवं विज्ञा की शिक्षा व्यवस्था का लक्ष्य लक्षित होता है।

(३) **चक्षु**--इससे सत्य का सम्बन्ध है। मुनि याज्ञवल्क्य के मत से कर्णों की अपेक्ष चक्षु से सत्य का ज्ञान अधिक योग्यता से किया जाता है। चक्षु द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञा की प्राप्ति शिक्षा सिद्धान्त का मूल तत्व है। राजा जनक की शिक्षा में इस प्रकार की उ कोटि की मनोवैज्ञानिक शिक्षा का महत्वशील स्थान था।

(४) **कर्ण**—कर्ण से मुनि याज्ञवल्क्य अनन्त का सम्बन्ध बताते हैं। कर्णों क प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द से है शब्द आकाश का गुण है। आकाश अनन्त है। अतएव क अनन्त से सम्बद्ध है। कर्ण द्वारा हम शब्दों के रूप में अनन्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं अतएव ज्ञान की प्राप्ति में कर्ण द्वारा प्राप्त ज्ञान विशेष प्रमुख होता है। विद्याभ्यास में कानों से सुने ज्ञान की वस्तु के अभ्यास का विशेष महत्व होता है। आधुनिक शिक्षा व्यवस् में भी सभी शिक्षा प्रणालियों में सुने शब्दों द्वारा प्राप्त ज्ञान बालक के व्यक्तित्व, एवं बुद्धि के विकासार्थ अधिक लाभकारी माना जाता है।

(५) **मन**—मुनि याज्ञवल्क्य मन से आनन्द का सम्बन्ध बताते हैं। इसका तात यह है कि उत्तम विचारों एवं भावों का मन से सम्पर्क आनन्दकर होता है। हमारे सम सुख हमारे उत्तम विचारों पर ही आश्रित रहा करते हैं। इसीलिए समस्त शिक्षाशास्त्रि ने बालकों के मन में उत्तम विचारों के आविर्भाव का यत्न करने के हेतु बाल्यकालीन शिक्ष से प्रौढ़ शिक्षा पर्यन्त विविध भाँति की शिक्षा प्रणालियों का प्रतिपादन किया है। रस्कि, रूसो, पेस्टालासी, फ्रोबेल, हर्बार्ट, महात्मा गांधी, टैगोर सभी अर्वाचीन महापुरुषों ने शिक्ष व्यवस्था में सुन्दर विचारों द्वारा मन को प्रभावित करने की प्रणाली को अंगीकार करने क सम्मति दी है।

(६) **हृदय**--हृदय से मुनि याज्ञवल्क्य स्थिति का सम्बन्ध स्थापित करते हैं इसका तात्पर्य यह है कि वाक्, प्राण, चक्षु, कर्ण, तथा मन द्वारा प्राप्त ज्ञान हृदय में स्था बनाता है। अतएव शिक्षा व्यवस्था में यदि हृदय को विकसित एवं पुष्ट करने का यत्न न किया जायगा तो समस्त अर्जित ज्ञान निरर्थक ही रह जावेगा। अतएव जनक द्वारा प्रा शिक्षा में मुनि याज्ञवल्क्य के अनुसार हृदय को विकसित एवं संवर्धित करने का यत्न प्रधा माना जाता है। हृदय यदि विकसित न हुआ तो मन तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्ष व्यर्थ ही होगा।

मुनि याज्ञवल्क्य की उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त मार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में इन ६ परिभाषाओं के अभाव के कारण ही अनुशासन हीनता बुद्धि तथा ज्ञान की अपरिपक्वता, ज्ञान की निरर्थकता, व्यक्तित्व का अपर्याप्त विकास इत्यादि दूषण प्रत्यक्ष हो रहे हैं।

उपनिषद् काल में आत्मज्ञान की शिक्षा सर्वप्रमुख थी। एक समय की बात है कि राजाजनक के यहाँ मुनि याज्ञवल्क्य आये। राजाजनक ने उनका स्वागत करके उनसे कहा कि भगवन्! क्या आज्ञा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, "राजन! उपनिषदों के अध्ययन से तुमने आत्मज्ञान प्राप्त किया है, तुम देवताओं के समान आदरणीय हो, उपनिषदों के व्याख्यानों को श्रवण करने से तथा वेदों के अध्ययन से तुमने प्रचुर पाण्डित्य प्राप्त किया है"। राजा जनक ऐसे गम्भीर एवं प्रौढ़ पंडित से याज्ञवल्क्य मुनि ने उनके अनुरूप ही प्रश्न पूछा—" राजन्! तुम मृत्यु के पश्चात् कहाँ जाओगे?" इसका उत्तर राजा जनक नहीं दे पाये। इस पर मुनि याज्ञवल्क्य का उत्तर इतना विलक्षण है कि संसार के दार्शनिक आज तक उस पर मुग्ध हैं। उस उत्तर का तात्पर्य यह है—" एक अनन्त सर्वव्यापी आत्मा शरीर के मृत हो जाने के उपरान्त कदापि ऐसे स्थान में नहीं जाता जहाँ कि वह पूर्व कभी भी न गया हो। जिस स्थिति में वह सदा रहता है उसी स्थिति में शारिरिक मृत्यु के उपरान्त भी बना रहता है। जिस वस्तु से उसका कभी भी सम्बन्ध नहीं रहता उस वस्तु में वह अपने को कभी भी परिणत नहीं करता"। (Dewssen's Philosophy of Upnishadas-पृष्ट ९०)। वृहदारण्यक उपनिषद् जनक तथा याज्ञवल्क्य की गम्भीर दार्शनिक वार्ताओं से पूर्ण है।

उपनिषद्ग्रन्थ अनेक राजाओं के दर्शनशास्त्र एवं आत्मविद्या के प्रगाढ़ पाण्डित्य से ओत प्रोत है। ये नरेश अपने ज्ञान तथा मनन में कभी कभी ऋषि मुनियों को भी पराजित करते थे। वृहदारण्यक उपनिषद् (६-२) तथा छान्दोग्योपनिषद् (५-३) में पाञ्चाल नरेश प्रवरण जाबालि के अद्भुत आत्मज्ञान की चर्चा की गयी है। इस विद्वान् राजा ने सौरविया में मुनि शिलक तथा दालभ्य को पराजित किया था एवं पञ्चाग्नि विद्या में श्वेत-केतु तथा उनके पिता को भी उसका शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ा था इसी प्रकार कौशीत की तथा वृहदारण्यक उपनिषद् में काशी नरेश अजात शत्रु के अद्भुत् दर्शनशास्त्र वेत्ता होने की चर्चा की गई है। एक समय ब्राह्मण नवयुवक पंडित गार्ग्यबालाकि काशीनरेश अजात-शत्रु के पास आत्म विद्या पर वार्ता करने आया। अजात शत्रु से उसके दर्शनशास्त्र का ज्ञान न्यून सिद्ध हो गया। इस पर.इस विद्वान् ने अजात शत्रु का शिष्यत्व स्वीकार किया। उस समय अश्वपति कैकेय की भी ख्याति सर्वव्यापी थी। सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न जन तथा बुद्दिल नामक पंडित उद्दालक अरुणि के समीप विश्वानर विद्या (ब्रह्म विद्या) का अध्ययन करने गये। इस विद्या में अपने ज्ञान को सीमित जानकर उन्हें सम्मति दी कि वे इस विद्या के यथार्थ ज्ञान के हेतु अश्वपति कैकेय के पास जावें। तब वे राजा अश्वपति के पास गये तथा इस विश्व विख्यात ज्ञानी नरेश ने इन विद्वानों को आत्म विद्या की शिक्षा दी।

वेदों, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के अध्ययन से प्रत्यक्ष होता है कि मुनि आश्रमों में शिक्षा के केन्द्र तो स्थापित थे ही पर राजाओं की शिक्षा एक विशेष प्रकार की अवश्य होती थी। वेदों के समय में आर्यों को युद्ध करना पड़ा था। भारतभूमि को विदेशी आक्रमण से रक्षित करना था। अतएव वेदों की शिक्षा तो थी ही पर सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से सभी को लेनी होती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में युद्ध से शान्ति के उपरान्त यज्ञादि की बहुलता के काल में राजकुमारों को वेदाध्ययन की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया गया। उपनिषद् काल में राजकुलों में शिक्षा तथा अध्ययन का ऐसा गम्भीर एवं रोचक वातावरण था कि अनेक राजपरिवारों ने दार्शनिक शिक्षा के विश्रुत विद्यालयों का रूप धारण कर लिया था। उपनिषद् काल में दार्शनिक शिक्षा, व्याख्यान तथा प्रश्नोत्तर प्रणाली से दी जाती थी तथा राजा जनक की ६ परिभाषाओं की शिक्षा सर्वथा मनोवैज्ञानिक लोकप्रिय एवं हितकारी समझी जाती थी।

जूनियर हाई स्कूल में कृषि शिक्षा : कुछ सुझाव

प्रदेश की लगभग ७० फीसदी जनता जिसका मुख्य व्यवसाय कृषि ही है गांवों में बसती है। कृषि की उन्नति पर ही उनके जीवन का उत्थान व पतन निर्भर है। जहां की जनता का मुख्य व्यवसाय कृषि ही हो वहाँ आवश्यक है कि उसके बालक ऐसे नागरिक बने जो पढ़ाई के पश्चात घर व गांव और देश के उपयोगी सदस्य बनकर अपने व्यवसाय से अपनी गृहस्थी को सुचारू रूप से चलाते हुए देश को उन्नति की ओर ले जा सके। हमारी आज कल की शिक्षा में यह कमी है कि बालक जो स्कूल में सीखता है वह घर पर जाकर रोजाना के रहन सहन में करता या बरतता नहीं है। इसकी एक मिसाल ले लें जैसे गांव में लाल दवाई कुओं में डालना। स्कूल में हर एक बच्चे को बतलाया जाता है कि कुएँ का पानी साफ करने के लिये समय समय पर उनमें लाल दवा डालते रहना चाहिए। परन्तु जब बच्चे बड़े होकर अपने जीवन को संभालते हैं तो इस कार्य को नहीं करते। इसी तरह बहुत सी मिसालें है। अगर कार्य के ढर्रे को ऐसा बदल दें कि जो हम सीखे वह करें तो हमारा देश उन्नति के शिखर पर बहुत आगे बढ़ सकता है। बालक जब स्कूल से निकलता है तो यह सोंचता है कि उसे कहीं नोकरी मिल जाय। अभिभावक भी यही सोचता है कि मेरा बच्चा पढ़ लिखकर बड़ा हो गया हैं इसलिये उसे नौकरी ही करनी चाहिए। बच्चा भी अपने आप को पढ़ लिखकर घर के अन्य व्यक्तियों से उच्च समझने लगता है और जो साधारण काम पुराने जमाने में कृषिकों के बालक किया करते थे वह आज करने में अपमान समझता है। वर्तमान शिक्षा पद्धति से इस भावना को मिटाना है जिससे शिक्षा देश, काल, व्यवसाय तथा पात्र के अनुसार हो।

सरकार ने जूनियर हाई स्कूल में जो कृषि शिक्षा देने की व्यवस्था की है वह उपयोगी सिद्ध होनी चाहिये। परन्तु उससे लाभ तभी होगा जब वह ऐसी हो जिसमें बालक जो सीखें या पढ़ें साथ ही साथ घर पर भी करते तथा अपनाते जायें। अन्यथा यह शिक्षा अधूरी ही रह जायगी और न हमारे बालक अच्छे नागरिक बन सकेंगे और न अच्छे कृषक। इसके लिये पढ़ाई के विषय, पाठ्य पुस्तकें, स्कूल का दैनिक कार्यक्रम स्कूल की छुट्टियां आदि में भी परिवर्तन करना पड़ेगा जिससे उपरोक्त लक्ष्य अर्थात जो सीखो वह करो पूरा हो सकेगा।

इसे कैसे करें—जूनियर हाई स्कूल में छठी से आंठवी कक्षा तक के विद्यार्थी पढ़ते हैं। प्रत्येक स्कूल में लगभग १० एकड़ भूमि का आयोजन किया गया है। इस १० एकड़ भूमि का बटवारा इस प्रकार होना चाहिए।

(अ) २ एकड़ प्रयोगों के लिये।

(ब) २ एकड़ बाग, तरकारी तथा पौधालय। (नरसरी) के लिये।

(स) बाकी ६ एकड़ विद्यार्थियों के लिये जिसमें छोटे छोटे खेत (प्लाट) बना लिये जाय और हर एक विद्यार्थी के लिये एक एक प्लाट निर्धारित कर दिया जाय। छठी कक्षा के विद्यार्थियों के लिये छोटे छोटे प्लाट होने चाहिए, सातवीं के उससे बड़े और आठवी के सबसे बड़े। प्रत्येक बालक अपने अपने खेत में कार्य करें। स्कूल में बैल आदि रखने की आवश्यकता नहीं है। अगर कभी आवश्यकता पड़े तो किराये पर लिये जा सकते हैं।

छठी कक्षा—इस कक्षा में कुछ सरल तथा व्यवहारिक बातें बताना चाहिए। यह बातें ऐसी हों जिनके अनुसार विद्यार्थी अपने अपने प्लाटों में काम भी करते चलें। उदाहारणार्थ, यदि स्कूल जुलाई माह से प्रारम्भ होता हो तो उन किताबों में भी जुलाई माह की फसलों का विवरण होना चाहिए जिससे कि विद्यार्थियों को कक्षा में जो कुछ पढ़ाया जाय वह उसे व्यवहारिक रूप में करते भी जाय। इसके लिये पुस्तकों में मौसम के अनुसार पाठ्यक्रम देना पड़ेगा।

प्रत्येक विद्यार्थी को अपने खेत का व्यौरा पृथक से रखना चाहिए जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसे यह ज्ञात करने में कठिनाई न हो कि किस माह में कौन कौन सी फस्लें कैसे कैसे बोई जाती हैं, तथा उसमें क्या क्या काम करना पड़ता है। उन्हें एक दूसरे विद्यार्थियों के प्लाटों का दृश्य दर्शन भी कराना चाहिए जिससे वह देख सके कि उनके सहपाठी ने क्या क्या चीजें उत्पन्न की है। जिसके खेत की खेती सबसे अच्छी हो, उसे इनाम मिलना चाहिए।

सातवीं कक्षा—जो कुछ विद्यार्थी छठी कक्षा में सीखे, सातवीं कक्षा में आने पर उसे अपने घर पर करना आरम्भ करें। स्कूल के अध्यापकों को यह देखना चाहिए कि विद्यार्थियों ने उन्नतिशील तरीके से क्या क्या चीजें बोई हैं। जिनके खेत अच्छे हों उन्हें पुरस्कार देना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक छोटी सी प्रतियोगिता होनी चाहिए। विद्यार्थी ने छठी कक्षा में जो फसले उगाई हैं। उनके विस्तृत विवरण सातवीं कक्षा में उन्हें बताये जायँ। इससे यह लाभ होगा कि जो कुछ पहले उन्होंने किया है उसके सम्बन्ध में सब बातों से परिचित हो जायेंगे। इसमें एक कठिनाई यह उपस्थित होगी कि जिन विद्यार्थियों के पास घर पर खेत नहीं है वह किस प्रकार प्रतियोगिता में भाग ले सकेंगे। इसके लिये यह उत्तम होगा कि ऐसे विद्यार्थियों को उन कृषकों से जिनके पास पर्याप्त भूमि है एक छोटा-सा भू-भाग दिला दिया जाय। इस क्षेत्र में जो उपज हो उसके आधे का स्वामी कृषक तथा आधे का विद्यार्थी हो। इस कार्य में समस्त श्रम विद्यार्थी का होगा। इस प्रकार सब विद्यार्थी प्रतियोगिता में भाग लेने में समर्थ हो पायेंगे। एक दूसरा तरीका भी ऐसे विद्यार्थियों को जमीन दिलाने का है। हर ग्राम में कुछ न कुछ जमीन बंजर पड़ी रहती है। यह जमीन ग्राम

समाज अपने गाँव के विद्यार्थियों के लिये निर्धारित कर दे, इस जमीन पर ऐसे विद्यार्थी जिनके घर पर खेती नहीं होती है प्लाट बनाकर काम करें। यह जमीन विद्यार्थियों के लिये छूटी रहनी चाहिए।

आठवीं कक्षा

आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों के ऊपर पर्याप्त उत्तरदायित्व होगा। इस कक्षा के विद्यार्थी अपने-अपने खेतों के अतिरिक्त प्रयोगों तथा पौधालय के क्षेत्र में भी कार्य करेंगे। च्यूँकि यह विद्यार्थी अवस्था में बड़े होंगे इस कारण उनसे अधिक कार्य लिया जा सकता है।

प्रयोग

प्रयोग उन चीजों के होंगे जो कि अभी तक उन क्षेत्रों के लिये समस्या बने हुए हैं। तथा जिसके समाधान के लिये अभी तक कोई परीक्षण नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, भिन्न-भिन्न खादों का प्रयोग, नवीन सुधरी हुई किस्मों का प्रयोग जिससे यह ज्ञात हो सके कि कौन कौन सी खादें तथा किस्में उस क्षेत्र में सफल हो सकती है।

इन प्रयोगों के साथ ही साथ तरह तरह के प्रदर्शन करने की विधियाँ भी बताई जाय। आठवीं कक्षा के विद्यार्थी इन चीजों को लेकर अपने अपने खेतों पर प्रदर्शन भी करें। जिन विद्यार्थियों के पास घर पर जमीन नहीं है वे दूसरे के खेत में प्रदर्शन करें। स्कूल के अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी के लिये इस प्रकार का प्रदर्शन करने का लक्ष्य निर्धारित कर दें। प्रत्येक विद्यार्थी अपने किये हुए प्रदर्शनों के सम्बन्ध में आवश्यक टिप्पणी भी अपनी नोट-बुक में लिखते रहें ताकि उन्हें पैदावार आदि का ज्ञान हो सके।

पौधघर

हर एक स्कूल में एक पौध गृह कायम किया जाय जिसमें तरकारी और फलों के पेड़ों की पौध तैयार कराई जाय। पौधघर के साथ साथ एक छोटा सा बाग भी होना चाहिए। आठवीं कक्षा के विद्यार्थी पौधघर का पूरा काम करें तथा नीचे की कक्षा के विद्यार्थियों और आस पास के गाँवों की पौधों की आवश्यकता की पूर्ति भी करें। स्कूल के अलावा आठवीं कक्षा के विद्यार्थी अपने अपने टुकड़ों और घरों पर भी पौध लगाये और तरकारी या फलों का उन्नतिशील तरीके से उत्पादन करें।

अन्य कृषि सम्बन्धी कार्य

आठवीं कक्षा के विद्यार्थी का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जाय कि कृषि की सब व्यवहारिक पद्धतियों का उन्हें पूरा पूरा ज्ञान हो जाय। इनमें फसली कीड़े मकोड़े तथा रोगों से रक्षा जानवरों का खुराक संतुलन व नस्ल सुधार, साधारण रोगों की चिकित्सा और कृषि-यन्त्रों का प्रयोग मुख्य है।

जो विद्यार्थी अपने घर पर अच्छा प्रदर्शन करें उनको और विद्यार्थियों तथा अ गाँव और आस पास के गाँव के लोगों को बुलाकर दिखाना चाहिए। साल में दो बार फसल कटने से पहले एक एक जलसा होना चाहिए जिसमें विद्यार्थियों के माँ बाप और सब लोग बुलाये जांय। इन सब लोगों को लड़कों के प्लाट और उनकी खेती और इधर उधर जो प्रदर्शन तथा और कार्य किये गये, दिखलाया जाय। हर गाँव में जहाँ जहाँ प्रदर्शन हुये हैं, बिद्यार्थियों की टोलियाँ बन जाय और वहाँ के सब लोगों को प्रदर्शन दिखायें। इन दृश्य दर्शनों से स्कूल और गाँव के लोग एक दूसरे के निकट आयेंगे और वे सब लोग जब अपने बालकों को उन्नतिशील तरीकों से खेती करते देखेंगे तो अपने आप भी उन तरीकों को अपनाना शुरू कर दगे। गाँव में कुछ ऐसे भी परिवार होंगे जिनके घर से बच्चे पढ़ने जाते होंगे। इन लोगों के पास ही उन्नतिशील कृषि और गाँव के सामाजिक उत्थान की बातें दृश्य दर्शन द्वारा पहुँचाई जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त जब किसी गाँव में कोई प्रयोग आदि हो रहा है तो स्वभावतः पड़ौसी के नाते जिज्ञासुवश नये लोग भी उसे देखेंगे और समझकर और आगे चलकर अपनाने की कोशिश करेंगे।

एक दो साल प्रदर्शन करने के बाद इस बात की आवश्यकता पड़ेगी की जिन चीजों के प्रदर्शन कामयाब हो उन चीजों का गांव में बढ़ाव हो और लोग बाग उन्हें अपनाने लगे। यह काम आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों, युवक मंडलों के सदस्यों जो विद्यार्थी भी होंगे तथा स्कूल के शिक्षक गण लेकर चलें इस काम में जो कुछ दिक्कतें आवें उन्हें बैठ कर सामूहिक बाद विवाद में हल किया जाय।

हर साल दोनों जलसे जैसा ऊपर लिखा गया है खरीफ और रवी की फसलें पकने के पहले किये जाय। यह जलसे किसान मेलों की तरह होने चाहिए जल्सों में छोटी सी नुमाइशों का भी आयोजन किया जाय। इन नुमायशों में अच्छी फसलों, कृषि यंत्र, जानवरों और गांव की बनी हुई चीजों के नमूने हर गांव में किये गये विकास के कार्य के व्यौरे का विवरण दर्शाया जाय।

हर स्कूल के अन्तर्गत एक बीज गोदाम भी होना चाहिए अगर वहां कोई सरकारी बीज गोदाम है तो उसे धीरे धीरे बन्द कर देना चाहिए और उसका प्रबन्ध स्कूल को सौंप कर सरकार को अलग हट जाना चाहिए अगर कोई बीज गोदाम अब तक नहीं है तो स्कूल अपनी तरफ से एक बीज गोदाम खोल दे। बीज गोदाम स्कूल की सहकारी समिति की तरफ से चलाना चाहिए। बीज गोदाम के चलाने के लिये कोई अधिक धन की आवश्यकता नहीं है कोशिश यह करनी चाहिए कि पहले साल सरकारी गोदाम से उन्नतिशील बीज लेकर स्कूल के चारों तरफ और आस पास बटवा देना चाहिए। इसके बाद स्कूल के पास अगर पैसा है तो उस बीज के पैसे सरकार को दे दे नहीं तो फसल पकने पर तक कृषकों से बीज वसूल करके गोदाम को लौटा दिया जाय उन बच्चों से जिनके मां बापों को उन्नतिशी

बीज दिया गया है फीस बजाय धन के रूप में लेने के उन्नति शील गल्ले के रूप में ही ली जाय। इससे स्कूल को बीज के लिये उन्नतिशील गल्ला सस्ते दामों में मिल जायगा और किसान भी बीज गल्ले के रूप में देने से इनकार नहीं करेंगे।

धीरे धीरे यह उन्नतिशील बीज जब तक आवश्यकतानुसार पूरा बीज इक्ठा न हो जाय स्कूल के गोदाम पर बढ़ाता रहेगा। अगर फीस के लेने में बीज गोदाम की आवश्यकता से अधिक गल्ला इकट्ठा हो जाय तो उसे कुछ समय रखकर ऐसे समय पर बेच देना चाहिए जब भाव अच्छे हों। बीज गोदाम के लिये यह आवश्यक नहीं है कि कोई अलहदा आदमी रक्खा जाय बल्कि स्कूल का ही कोई शिक्षक आठवीं कक्षा के विद्यार्थी की मदद से उसे चला सकता है। जब कभी कुछ मजदूर रखने की आवश्यकता पड़े तो रख लिये जावें।

इन बीज गोदामों पर हर किस्म के खादें, कृषि यन्त्र और पौदों और जानवरों की बीमारी से बचाने की दवायें और साधन भी रक्खे जायें जिससे सब कोई खरीद सकें।

हर स्कूल में एक समान शिक्षा केन्द्र और एक युवक मंडल की स्थापना करनी चाहिए। एक सुन्दर पुस्तकालय और उसके साथ साथ एक सूचना केन्द्र भी स्कूल में होना चाहिए। पुस्तकालय का सदस्य बनने के लिये एक छोटी सी फीस निर्धारित कर देनीं चाहिए। स्कूल के विद्यार्थियों के अलावा ग्रामों के और सब पढ़े लिखे सज्जन भी पुस्तकालय के सदस्य बन सकते हैं। कुछ प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम भी इन स्कूलों की मारफ़त चलाना चाहिए प्रौढ़ शिक्षा का कार्य भी विद्यार्थियों तथा ग्राम के कुछ सज्जन पुरुषों द्वारा किया जा सकता है। ये विद्यार्थी और लोग बारी बारी से टोली बना कर प्रौढ़ शिक्षा स्कूलों में पढ़ाने का कार्य कर सकते हैं। प्रौढ़ शिक्षा का कार्य करने से पहले पढ़ाने वाले विद्यार्थियों की तथा और ग्राम के सज्जन पुरुषों की जो इस कार्य के लिए तैयार हों एक प्रशिक्षण होनी चाहिए जिससे वह पढ़ाने का कार्य ठीक ढंग से कर सकें।

युवक मंडल योजना में सब स्कूल के विद्यार्थियों और गांव के और जवान लोगों को भरती करना चाहिये। इस मंडल के कार्यक्रम की एक सूची तैयार करनी चाहिए जिससे लोगबागों में सम्पर्क बढ़ सके और हर एक युवक अपने अपने गांव को उन्नति के शिखर पर ले जा सके।

हर एक गाँव में एक एक युवक मंडल की स्थापना होनी चाहिए। ये युवक मंडल स्कूल के अन्तर्गत काम करें गांव में खेलों का आयोजन युवक मंडली द्वारा किया जाय। किसान मेलों के अवसर पर सब गांवों के युवक मंडल का अन्तिम (फाइनल्स) हो और इनाम दिये जायें।

हर एक युवक मंडल का सदस्य अपने यहां एक एक अपनी पसन्द का उन्नतिशील प्रोग्राम लेकर चले। जब वह उसमें कामयाब हो जावे तो गाँव के लोगों और विद्यार्थियों को उनका दृश्य दर्शन कराया जाय।

विकास योजना से इन स्कूलों का सम्बन्ध कैसा हो--प्रदेश में जगह-जगह सामुदायिक या राष्ट्रीय विकास योजनायें चल रही है। इनमें से हर एक योजना के अन्तर्गत कई जूनियर हाई स्कूल पड़ेगें। इन सब योजनाओं और स्कूलों का ध्येय गाँव की उन्नति करना है। इसलिये यह आवश्यक है कि ये दोनों एक दूसरे के अंग होकर चले जिससे काम में दोहरापन न हो।

हर एक स्कूल की एक विकास समिति होनी चाहिए जिसके निम्नलिखित सदस्य हों।

१. स्कूल का प्रधानाध्यक्ष .... प्रधान

२. एक ग्राम सभा का प्रधान जो कि स्कूल के अन्तर्गत विकास के क्षेत्र के सभी प्रधानों ने चुना हो .... मंत्री

३. स्कूल का कृषि शिक्षक .... उपमंत्री

४. सदस्य

(अ) क्षेत्र के सब ग्राम सभा के प्रधान।

(ब) क्षेत्र के सब सहकारी सरपंच।

(स) पंचायती अदालत के सरपंच।

(घ) क्षेत्र के पंचायत मंत्री।

(ड) क्षेत्र विकास अधिकारी या उपनियोजन अधिकारी या उनके चुने हुये व्यक्ति।

(च) चार गैर कर्मचारी जिनमें से दो हरिजन हो।

ये गैर सरकारी सदस्य ऐसे होने चाहिए जो इलाके के विकास में दिलचस्पी रखते हों। इनका चुनाव जिला शिक्षा अधिकारी को करना चाहिए।

आज कल हर पंचायती अदालत में एक क्षेत्र विकास समिति काम करती है। जिस जगह जूनियर हाई स्कूल हों उनका हलका निर्धारित करके, वहाँ की क्षेत्र विकास योजना बनानी चाहिए जिससे स्कूल के शिक्षक गण और युवक मंडल के सदस्य गण योजना के मुताबिक काम कर सकें। जिला नियोजन समिति या प्रोजेक्ट एडवाइजरी समिति में जो रुपया रहता है। उसमें से आवश्यकतानुसार कुछ रुपया हर स्कूल की विकास समिति के पास रख देना चाहिए जिससे वह अपने क्षेत्र में विकास का कार्य कर सकें।

नियोजन समिति या प्रोजेक्ट एडवाइजरी समिति में भी जिले भर के जूनियर हाई स्कूलों के कम से कम दो सदस्य होने चाहिए इन दो सदस्यों की नियुक्ति जिलाधीश महोदय शिक्षा अधिकारी की मारफत कर दें।

आजकल जो सब डिप्टी इन्सपेक्टर्स लोग काम कर रहे हैं उनका विकास के काम में चार माह का प्रशिक्षण होना चाहिए जिससे वह इन स्कूलों में विकास का कार्य ठीक तरीके से करा सकें। भविष्य में जो सब डिप्टी इंसपेक्टर्स (उप शिक्षा अधिकारी) रक्खे जायें वे कृषि ग्रेजुएट होने चाहिए ताकि वह कृषि के कार्य में अच्छी तरह से दिलचस्पी ले सके।

स्कूल में छुट्टियां—स्कूल में लम्बी छुट्टियाँ नहीं होनी चाहिए। स्कूल बजाय जुलाई में खुलने के बरसात के पहले १५,१६ जून के लगभग खुल जाय जिससे विद्यार्थी गण बरसात के फसलों की बुवाई कर सके यह तारीखें जगह-जगह के लिये अलग-अलग होगीं।

छुट्टियों में भी स्कूल फार्म पर विद्यार्थियों से ही काम कराया जाय। इस काम के लिये विद्यार्थियों को मजदूरी दी जाय इस तरह के काम के लिये उन्हीं विद्यार्थियों को प्रोत्साहन दिया जाय जो गरीब हो और फीस न दे पाते हों। छुट्टियों के अलावा भी कभी कोई काम हो तो ऐसे ही लड़कों से कराया जाय जिससे वह अपनी फीस का धन कमा सके।

रबी की फसल के समय आज कल इम्तहान होते हैं यह नहीं होने चाहिए इससे विद्यार्थी गण कटाई के समय कटाई का काम कर सकेंगे और अपने प्रदर्शनों का ठीक विवरण भी रख सकेंगे।

लिखित इम्तहान कटाई के पहले ही ले लेने चाहिए। अलिखित इम्तहान कटाई के बाद फसल कटने तथा उसके बाद तक हो सकते है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द

श्री रामदेव श्रीवास्तव

प्रत्येक मनुष्य में अनेक जन्मजात वृत्तियाँ, विविध मूल प्रवृतियाँ तथा स्वाभाविक इच्छायें व प्रेरणायें उत्पन्न होती हैं। वह एक सामाजिक प्राणी है। समाज के रीति रिवाज तथा विधान के मध्य पला है और इसके फल स्वरूप उसमें कुछ सामाजिक प्रेरणायें भी जाग्रत होती हैं। वह समाज में सुरक्षा स्नेह, आदर, अनुमोदन, गौरव प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। मनुष्य इन इच्छाओं तथा प्रेरणाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है पर इन सब की निर्वाध तथा पूर्णरूपेण तृप्ति सामाजिक विकास की वर्तमान दशा में असम्भव है। विश्वविद्यालय का विद्यार्थी प्रतियोगिता पूर्ण वातावरण में तथा अपनी सीमित क्षमताओं के कारण बहुधा आशातीत सम्मान, पद, तथा सफलता पाने में असमर्थ हो जाता है असफल होने पर ध्येय की प्राप्ति की लालसा से वह अन्य उपाय ढूढ़ने पर बाध्य होता है। और ऐसी दशा में प्रत्येक व्यक्ति में अपने को वातावरण से समायोजित करने की भावना निहित रहती है। मूल ध्येय की प्राप्ति में असफल होने पर व्यक्ति के प्रयास अथवा प्रेरणा का अन्त नहीं होता है बल्कि वह भिन्न अथवा प्रतिरूप समायोजन (Adjustments) द्वारा स्थानापन्न ध्येय को प्राप्त कर ही सन्तुष्ट होता है और यदि किसी प्रकार यह भी असम्भव रहा तो वह व्यक्ति इच्छा-जनित आततिं का शिकार हो जाता है और उसके व्यवहार व चरित्र में चित्तभ्रम के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

मनुष्य में समायोजन की आवश्यकता तभी पड़ती है जब उसकी इच्छा जनित प्रेरणाओं की पूर्ति में कोई बाधा पड़ती है या बाहरी रोड़ा अटक जाता है और यदि उसके समायोजन की क्रिया में किसी प्रकार का बाह्य कारणो से विरोध हुआ उसे निराशयुक्त झुंझलाहट की अनुभूति होती है। उस अवस्था में वह अपने सम्पूर्ण शक्ति से उन अवरोधों से संघर्ष कर सभी विघ्नो को दूर करने का प्रबल प्रयास करता है। यदि संघर्ष आन्तरिक हुआ जिसका संतुलित समायोजन भी सम्भव नहीं तो परिणाम बड़ा भीषण होता है और ऐसे आन्तरिक संघर्षों को मानसिक अन्तर्द्वन्द की संज्ञा दी गई है। अतः इच्छा-संघर्ष की वह स्थिति जिसमें व्यक्ति को एक ही समय दो या दो से अधिक प्रेरणाओं अथवा प्रलोभनों की अनुभूति होती है जिनकी तृप्ति एक साथ होना असंम्भव होती है, मानसिक अन्तर्द्वन्द कहलाता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द की दशा में व्यक्ति के सामने दो या दो से अधिक पारस्परिक विरोधी मार्ग उपस्थित होते है उनमें से उसे केवल एक ही मार्ग को चुनना होता है अतः वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। एक प्रेरणा एक ओर आकर्षित करती है और दूसरी दूसरी ओर यह समझ में नहीं आता कि क्या करे, क्या न करे। व्यक्ति

सोचता है, विचारता है तथा सभी प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करता है। मार्ग निर्धारण में वह असमंजस में पड़ा रहता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कर्ट लिवां द्वारा प्रतिपादित 'क्षेत्रीय सिद्धांत' के अनुसार व्यक्ति का व्यवहार केवल व्यक्ति अथवा केवल उसके वातावरण पर ही निर्भर नहीं करता है वरन् वह दोनों के मध्यस्थ अन्तर्क्रिया का फलस्वरूप होता है।

व्यवहार सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियों को हम दैशिक (vectors) से प्रदर्शित कर सकते हैं। दैशिक (vectors) व्यवहार की दिशा तथा व्यवहारिक प्रवृत्ति की मात्रा का प्रतीक होता है। यदि प्रवृत्ति वातावरण के विरुद्ध अभिमुख हुआ तो वह ऋणात्मक और यदि वातावरण की ही ओर अभिमुख हुआ तो धनात्मक कहलाता है। ऋणात्मक दैशिक उस स्थित का सूचक है जिसमें मनुष्य की प्रवृत्तियां प्रस्तुत वातावरण के परिहार व उससे पलायन करने की होती हैं। इसके विपरीत धनात्मक दैशिक में व्यक्ति की प्रवृत्तियां वातावरण की ओर आकर्षित व होने अधिक समीप आने का होती हैं। इसको चित्र द्वारा निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं :--

(क)

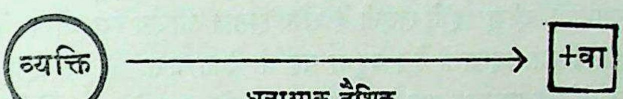

धनात्मक दैशिक

(ख)

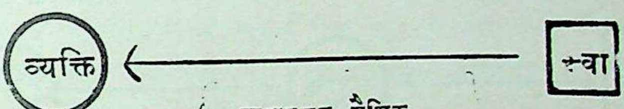

ऋणात्मक दैशिक

क्षेत्रीय सिद्धांत के अनुसार तीन प्रकार के मुख्य अन्तर्द्वन्द हो सकते हैं जो निम्न नामों से अभिहित किये जा सकते हैं : -

(१) आकर्षणाकर्षण द्वन्द
(२) मुक्ताकर्षण द्वन्द
(३) मुक्तामुक्त द्वन्द

(१) आकर्षणाकर्षण द्वन्द—इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द में लगभग समान शक्ति की दो धनात्मक प्रेरणायें वातावरण की दो विभिन्न स्थितियों (चित्र में स^1, स^2) की ओर आकर्षित होती हैं। अतः एक बच्चे के सामने यह समस्या उत्पन्न हो सकती है कि शाम को पिता जी के साथ वह एक प्रीति-भोज में सम्मिलित हो अथवा बड़े भाई के साथ सिनेमा जाय। एक युवक के समक्ष लगभग समान सुन्दरता की दो वधुओं को अपनी स्त्री के रूप में चुनने का प्रश्न हो सकता है। एक बालक इस उलझन में पड़ सकता है कि वह माता द्वारा पकाये हुये स्वादिष्ट पकवान का रसास्वादन करे अथवा उसी समय घूमने जाने को उद्यत पिता का साथ करे, इत्यादि।

प्रायः हम लोगों को अधिकांशतः इसी विशिष्ट प्रकार के अन्तर्द्वन्द का सामना करना पड़ता है। इस अन्तर्द्वन्द में ऋणात्मक प्रेरणा की अनुपस्थिति के कारण किसी प्रकार के व्यक्तित्व विच्छेदन व दुराभियोजन (maladjustment) का डर नहीं रहता है। इस द्वन्द में हमारे सामने कई मार्ग उपस्थित हो जाते हैं और हम एक अनिश्चय की दशा में होते हैं। एक मार्ग को चुनना होता है और दूसरे मार्ग व मार्गों को अनुचित अथवा अनुपयोगी ठहरा कर छोड़ देना होता है। जब तक एक निर्णय नहीं बन जाता तब तक कल्पना के स्तर पर द्वन्द चलता रहता है और मानसिक क्लान्ति का अनुभव होता है। उपर्युक्त उदाहरण में बालक के मानस में एक तूफान उठता है। वह सोचता है कि उसने बहुत दिनों से सिनेमा नहीं देखा है, सिनेमा का प्रदर्शन भी अच्छा होगा, प्रसिद्ध नायक व नायिका इसमें काम कर रहे हैं। साथ ही साथ दूसरी प्रेरणायें उसे प्रीति-भोज की ओर आकर्षित करती हैं, वह सोचता है वहाँ स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ होंगे, पुराने मित्रों से भेंट होगी, इत्यादि । किसी कारणवश जब व्यक्ति एक स्थिति (स^1) की ओर अधिक आकर्षित हो जाता है तो उस स्थिति के (स^1) अधिक समीप होने के कारण उससे सम्बन्धित प्रेरणा शक्ति अधिक शक्तिशाली हो जाती है और दूसरी ओर (स^2) की अभिमुख प्रेरणाशक्ति क्षीण होने लगती है और हमारा निर्णय बन जाता है। यही मनो-व्यापार निर्णय प्रतिक्रिया कहलाती है। बहुधा यह भी देखा गया है कि एक लक्ष्य प्राप्त कर उससे सन्तुष्ट होने के पश्चात उस लक्ष्यप्राप्ति की प्रेरणाशक्ति शून्य हो जाती है और दूसरी स्थिति (स^2) की प्रेरणाशक्ति उसे अपनी ओर आकर्षित करने लगती है।

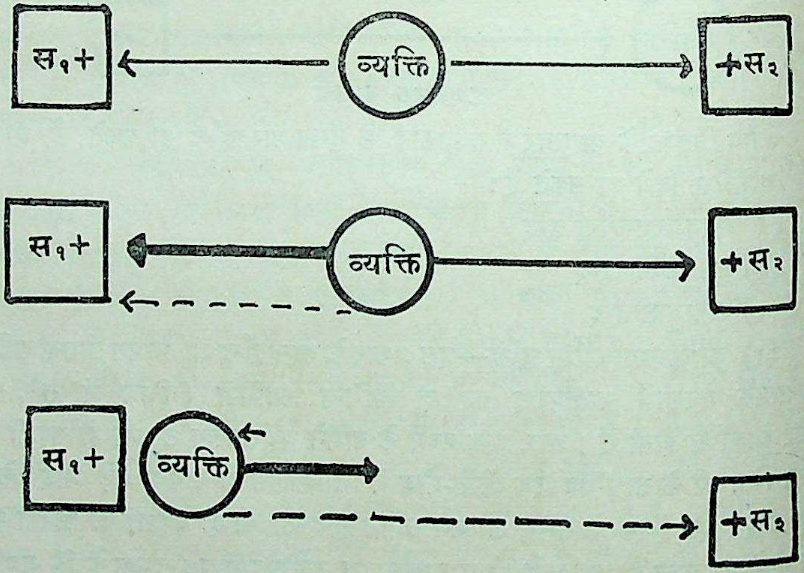

आकर्षणाकर्षण द्वन्द

२–मुक्तामुक्त अन्तर्द्वन्द—इस प्रकार का द्वन्द दो ऋणात्मक शक्तियों के फलस्वरूप होता है। अतः व्यक्ति दोनों स्थितियों (स^{1}, स^{2}) से मुक्त होना चाहता है और उसकी प्रवृत्ति पलायन करने की होती है। इस द्वन्द से पीड़ित व्यक्त अपने को 'कुआं और खाई के बीच' पाता है। इस द्वन्द के कुछ उदाहरण ये हैं—(१) बालक परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के डर से परीक्षा में बैठने से डरते हैं तथा साथ ही साथ परीक्षा में न बैठने से माता-पिता के डांट से भी डरते हैं -(२) बहुधा सिपाही युद्ध में मारे जाने के डर से पीड़ित रहते हैं और साथ ही साथ युद्ध क्षेत्र से भाग जाने पर समाज में कायर कहलाने के डर से भी हिचकते हैं।

इस प्रकार के द्वन्द को सुलझाने के लिए व्यक्ति प्रायः क्षेत्र से भाग कर तीसरा मार्ग चुन लेता है और दोनों ही अनिच्छित स्थितियों (स^{1}, स^{2}) से मुक्ति पा जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में बालक किसी रोग से ग्रसित होकर दोनों स्थितियों से त्रास पा जाता है और सिपाही बिना किसी कारण के ही श्रवणशक्ति हीन व दृष्टिहीन हो सकता है। पर यह भी सम्भव है कि व्यक्ति अपने मानसिक, सामाजिक तथा भौतिक बाधाओं के कारण क्षेत्र का परित्याग न कर सके। ऐसी दशा में व्यक्ति को विवश होकर एक दैशिक शक्ति को दूसरे दैशिक शक्ति से अधिक सबल बनाना पड़ता है और फिर सबल मार्ग का अनुसरण करना साध्य हो जाता है। बहुधा यह देखा जाता है कि विद्यार्थी उस समय तक पढ़ना शुरू नहीं करते जब तक कि परीक्षा बिल्कुल निकट न आ जाय। यदि मुक्तामुक्त द्वन्द से व्यक्ति अपने को बिल्कुल तिक्त नहीं कर पाता तो अपने को बड़ा अस्थिर और अति विक्षुब्ध दशा में पाता है तथा अन्य प्रतिरूप अभियोजन व रक्षात्मक रचना (Defence mechanism) का सहारा लेता है।

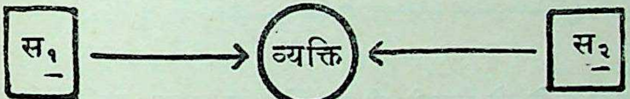

(क)

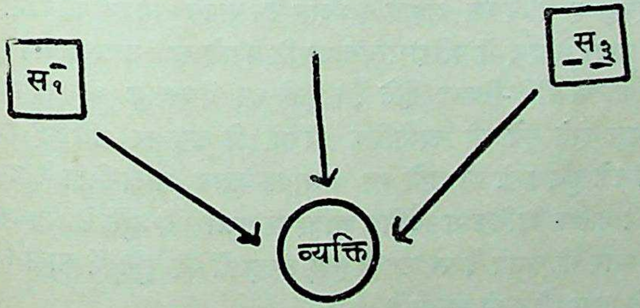

(ख) व्यक्ति क्षेत्र छोड़का स्थिति-से त्रास पर रहा है।

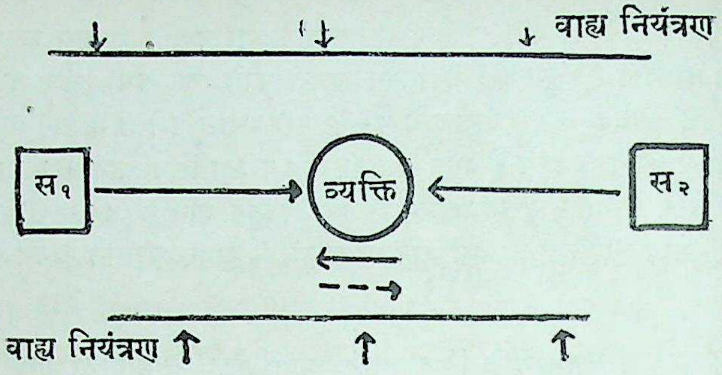

(ग) सामाजिक भौतिक तथा मानसिक बाधाओं से जकड़ा तथा उसे छोड़ने में असमर्थ व्यक्ति मानसिक अतति से पीड़ित है।

मुक्तामुक्त अन्तर्द्वन्द

मुक्ताकर्षण द्वन्द—इस प्रकार के द्वन्द में एक ही स्थिति (स) के प्रति व्यक्ति के दो प्रेरणायें होती है, एक परिहारात्मक तथा दूसरी आकर्षणात्मक। एक ओर वह प्रस्तुत स्थिति से मुक्त होना चाहता है और दूसरी ओर उसी स्थिति को प्राप्त भी करना

(क)

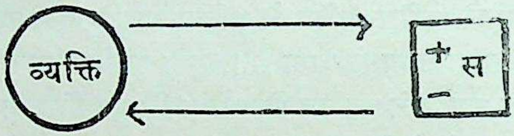

(ख)

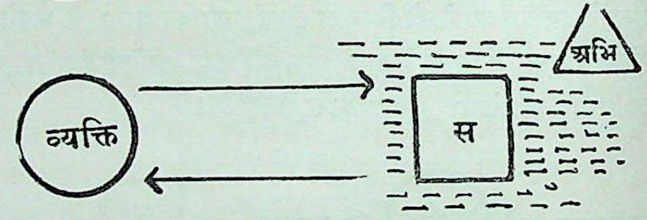

चाहता है। जैसे रण-क्षेत्र में लड़ते हुये सिपाही की एक ओर यह इच्छा होती है कि ऐसे बहादुरी के कारनामें करें कि जिससे संसार में बहादुरी और देशभक्ति का सिक्का जम जाय और दूसरी ओर यह इच्छा होती है कि लड़ाई के मैदान से वापस जाकर प्रियजनों से मिले। कभी-कभी इस प्रकार के द्वन्द में परिहारात्मक प्रवृति बनाने का उत्तरदायित्व दूसरे व्यक्ति व सामाजिक व नैतिक रीति-रिवाज होते हैं। दूसरे घर में बालक को दिये गये मिठाई के खाने की इच्छा होते हुये भी सामाजिक नियमों के अनुसार उसे 'न' कहना पड़ता है। अलमारी में रखे हुए फलों को खाने का लालयित बालक माता-पिता के डर से उसे निकाल नहीं पाता। बालक अधिकांश दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधक के रूप में माता-पिता को प्यार भी करता है पर उसकी कुछ इच्छाओं की पूर्ति में माता-पिता को बाधक देखकर उनसे घृणा भी करने लगता है।

मुक्ताकर्षण द्वन्द केवल क्षेत्र का परित्याग करने से सुलझ नहीं सकता क्योंकि स्थिति के प्रति धनात्मक प्रवृत्ति उसको दूर जाने से रोकती है और वह, उस स्थान पर जहां आकर्षणात्मक तथा परिहारात्मक शक्तियां संतुलित हो जाती हैं नाचा करता है। धनात्मक व ऋणात्मक प्रवृत्तियां एक दूसरे का निराकरण (nullify) न कर व्यक्ति में मानसिक आतति उत्पन्न कर देती है और इस द्वन्द में व्यक्ति अधिकतर निम्न व प्रतिरूप समायोजन का शरण लेता है।

मानसिक द्वन्द के स्रोत--मानव शिशु अन्याश्रित तथा शैशवास्था में अक्षम होता है । वह अपनी सभी आवश्यकताओं के लिये माता पिता अथवा अभिभावक पर निर्भर होता है और शैशवकाल में परिवार ही उसका सामाजिक वातावरण होता है। परिवार बालक में अधिकांश द्वन्दों की उत्पत्ति का कारण होता है। बालक की कुछ मुख्य मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें होती हैं और वे हैं स्नेह, सुरक्षा, स्वतत्रंता तथा अनुशासन । बालक के सुदृढ़ व्यक्तित्व के लिये स्नेह प्रदान करना परमावश्यक है और जो बालक इस स्वत्व से वंचित रहा उसका मानसिक जीवन असन्तोषजनक हो जाता है और नाना प्रकार के मानसिक द्वन्दों का शिकार बन जाता है। वह अपने को एक उपेक्षित बालक तथा माता पिता के मनोरजंन में बाधक समझता है । माता-पिता के मध्यस्थ कलहपूर्ण व्यवहार, प्रतिकूल गृह-वातावरण, तथा भाई बहन के रोषजनित व्यवहार, घरेलू झगड़े, विपत्तियाँ, बीमारियाँ तथा माता-पिता में से किसी एक का अथवा दोनों की मृत्यु बालक में असुरक्षा की भावना जागृत करती हैं। बालक के लिये अनुशासन की भी आवश्यकता है। माता पिता का बालक के प्रति अरूचि का व्यवहार जिस प्रकार घातक है उसी प्रकार बालक को अत्यन्त दुलार दिखाना भी हानिकारक है। इसी भाँति न तो बालक को निरा निकम्मा ही समझना चाहिये कि उसे किसी प्रकार का उत्तरदायित्व का कार्य न दिया जाय और साथ ही ऐसा भी न होना चाहिये कि वह मनमाना करे क्योंकि प्रत्येक स्थिति एक सीमा के पार करने के पश्चात बालक के लिये मानसिक द्वन्द का कारण बन सकती है।

जितनी भी मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य में पाई जाती है सम्भवतः काम वासना ही सब से प्रबल है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक सोपनहार का कथन है कि काम-वासना ही "मज़ाक का लक्ष्य, शांति का हेतु, गम्भीरता का आधार तथा लड़ाइयों का कारण है"। मूल प्रवृत्तियों में सब से अधिक दमन काम-वृति का ही किया जाता है। और जैसा हम कह चुके हैं कि दमन का परिणाम द्वन्द की उत्पति है। अतः काम-वासना जनित द्वन्द को रोकने के लिये उस मूल प्रवृति को दमन करने की अपेक्षा उसका शोध तथा मार्गान्तरीकरण अधिक वांछनीय है। रचनात्मक कार्य, उपयुक्त मनोरजंन, कला, साहित्य, खेल आदि का शरण लेना अति हितकर होगा। शिक्षा संस्थाओं में मनोवैज्ञानिक द्वारा उचित सेक्स संबंधी शिक्षा बालकों के लिये अति उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

भूगोल की शिक्षा का महत्व तथा उद्देश्य

श्री जगतराम मिश्र, एम० ए०, एल० टी०

वर्तमान समय में सामाजिक विषय के अन्तर्गत भूगोल के सम्यक् शिक्षण की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि एकतंत्र, प्रजातंत्र एवं साम्यवाद आदि विभिन्न प्रकार की विचार धाराओं से प्रेरित संसार की राजनीति विश्वबंधुत्व की भावना के मार्ग में बाधक हो रही है और उसने भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी कर दी है। अपना अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने की लिप्सा, उपनिवेशों और काले-गोरों का प्रश्न, पूंजी, उत्पादन, वितरण, श्रम और खाद्य आदि की समस्याएँ आज संसार के सम्मुख भीषण रूप से हैं। इनमें से अनेक समस्याएँ केवल किसी एक देश तक ही सीमित नहीं हैं, प्रत्युत् अन्तर्राष्ट्रीय तथा विश्व व्यापी हैं। ऐसी परिस्थिति में इस बात की परम आवश्यकता है कि बच्चों को जो संसार के भावी नागरिक हैं ऐसी शिक्षा दी जावे कि वे बड़े होने पर अन्य देशों के निवासियों को ठीक ठीक तथा भली प्रकार समझ कर एक दूसरे से सहयोग सहानुभूति रखना सीखें। इस उद्देश्य की पूर्ति अन्य विषयों की अपेक्षा भूगोल पर अधिक निर्भर है। अतः भूगोल का यह उत्तरदायित्व है कि वह छात्रों में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक प्रारम्भिक बुनियाद स्थापित करे और उनको ऐसे अवसर दे कि वे संसार के विभिन्न देशों के निवासियों के जीवन तथा उनके वातावरण से परिचित हो सकें। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध भूगोल-वेत्ता जेम्स फेयरग्रीव की उक्ति विचारणीय है। उनके कथनानुसार 'भूगोल का कार्य यह है कि वह भावी नागरिकों को इस विशाल विश्व की परिस्थितियों की ठीक ठीक कल्पना करने की शिक्षा दे और इस प्रकार अपने चारों ओर की राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं पर विवेक पूर्ण विचार करने में उनकी सहायता करे।'

पहले स्कूल का कार्य लिखना, पढ़ना और हिसाब सिखाने तक ही सीमित था और भूगोल की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। क्रमशः आवश्यकता से प्रेरित हो पाठशालाओं में भूगोल पढ़ाया जाने लगा और अब संसार की परिस्थितियों को देखते हुये भूगोल को स्कूल के पाठ्य क्रम में एक सामाजिक विषय के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मनुष्य केवल अपने देश का ही नहीं, वरन् संसार का एक नागरिक है। उसे संकीर्ण राष्ट्रीयता से दूर रहने की आवश्यकता है। उसमें विश्वबंधुत्व की भावना उत्पन्न करने तथा शांति स्थापना के लिये वाल्यकाल से ही भूगोल की शिक्षा देना आवश्यक है। अतः यदि हम भूगोल की शिक्षा समुचित रूप से दें तो हम संयुक्त राष्ट्र संघ की शैक्षिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समिति द्वारा प्रस्तुत आदर्शों पर चल

कर संसार के निवासियों में पारस्परिक भाई-चारे की भावना उत्पन्न कर सकते हैं। इससे उनमें विश्व नागरिकता की भावना उदित होगी और संसार की समस्याओं के प्रति उनका दृष्टि कोण विवेकपूर्ण, सहृदय एवं व्यापक होगा।

वास्तव में भूगोल का आरम्भ प्रकृति-अध्ययन से होता है। प्राकृतिक वस्तुओं को देखते देखते बच्चे अपने आस-पास की छोटी दुनियाँ में दिलचस्पी लेने लगते हैं और उन मौलिक वस्तुओं से परिचित हो जाते हैं जिनकी बुनियाद पर बच्चों को भविष्य में अन्य भौगोलिक बातें पढ़ाई जाती हैं। स्कूल में प्रविष्ट होने से पूर्व ही बच्चे स्वतः बहुत सी ऐसी बातों को जानते हैं जो भौगोलिक होती हैं और उनके इस ज्ञान की वृद्धि निरन्तर स्कूल के बाहर निरीक्षण द्वारा होती रहती है। वे बचपन में ही गर्मी, जाड़े, और बरसात के मौसमों, सूर्य, चन्द्रमा एवं तारों, अपने पड़ोस के नदी नाले, आदि प्राकृतिक वस्तुओं के विषय में बहुत सी बातें जान जाते हैं। वे प्राणिवर्ग और प्राकृतिक वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध से परिचित हो जाते हैं। प्रकृति के इस ज्ञान से बच्चों की निरीक्षण और जिज्ञासा-शक्ति स्वाभाविक रूप से बढ़ती रहती है। इसी लिये शिक्षा-विशेषज्ञों की सम्मति है कि बच्चों को बचपन से ही उनके पूर्व अनुभवों के आधार पर भूगोल पढ़ाना चाहिये। बाल और प्राथमिक कक्षाओं में केवल पिछले अनुभवों और वातावरण के आधार पर ही बालकों को भूगोल की शिक्षा देनी चाहिये।

भूगोल को पाठ्यक्रम में एक विज्ञान के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अन्य विज्ञानों की भाँति भूगोल भी छात्रों के निरीक्षण तथा विश्लेषण द्वारा तर्क, विचार और अन्वेषण शक्ति का विकास करता है। परन्तु भूगोल एक ऐसा विज्ञान है जिसका मानव जीवन से एक सामाजिक विषय होने के कारण घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये मानवीय दृष्टिकोण से भूगोल के अध्ययन की आवश्यकता है। प्रारंभिक कक्षाओं में इस दृष्टिकोण द्वारा विशेषरूप से विवेचन करने की आवश्यकता है। अतः उनमें विभिन्न देशों के निवासियों के भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान, यातायात के साधन तथा मानव-जीवन पर प्रभाव डालने वाले प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण पर अधिक जोर दिया जाता है। इस प्रकार दूसरे देशों के वातावरण की वस्तुओं से तुलना द्वारा बालकों को केवल अपने वातावरण से ही परिचित नहीं किया जाता, वरन् उन्हें दूसरे देशों के निवासियों के जीवन को ठीक प्रकार से समझने का अवसर प्राप्त होता है। बालकों में इससे रुचि और विचार-शक्ति का विकास होता है और साथ ही साथ बड़ी कक्षाओं के वास्तविक भूगोल तक उनकी पहुँच हो जाती है। प्राथमिक कक्षाओं का यह भौगोलिक ज्ञान उच्च कक्षाओं में पूर्व-योग्यता का काम देता है। अतः मनुष्य के निवास-स्थान के रूप में पृथ्वी के अध्ययन द्वारा भूगोल वातावरण से प्रभावित मनुष्य के जीवन और कार्यों का विवेचन करता है। अर्थात्:

भूगोल का अध्ययन मनुष्य और उसके वातावरण के रूप में किया जाता है। प्राकृति वातावरण मानव-जीवन पर मुख्य रूप से प्रभाव डालता रहता है। परन्तु साथ साथ सा जिक और आर्थिक वातावरण भी उसके जीवन और कार्यों पर प्रभाव डालते हैं। वह संस में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये इन प्रभावों को अपने अनुकूल बनाने में प्रयत्नशी रहता है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि जहाँ छोटी कक्षाओं में मानव दृष्टिको से भूगोल पढ़ाया जाना आवश्यक समझा जाय वहाँ उच्च कक्षाओं में विस्तार से मान भूगोल, प्रादेशिक भूगोल, प्राकृतिक भूगोल तथा आर्थिक भूगोल पढ़ाया जाना चाहिये।

वर्तमान काल में संसार में समाचार भेजने तथा यातायात के साधनों में इतन विकास हो गया है कि कोई भी देश एक दूसरे से पृथक नहीं रह सकता। विभिन्न देशों की मुद्रा-नीति, उत्पादन, बाजार-भाव और राजनीति का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता रहता है। अतः संसार के प्रत्येक व्यक्ति के लिये भूगोल का ज्ञान सफल जीवन-यापन के हे आवश्यक है। व्यापारी एवं उत्पादक को जब तक यह ज्ञात नहीं होगा कि कच्चा मा कहाँ से प्राप्त होता है, कौन-सी वस्तु किस स्थान पर उत्पन्न होती है और किस प्रकार कम से कम व्यय में ऐसे स्थानों में भेजी जा सकती है जहाँ उसकी माँग हो, तब तक वह व्यापार में उन्नति नहीं कर सकता। इसी कारण उत्पादक व्यापारी विभिन्न देशों के निवासियों की रुचि और आवश्यकता को ज्ञात कर उसके अनुसार वस्तुओं का उत्पादन और आयात-निर्या करते हैं।

कृषक को भी मौसमों आदि की पूर्व सूचनाओं, विभिन्न प्रकार की कृष्योपयोगी मिट्टी, कृषि को लाभ पहुँचाने वाले वनस्पति-तत्व एवं प्राणिवर्ग आदि भौगोलिक वातावरण का ज्ञान होना चाहिये। इस सम्बन्ध में प्रयोगशालाओं और वेधशालाओं के प्रयोगों और परीक्षणों का विस्तार कृषि-कार्य में किया जाना चाहिये। इस प्रकार उपलब्ध ज्ञान को कार्यान्वित करके किसान अपने भौगोलिक वातावरण को अनुकूल बना उ अधिकाधिक लाभ उठा सकता है। हमारे प्रदेश की शिक्षा-पुनर्व्यवस्था योजना में प्रशा ध्यापक इन बातों का प्रसार एवं विस्तार हमारे ग्रामीण समाज में करेंगे। इससे किसा अपनी उपज को बढ़ा कर अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकता है। वह रेडियो औ समाचारपत्रों से मौसमों के विषय में पूर्व सूचनाओं को ज्ञात कर फसल बोने, पानी देने ए काटने के समय को निर्धारित कर सकता है।

भारतीय किसान को अपनी उपज का उचित मूल्य बिक्री का साधन ठीक न होने के कारण भी नहीं मिलता। वह सस्ते दामों में स्थानीय बाजार में अपना माल बेचने के लि वाध्य रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि गांव के साहूकार, बीच के व्यापारी

दलाल अनुचित लाभ उठाते हैं। यदि किसान को यह ज्ञात हो कि उसके माल की खपत कहां हो सकती है और सहयोगी संस्थाओं द्वारा उसकी उपज ऐसे बाजारों में किस प्रकार भेजी जा सकती है तो वह अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त कर सकता है। उसे देश के ही नहीं वरन् विदेश की विभिन्न मंडियों और बाजारों के भाव ज्ञात रहेंगे तो उसे अपनी उपज का मूल्य-निर्धारण में सहायता मिलेगी। अतः इन सब बातों को ठीक ठीक समझने के लिये किसान के हित में भौगोलिक ज्ञान आवश्यक है।

गत महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि सैनिकों को भी भूगोल और नक्शे के अध्ययन की ट्रेनिंग देना आवश्यक है। अपने एवं सम्बन्धित अन्य देशों के भौगोलिक ज्ञान के बिना वह अपना कार्य सफलता पूर्वक सम्पादित नहीं कर सकता। नक्शे को देख कर विभिन्न स्थानों की स्थिति तथा मार्गों को समझना एवं दूसरों को समझाना सैनिक के लिये नितान्त आवश्यक हो गया है। इसी प्रकार मोटर ड्राइवर, नाविक और वायुयान चालक को जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये भूगोल का ज्ञान आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त किसी देश के प्रबन्ध एवं राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को देश की रक्षा एवं सुख-शांति के लिये भूगोल का ज्ञान आवश्यक है। उसे यह जानना चाहिए कि देश के विभिन्न भागों का जलवायु किस प्रकार का है, वहां निवासी किस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं और वहां किस प्रकार के कानून की आवश्यकता है जिस से जनता को कोई कष्ट न हो और देश वाह्य आक्रमणों और आन्तरिक अशांति से सुरक्षित रह सके।

तात्पर्य यह है कि भूगोल का ज्ञान केवल अध्यापकों के ही लिये नहीं, प्रत्युत् श्रमिक, कलाकार, समाचार पत्रों के पाठकों, पत्रकार और यात्रिओं आदि सबके लिये आवश्यक है। इसलिये स्कूल के पाठ्यक्रम में भूगोल एक महत्वपूर्ण विषय है और इसके शिक्षण की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

भूगोल की शिक्षा का उद्देश्य केवल भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि ही नहीं है, परन्तु इसके द्वारा छात्रों की निरीक्षण, स्मरण, विचार, तर्क और भावना शक्तियों का विकास होता है। भूगोल की शिक्षा में बहुत सी वास्तविक वस्तुओं का निरीक्षण करना पड़ता है। वस्तुओं के निरीक्षण से मन में अनेक विचार उत्पन्न होते हैं और मन में विभिन्न प्रकार के विचार-सम्बन्ध स्थापित होते हैं जो आगे चलकर स्मरण-शक्ति के विकास में सहायक होते हैं। जिन वस्तुओं और स्थानों को हम नहीं देख सकते उनका मौखिक वर्णन छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत कर उस वस्तु की कल्पना कराते हैं। जब किसी देश का वृतान्त पढ़ाते हैं तो

सबसे प्रथम उसकी स्थिति का ध्यान दिलाते हैं, इसके पश्चात् प्राकृतिक दशा, जलवायु, वनस्पति और उपज आदि निकलवाते हैं। इस प्रकार बालकों की तर्क और विश्लेषण शक्ति का विकास होता है ।

भूगोल की शिक्षा द्वारा बालकों में देश के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न कर उन्हें आदर्श नागरिक बनाने का प्रयत्न भी किया जाता है। परन्तु यह नागरिकता केवल अपने देश तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिये। इस महान् विश्व का नागरिक होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह भूगोल द्वारा अपने देश और संसार के अन्य देशों की समस्याओं पर निष्पक्ष होकर सहृदयता और विवेक के साथ एक विज्ञान के रूप में विचार करे और दो महायुद्धों से त्रस्त संसार को विनाश के गर्त में गिरने से बचाकर और उसमें विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार करते हुये सुख और शांति की स्थापना करे। व्यापक अर्थ में भूगोल की शिक्षा का यह चरम लक्ष्य है और बालकों में इस प्रकार की भावना के उदय से ही संसार का कल्याण हो सकता है।

१५ अगस्त, १९५४ को

शिक्षा मंत्री किशोरी रमण डिगरी कालेज में ध्वजारोहण के पश्चात् भाषण कर रहे हैं।

बलिया में श्री अली ज़हीर, कानून-मंत्री कृषि फ़ार्म का उद्घाटन करते हुए

शिक्षा संचालक, श्री भैरवनाथ झा, सामाजिक सेवा के अन्तर्गत केडेटों
के श्रमदान द्वारा निर्मित सड़क का निरीक्षण कर रहे हैं।

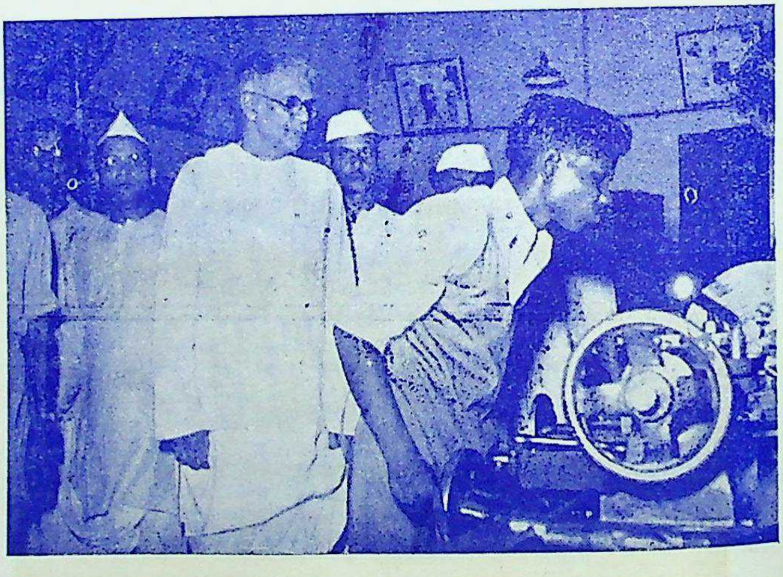

पिछड़े वर्गों का केन्द्रीय कमीशन हरिजन छात्रों के व्यावसायिक प्रशिक्षण
केन्द्र, बख्शी के तालाब, लखनऊ का निरीक्षण करता हुआ
श्री काका कलेकर मध्य में खड़े हैं।

परीक्षा का मनोविज्ञान

श्री रामकिशोर पाषाण

"परीक्षा" और "जाँच" ये दो शब्द विद्यार्थी-जगत् में बहुत प्रचलित हैं। इनमें भी परीक्षा शब्द अधिक प्रचलित है—और आज के विद्यार्थी अगर किसी चीज़ से डरते हैं, तो वह सिर्फ़ यही "परीक्षा" है। विद्यार्थी-जीवन का उद्देश्य ही आज परीक्षा पास करना हो गया है। इसी की ओर उनका सारा प्रयत्न रहता है। परीक्षा पास करने और उसमें अधिक से अधिक अंक प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी हरएक प्रकार के कार्य करने को तैयार रहते हैं। परीक्षा में सफलता-प्राप्ति के लिए देवी-देवताओं की पूजा करना, उनकी मनोतियाँ मनाना, परीक्षा में पूछे जानेवाले प्रश्नों के उत्तरों को कहीं छिपाकर रखना और परीक्षा के समय सहायता लेना, परीक्षा के समय अन्य प्रकार से नकल करना, पास होने के लिए शिक्षकों की खुशामद करना और संभव हुआ तो परीक्षक को किसी न किसी प्रकार प्रभावित कर के भी अंक प्राप्त करना या प्रश्न पत्र जानना आदि बातें साधारण बन गई हैं।

पूज्य विनोबा जी ने १५ अक्टूबर १९४७ को खादी विद्यालय, सेवाग्राम में अपने प्रवचन में कहा था—

"पुरानी तालीम पर इतने आक्षेप किये गये हैं कि मेरे लिए किसी ने कुछ बाकी नहीं छोड़ा है। लेकिन उसका बुरा से बुरा चित्र तो मेरे सामने उस समय का खड़ा होता है जब हमारी परीक्षाएँ ली जाती थीं। उस वक़्त हम पर देख रेख के लिए निरीक्षक रखे जाते थे, इसलिए कि विद्यार्थी चोरी से एक-दूसरे की नकल न करें। मुझे दुःख होता था कि अगर हमारे बारे में पहले से ही यह धारणा रखी गई है, कि हम चोरी कर सकते हैं, तो विद्यार्थी के नाते हम पहले ही फेल हो गये। फिर हमारी परीक्षा लेने का क्या बाकी रहा ?"*

बुनियादी शिक्षा में परीक्षा का कोई स्थान ही नहीं रखा गया है। हाँ, उसमें आत्म-समीक्षा का अपना महत्व है। उसमें जो दृष्टिकोण रखा गया है, वह बहुत सही और लाभकारी है। शिक्षक समय-समय पर विद्यार्थियों की योग्यता की जाँच करते हैं और विद्यार्थियों को भी मौका देते हैं कि वे स्वयं इस बात की जाँच करें कि उन्होंने कितनी प्रगति की है। इसके लिए सिर्फ़ लिखित परीक्षा ही काफ़ी नहीं होती। विद्यार्थियों के काम के लेखे और

---

* "नई तालीम" ५ नवम्बर १९४७ पृष्ठ २७३।

चार्ट रखे जाते हैं और स्वयं विद्यार्थियों से भी यह पूछा जाता है कि उनकी कमजोरी कहाँ है ताकि उस कमी को पूरी कर सकें।

आज शिक्षा जगत में जो परीक्षा की प्रणाली चालू है, शायद उसका भी मूल उद्देश्य योग्यता की जाँच ही रहा होगा। किंतु जिस ढंग से शिक्षा दी जाती है और जिस ढंग से आज परीक्षा ली जाती है तथा विद्यार्थी जिस ढंग से उसे ग्रहण करते हैं—वह बिल्कुल ग़लत है। इसके कारण आज सारी शिक्षा ही निरर्थक हो गई है—वह सिर्फ परीक्षा पास करने का साधन ही बन गई है।

प्रारम्भिक कक्षाओं में मुख्यतः गणित, भाषा और भूगोल ये तीन विषय पढ़ाये जाते हैं। कहीं-कहीं सामान्य ज्ञान और विज्ञान की बातें भी "पढ़ाई" जाती हैं। हरएक विषय के लिए प्रायः एक या दो पाठ्य पुस्तकें रहती हैं। कक्षा में इन्हीं पुस्तकों में से पढ़ाया जाता है और परीक्षा में भी प्रायः इन्हीं में से प्रश्न पूछे जाते हैं। विद्यार्थियों के मन में जब यह बात जम जाती है कि इन पुस्तकों को (परीक्षा पासकरने के लिए) पढ़ना पड़ता है, तो उनके मनमें इन पुस्तकों के लिए अरुचि-सी पैदा हो जाती है। पाठ्यक्रम की इन दो या तीन पुस्तकों के सिवाय और कोई पुस्तक पढ़ने योग्य है—यह बात विद्यार्थियों के अध्यापक और माता-पिता नहीं मानते और विद्यार्थी तो बाध्य होकर ही पाठ्यक्रम की पुस्तकें (बड़ी अनिच्छा से) पढ़ते हैं। और इसी अनिच्छा के कारण वह उन्हें याद भी नहीं रहतीं। वर्तमान स्कूलों के विद्यार्थियों में से मैं बहुत कम को वाचनालय या पुस्तकालय का उपयोग करते पाता हूँ। जिन थोड़े-से विद्यार्थियों को पुस्तकालय का शौक हो जाता है, उनका सामान्य ज्ञान भले ही बढ़ जाय, पाठ्यक्रम के विषयों में वे कच्चे ही रह जाते हैं। यह भावना ही बड़ी अरुचिकर है कि इन विषयों में, इन पुस्तकों में से साल के अंत में प्रश्न पूछे जाएँगे, जिनके उत्तर गलत होने पर हमारी साल भर की मेहनत व्यर्थ जायगी, हमारा एक वर्ष व्यर्थ जाएगा, माँ-बाप का धन खराब जायगा।

मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन का स्मरण है कि "इतिहास की कहानियाँ" और भाषा की पुस्तकों में अच्छी अच्छी कहानियाँ होते हुए भी उनमें मुझे कोई स्वाद नहीं आता था। पाठ्यक्रम की पुस्तकें कभी खोलकर पढ़ता भी नहीं था। इसके विरुद्ध पुराने पाठ्यक्रम की या बाहर की पुस्तकों को मैं बड़े चाव से पढ़ता था, क्योंकि वह तो सिर्फ "स्वांतः सुखाय" होती थीं। यह डर नहीं रहता था कि उन्हें याद करना है या उनमें से परीक्षा में प्रश्न पूछे जाएँगे। नतीजा यह होता था कि कक्षा में जो कुछ पढ़ाई हो जाय, बस वही मेरी पढ़ाई होती थी। अधिक से अधिक, शिक्षक द्वारा घर पर हल करने के लिए दिये गये प्रश्नों का उत्तर घर में लिखा करता था, जिसमें आवश्यक होने पर पुस्तकों की सहायता ले लिया करता था।

इन पाठ्य-पुस्तकों में से स्कूलों में कितनी पढ़ाई होती है, यह भी एक निराशा की बात है। मैट्रिक को छोड़ अन्य कक्षाओं में (विशेषतः गैर-सरकारी स्कूलों में) मैंने देखा है कि औसतन पाठ्य-पुस्तकों के २४ पाठों में से ९ या १० पाठ पढ़ाये जाते हैं। बाकी के पाठ क्यों नहीं पढ़ाये जाते, इसका उत्तर मैं नहीं दे सकूँगा। मैट्रिक की परीक्षा में अवश्य प्रयत्न किया जाता है कि पाठ्यक्रम में से यथा-संभव अधिक से अधिक चीज़ें पढ़ा दी जायँ। लेकिन उसमें और विश्व-विद्यालयों में भी परीक्षा में न आ सकनेवाली चीज़ें प्रायः छोड़ दी जाती हैं। शिक्षकों और अध्यापकों से यदि कोई विद्यार्थी ऐसा कोई प्रश्न पूछे तो वे कह सकते हैं कि यह परीक्षा में नहीं आयगा इसे छोड़ दो।

यह हाल है हमारी परीक्षा-प्रधान शिक्षा का। शिक्षा-शास्त्री सोचा करते हैं कि परीक्षा की बुराइयों को किस तरह दूर किया जाय। वैसे तो परीक्षा या जाँच को शिक्षा-जगत से हटा देना व्यावहारिक दृष्टि से शायद ठीक नहीं होगा क्योंकि सभी स्थितियों में यह जाँच लेना आवश्यक हो जाता है कि हमने विद्यार्थियों को जो पढ़ाया, जो शिक्षा दी, वे कहाँ तक आत्मसात कर पाये हैं या दूसरे शब्दों में, हम अपने कार्य में कहाँ तक सफल हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि जाँच या परीक्षा का ढंग ऐसा हो कि वह विद्यार्थी के लिए एक डरावनी चीज़ न बने, बल्कि उसे अपनी योग्यता अधिक से अधिक बढ़ाने के लिए प्रेरित करे। परीक्षा द्वारा यह जाँचा जाय कि वास्तव में विद्यार्थी के ज्ञान में, उसकी योग्यता में, कितनी प्रगति हुई है; परीक्षा सिर्फ़ इस बात की न हो कि विद्यार्थी रटी हुई चीज़ों को कहाँ तक उगल सकता है। जहाँ तक संभव हो, वार्षिक परीक्षा को अधिक महत्व न दिया जाय, बल्कि समय-समय पर (हर माह और हर तीन माह पर भी) विद्यार्थी की जाँच हो। जिन विषयों में उसको प्रगति कम मालूम पड़े, उनमें अधिक समय और सहायता देकर शीघ्र से शीघ्र उस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया जाय। ऐसी जाँच से विद्यार्थी को अपना लाभ स्पष्ट दिखाई देगा। वह उससे डरेगा नहीं वरन् अपनी कमजोरियों को स्वयं प्रकट करेगा।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि सिर्फ़ आत्म-विकास के लिए या कुछ भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से लोग राष्ट्रभाषा या हिन्दुस्तानी की परीक्षा देते हैं, वह कहाँ तक उचित है। विचार करने पर स्पष्ट होगा कि इसमें जो उद्देश्य है वह उससे बिल्कुल भिन्न है, जो स्कूलों में परीक्षा का होता है। इसमें कोई भय का स्थान नहीं रहता है। ये, या इस तरह की अन्य परीक्षाएँ, उस विषय का ज्ञान बढ़ाने और उसमें प्रगति की जाँच करने की दृष्टि से ली या दी जाती हैं। इन परीक्षाओं में भी यह विचार होना चाहिये कि विद्यार्थियों के वास्तविक ज्ञान की जाँच ली जाय, सिर्फ़ रटकर या चुने हुए प्रश्नोत्तरों को पढ़कर लोग इन्हें पास न करें।

आलोचना : समस्याएँ तथा सम्भावनाएँ

श्री अजितकुमार, एम० ए०

हिन्दी आलोचना के वर्त्तमान धरातल से विद्वानों को असंतोष रहा है और पिछले दिनों उसे लेकर कुछ महत्वपूर्ण विचार प्रगट किये गये हैं। एक तो शायद इसलिए कि हिन्दी आलोचना सृजनात्मक साहित्य का मार्ग प्रशस्त नहीं कर पाई, उलटे उसमें रुकावटें और बाधाएँ डालती रही हैं, दूसरे इसलिए भी कि हिन्दी आलोचना में अध्ययन, दायित्व एवं परम्परा के ज्ञान की अत्यधिक कमी है। इन आरोपों की तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि दुर्भाग्यवश इन आरोपों में सत्य का अंश बहुत अधिक है। दलबन्दी, पूर्वग्रह और अज्ञान पर आधारित हिन्दी आलोचना के खोटे सिक्के बाजार में चल रहे हैं और इसीलिए जो दो-चार खरे सिक्के दीखते हैं, उनके सम्बन्ध में दो प्रकार के मनोभाव उठते हैं। कहीं तो इस डर से कि 'ये भी खोटे न हों' उनका अनादर किया जाता है और कहीं उन्हें सच्चे सोने की भाँति, उनके वास्तविक मूल्य से कहीं अधिक आदर दे दिया जाता है। ये दोनों सम्भावनाएँ स्वाभाविक हैं और यही कारण है कि हिन्दी का सजग पाठक आज की आलोचना को शंका की दृष्टि से देखता है।

साहित्य के आलोचकों के बीच भेद-मतभेद प्रारम्भ से ही चले आये हैं। अक्सर ऐसा हुआ है कि एक विशिष्ट युग में साहित्य की प्रवृत्तियाँ एक सी रही हैं, किन्तु साहित्य को परखने की कसौटियाँ उसी युग में भी अलग-अलग रहीं। रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास में थोड़ी बहुत समानता भले ही रही हो, बहुत अधिक कभी नहीं थी।

जो भी हो, सामान्य रूप से कला को लेकर जो प्रारम्भिक सिद्धान्त पश्चिम में निरूपित किए गए, उनमें प्रमुख यह था कि कला का लक्ष्य 'कलात्मक अनुकृति' उपस्थित करना है। तदनन्तर कला का उद्देश्य 'आनन्द-प्रदान' बताया गया और इसके पश्चात माना गया कि कलाकार एक रहस्यपूर्ण शक्ति से संयोजित होकर सत्य का प्रदर्शन करता है। धीरे-धीरे 'शिक्षा प्रदान', 'अनुकरण' और 'प्रतिरूप' सबको अस्वीकृत कर कला का लक्ष्य 'प्रदर्शन' बताया गया और कला के प्रदर्शन में 'कल्पना शक्ति' के सम्यक् उपयोग को आवश्यक समझा गया।

इसी प्रकार भारतीय अलंकार शास्त्र में पश्चिम की पोएटिक्स, रेटारिक और ऐइस्थेटिक्स' की भांति स्वतन्त्र विवेचन हुआ। पश्चिम में यदि स्वभावोक्ति (कैरेक्टराइज़ेशन)

और वक्रोक्ति (एक्सप्रेशनिज़्म) की विस्तृत व्याख्या की गई तो भारतवर्ष में रसोक्ति की। इसके अन्तर्गत जिस सामाजिकता की कल्पना की गई थी उसके आधार पर 'औचित्य विचार' का विस्तार से निरूपण हुआ। रस अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को लेकर हमारे देश में आचार्यों के अलग-अलग संप्रदाय उठ खड़े हुए जिनके अन्तर्गत काव्यशास्त्र को अद्भुत विकास मिला।

अतीत काल की आलोचना का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'प्रत्येक युग के विचारकों ने अपने युग के अथवा अपने मनोनुकूल परिभाषाएँ बनाईं तो अवश्य, परन्तु साधारणतः सब में कुछ इनेगिने विचारों की पुनरावृत्ति ही मिलेगी। कभी तो आलोचक को कवि बनने का आग्रह मिला; कभी छिद्रान्वेषी प्रवृत्ति के निराकरण का आदेश हुआ; कभी संपूर्ण काव्य को परखने के उपरान्त ही आलोचना लिखने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया; कभी द्वेष और पक्षपातरहित होने का निर्देश हुआ; कभी सामंजस्य गुण को परखने में ही आलोचक की प्रतिभा प्रमाणित की गई; कभी आलोचनात्मक गुणों की सम्पूर्ण तालिका ही प्रस्तुत की गई; कभी सहानुभूति की आवश्यकता प्रकाशित की हुई; कभी तर्क और वितर्क को मान्यता मिली; कभी सौन्दर्यात्मकता को प्रश्रय मिला ; कभी देशकाल तथा युगजीवन से आलोचना का सम्बन्ध प्रमाणित किया गया; कभी गुणानुवाद की भर्त्सना की गई; कभी साहित्य की आत्मा को प्रकाशित करने में ही आलोचक की श्रेष्ठता समझी गई; कभी प्रेरणा के रहस्योद्घाटन का उत्तरदायित्व आलोचक पर रखा गया और कभी काव्यानुभूति को तीव्र करने का आदेश दिया गया। कभी आलोचक को निर्णय देने पर बाध्य किया गया और कभी उसे स्वच्छंद छोड़ दिया गया मूल रूप में प्रायः आलोचक को अपनी निर्णयात्मक तथा वैज्ञानिक विश्लेषणपटुता तथा सौंदर्यात्मक और क्रियात्मक शक्ति के प्रयोग का ही आदेश मिला।'*

पूर्वकाल की समीक्षा के उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् उन परिस्थितियों का आकलन आवश्यक जान पड़ता है जिनके प्रसंग में आधुनिक समीक्षा की समस्याएँ अधिकाधिक स्पष्ट होकर सम्मुख आईं और नई संभावनाएँ दिखीं।

बीसवीं शताब्दी जब प्रारम्भ हुई तो ऐसा लगता था जैसे अभी उन्नीसवीं शताब्दी चल रही है। लेकिन कुछ वर्ष बीते, प्रथम महायुद्ध हुआ, फिर द्वितीय महायुद्ध, बहुत सी दूसरी बातें भी हुईं और इन सब ने मिल कर अचानक संसार को थोड़ा और पुराना बना दिया। हरिऔध, गुप्त और यहाँ तक कि प्रसाद भी पुराने जान पड़ने लगे। छायावाद की रहस्यभावना पर से विश्वास उठ गया। व्यक्ति और समाज के संबन्ध जटिल हो गए। पूंजी, श्रम, मध्यवर्ग और व्यापक रूप से प्रत्येक घटना का प्रभाव अब साहित्य पर परिलक्षित होने लगा। समय-चक्र एकाएक गतिमय हो उठा।

*** खत्री : आलोचना-इतिहास तथा सिद्धान्त**

किन्तु ये सारे दृष्टिकोण और परिवर्तन एक व्यापक प्रकिया के परिचायक हैं महायुद्ध के पहले से कार्य कर रही थी और जो युद्ध के बाद भी चलती रही वह प्रकिया विज्ञान न थी। सच्चा विज्ञान तो हमें सदा से उतना ही आश्वस्त क आया है, जितना कविता ने किया है। 'दुर्भाग्य की बात यह नहीं थी कि हमने विज्ञान आविष्कार तथा विकास कर लिया; दुर्भाग्य यह था कि हम बुद्धि या कहें कि सु को विकसित नहीं कर पाए, कदाचित आविष्कृत भी नहीं।'*

'विज्ञान ने हमारे जीवन की गति दुगनी-चौगुनी कर दी। यह वैसा ही हुआ 'ग्रामोफ़ोन के रिकार्ड की रफ्तार बहुत तेज कर दो : वह चीखने लगेगा।'

परन्तु, यह केवल गति और वेग ही न था जिसने हमें हतप्रभ कर दिया। हम वस्तु वर्तमान की अनस्थिरता देखकर स्तब्ध रह गए थे। वर्तमान अनिश्चित और भूत-भवि का प्रत्येक संतुलन अव्यवस्थित, प्रत्येक सम्बन्ध नष्ट! बस, हमारे मन में यह भाव जड़ ज गया कि हम प्रतिक्षण अपनी परंपराएँ, अपने नैतिक तथा सामाजिक मूल्य, अपनी सा धरोहर-खोते जा रहे हैं। कभी-कभी हमें ऐसा भी लगा कि हमारे पैरों तले की धरती खि गई है। चेतना के ये परिवर्तन सर्वत्र हुए, किन्तु संवेदनाओं की भूमि होने के कारण क और साहित्य के क्षेत्रों में सबसे अधिक।

इन परिवर्त्तनों का रूप कुछ विचित्र था। प्राचीन काल के कलाकार युद्धों कुहासे और सांस्कृतिक पराभवों के अन्धकार को भेद कर भी आज शताब्दियों बाद त अपना प्रकाश विकीर्ण कर रहे हैं। लगता है कि उनके ग्रन्थ और वे अजर-अमर हैं। इसका एक कारण यह भी था कि वे सब द्रष्टा थे। न्याय, कल्याण और शौर्य जैसी व्याप मानवीय भावनाओं के द्रष्टा। यही दृष्टि महाभारत और रामायण की है, यही दान्ते और वर्जिल की भी।

ऐसे आदर्शों और विकासों की महान अभिव्यक्ति के कारण ही यह संभव हो स कि, चाहे वह भारतवर्ष हो, चीन या यूनान, हर जगह साहित्य और कला को बहुत पहले पूर्णता मिल गई थी। इसके बाद कला केवल विकसित हो सकी, अधिक महान न ब सकी। कला को उसके पश्चात् केवल विस्तार मिला, ऊँचाई नहीं।

उपर्युक्त समस्या को इस प्रसंग में रखकर जब सोचते हैं तो हिन्दी के पाठकों सम्मुख एक प्रश्न उठता है कि कौन सा कवि है जो युद्धों, राष्ट्रीय संकटों तथा युगान्तरों पश्चात् भी जीवित रहा है, रह सकेगा? तुलसीदास, सूरदास के बाद? क्या रीतिकाल कवि? नहीं, तो क्या आधुनिक कवि? यदि हां, तो वे कौन हैं?

---

* ल्यूकस : १९४२

तुलसीदास का नाम लेकर हम इधर-उधर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि चारो ओर वही धरती फैली हुई है जिसे सूर और तुलसी ने पहचाना था : पेड़, वनस्पतियां और भूखंड : वृन्दावन, यमुना और अयोध्या ! भारत भूमि उस काल से लेकर अब तक बहुत नहीं बदली है, और संगम की ओर जाने वाले धर्मार्थियों का समूह अब भी हर सुबह उमड़ता है । भक्ति वैसी ही है, श्रद्धा लगभग उतनी ही प्रबल । लेकिन फिर भी यह सब कितना बदला-बदला है । काल के प्रवाह में पड़कर भाव, विचार और उपादान अब पहले जैसे नहीं रहे । निरन्तर नया रूप लेते रहे हैं ।

हम जैसे-जैसे तुलसीदास के आगे बढ़ते हैं, ऐसा लगता है कि साहित्य तथा साहित्यकार की दुनिया छोटी होती जा रही है और बढ़ते हुए कदम अंधेरे तथा गर्त की ओर जा रहे हैं । कबीर, तुलसी, मीरा, केशव, मतिराम, सेनापति, बिहारी और उसके बाद आधुनिक काल तक साहित्य की ऊँचाई, महत्ता और व्यापकता आदि की सीमाएँ संकुचित होती गई हैं । इसके बाद फिर एक नया युग आता है । सीढ़ियों से उतर कर हम अँधेरी और दुर्गन्धपूर्ण कोठरी में पहुँच गए थे, अब दूसरी सीढ़ी से, प्रकाश, ज्ञान तथा चेतना के नए देश में पहुँचने के लिये ऊपर चढ़ते हैं । नई भाषा की सीढ़ी, नये विचारों के वातायन और नये साहित्यकारों के मन में करवटें लेती हुई आकांक्षायें—इस खोज में हमारे सहायक उपकरण हैं ।

इस नए युग में आकर हम अतीत से बिलकुल विच्छिन्न हो गए हैं । अन्य युगों में मनुष्य पीछे की ओर झुका है, बीते हुए कल से लगे रहने की आकांक्षा ही उसके मन में बलवती रही है, पर हमारे इस युग की विशेषता दूसरी ही है । नयी से नयी बात, रचना पुस्तक या विचार तो साल दो साल में संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाते हैं, किन्तु अतीत काल की संचित ज्ञानराशि, दर्शन, विज्ञान आदि कहीं भी नहीं फैल पाते—पुस्तकालयों और म्यूज़ियमों में बन्द पड़े रहते हैं ।

यहाँ पर, स्वाभाविक रूप से हमारे मन में एक प्रश्न उठता है कि क्या अतीत हमारे लिए कतई उपयोगी नहीं ? और यदि उपयोगी है तो किस रूप में ? तब, हममें से कुछ अपने आप को यह कहकर समझा लेते हैं कि अतीत तो हमसे असंपृक्त है, हमारे साथ जुड़ा है, हम उससे विलग ही कहाँ हैं ? साथ ही कुछ लोगों में यह आग्रह भी प्रबल होता है कि हम अतीत को नहीं छोड़ेंगे, उसी की आधारशिला पर नवनिर्माण करेंगे !

कुछ इसी प्रकार की विचारधारा से प्रभावित होकर उस शास्त्रीय परम्परावादी आलोचना शैली का सूत्रपात हुआ जिसने पश्चिम में टी० एस० इलियट के आलोचना सिद्धान्तों में एक विशेष रूप ग्रहण किया । परम्परावादी आलोचकों ने कलाकृतियों को 'एक संचित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौंदर्य बोध और परम्परागत काव्यशृंखला की विशिष्ट कड़ी' माना । हिन्दी में इस आलोचना पद्धति को शास्त्रीय साहित्यक समीक्षा

कहकर पुकारा गया। शुक्ल जी के उपरान्त इसी के अन्तर्गत एक दूसरी धारा भी प्रवर्तित हुई जिसे स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक धारा कहा गया। वर्तमान जीवन को दृष्टि में रखकर नैतिकता और पुराणपन्थी सिद्धान्तों तथा परम्परा के अन्वेषण का निरंतर आग्रह इन आलोचकों में मिलता है। 'परंपरा और व्यक्ति की प्रतिमा' शीर्षक लेख में इलियट ने 'परम्परावाद' की रक्षा करते हुए उन सभी आलोचकों पर भीषण प्रहार किए हैं जो कविता को वैयक्तिकता (Personality) की अभिव्यक्ति मानते हैं।

इसके विपरीत जिस आलोचना पद्धति का प्रचलन आधुनिक काल में हुआ उसे मार्क्सवादी आलोचना कहा जाता है। इसके अनुसार विचारधाराएँ दो प्रकार की होती हैं: एक तो प्रगतिशील और दूसरी प्रतिगामी। कला और साहित्य में, इन दोनों में से एक अवश्य अभिव्यक्त होती है। ह्रासोन्मुख समाज सम्बन्धों को स्वीकार करने वाली विचारधारा प्रतिगामी होती है और नवनिर्माण की ओर उन्मुख, क्रान्तिकारी जनसमाज का प्रतिनिधित्व करनेवाली विचारधारा प्रगतिशील। मार्क्सवादी आलोचक का मंतव्य है कि रूप प्रकारों और प्रयोगों की खोज में कलाकार की प्रतिभा कुंठित और अवरुद्ध न होनी चाहिए। जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से दूर होगा वह काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी होगा।

इन दोनों आलोचना पद्धतियों की स्थिति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि साथ-साथ ही एक अन्य शैली भी विकसित हुई जिसमें एक व्यक्ति की विशिष्ट रुचि-अरुचि, प्रतिक्रिया और अनुभूति आदि को प्रधानता दी गई। इसके अनुसार साहित्य की आलोचना की आधारशिला उसकी रचना-विधि, शिल्प, आकार और सौंदर्यबोध की क्षमता है और इस क्षमता की परीक्षा आलोचक अपने संस्कार, अपनी रसोपलब्धि और व्यक्तिगत रुचि द्वारा ही कर सकता है। अपने एक रूप में यह शैली व्यक्तिमुखी, भावात्मक अथवा प्रभावाभिव्यंजक कही जायगी और उस दूसरे रूप में इसे विश्लेषणात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक शैली कहा जाएगा जब साहित्य-सृष्टि का मूल आधार कलाकार की अव्यक्त एवं अन्तरंग चेतना बताई जाएगी।

उपयुक्त समीक्षा पद्धतियों का पुनः विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि इनके दृष्टिकोणों में गम्भीर भूलें और महत्वपूर्ण एकांगिता है।

शास्त्रीय शैली को अनुभूत और निरापद होने के कारण सबसे अधिक उपयोगी बताया जाता रहा है। इलियट ने यहाँ तक कहा है कि अच्छी कविता अधिक परंपरागत होती है, बुरी कविता उतनी नहीं। लेकिन 'परंपरा' उत्तराधिकार में तो मिलती नहीं, उसे प्राप्त करने के लिए 'अनथक परिश्रम और ऐतिहासिक बोध' की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु स्वयं इलियट या उनके अनुयायियों के पास कोई ऐसी निश्चित विधि नहीं है जिसके द्वारा काव्य के परंपरागत रूप को स्पष्ट किया जा सके, इसलिए उनकी कसौटी पर्याप्त वैज्ञानिक नहीं हो पाती। अन्ततः इलियट की 'व्यक्तिगत रुचि' ही उनका मानदंड बनती है।

यदि 'शेली' की कविता वे नहीं पसन्द करते तो उनके अनुसार 'शेली' की कविता हीनकोटि की है, परंपरारहित है ।

इस पद्धति के अन्य समर्थकों की ही भाँति सिद्धान्तों की अनथक खोज, वैयक्तिकता (पर्सनैल्टी) के निरन्तर निषेध और परंपरा के गहन अध्ययन द्वारा इलियट भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कोई भी कलात्मक निर्णय उस समय तक पूर्ण नहीं होता जब तक उसमें नैतिक मूल्यों का समावेश न रहे ।

यहाँ पर इलियट के दृष्टिकोण का प्रतिक्रियावादी स्वरूप स्पष्ट होता है। मार्क्सवादी आलोचना भी वैयक्तिकता और व्यक्तिवादिता का बहिष्कार करती है, किन्तु यह बहिष्कार एक अधिक व्यापक एवं संगठित सामाजिकता की उपलब्धि के लिए होता है और इस अभियान के सहायक तत्व हैं —भविष्य की सामाजिक व्यवस्था के विशिष्ट रूप का अनुमान, अतीत की जनवादी सांस्कृतिक परंपरा का अध्ययन और वर्तमान के प्रसंग में इतिहास का अनुशीलन एवं पुनर्मूल्यांकन। इसके विपरीत इलियट जैसे परंपरावादी आलोचक 'धर्म' की शरण लेते हैं और वर्तमान युग की विषमताओं से बचने के लिए 'चर्च' में त्राण पाते हैं। हिन्दी के आलोचक इतनी दूर नहीं जाते, फिर भी वे उन सांस्कृतिक परंपराओं की रखवाली करते रहे जो मूल्यहीन हो चुकी थीं। ये आलोचक जीवन, जगत और साहित्य के नये तत्वों को पहचानने में सफल न हो सके।

उपर्युक्त आलोचना पद्धति का अतिवादी स्वरूप यह है कि धर्म, विश्वास, श्रद्धा और नैतिकता को लेकर इलियट ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें से कई ऐसे हैं जिनसे हिटलर, मुसोलिनी और मोज़ले भी सहमत हो जायँगे। अतः इलियट स्थान-स्थान पर फ़ासिस्टवादी, प्रतिक्रियावादी और बुर्जुआ भावों के प्रतिनिधि जान पड़ते हैं।

जहाँ तक मार्क्सवादी आलोचना का संबन्ध है, समग्र रूप से उसकी वैज्ञानिकता में संदेह करना कठिन है, किन्तु हिन्दी में उसका भी रूप अकसर वैसा ही संकीर्ण, एकांगी और विकृत हो गया जैसा कि अन्य पद्धतियों का । रूस में प्लेखानावे और उनके सोम्बार्ट, मैक्स वेबर, मैनहेम आदि अनुयायियों ने मार्क्सवादी आलोचना को उलझा दिया था। हिन्दी में भी कई मार्क्सवादी आलोचक देश की सांस्कृतिक परंपरा और हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य आदि का ठीक-ठीक अध्ययन न कर सके। साहित्य के ह्रासोन्मुख तथा प्रतिक्रियावादी स्वरूप की व्याख्या भी उन्होंने पूर्वग्रहों से मुक्त रहकर न की। जिस प्रकार शास्त्रीय समीक्षक इतिहास की गतिशील शक्तियों और साहित्य की नवीन चेतनाओं को पहचानने में असफल सिद्ध हुए थे वैसे ही इन आलोचकों ने भी वैज्ञानिक अध्ययन का सहारा छोड़ दिया। वे कुत्सित समाजशास्त्र तथा निहित स्वार्थों के फेर में पड़ गए थे और इसीलिए एक बार उन्होंने यह नारा उठाया कि प्रत्येक कलाकार केवल अपने 'अहं' को, अपने जीवन को, अपने वर्ग और अपने समूहके जीवन को, अपनी सीमाओं और विकृतियों को

ही अभिव्यक्ति कर सकता है। इसलिए यह विधि वैज्ञानिक और तर्कसम्मत है कि कलाकार का अधिकाधिक संबन्ध उसके व्यक्तिगत परिवेष्टन के साथ जोड़ा जाए।

वास्तव में सच बात यह थी कि वाह्य संसार ही हमारे मतवाद को बल देता है, न कि अन्तर्मन। सच्ची वर्ग चेतना का विकास तभी संभव है जब समाज के प्रत्येक वर्ग के जीवन के नैतिक, राजनीतिक और मानसिक—विभिन्न पहलुओं का गहरा निरीक्षण किया जाए।

दूसरे दल में ऐसे समीक्षक हैं जो एक ओर तो रचना के सौंदर्य और उसकी कलात्मकता को समालोचना का प्राण मानते हैं और दूसरी ओर कलाकार के मनोविज्ञान का विश्लेषण करना चाहते हैं। इनकी आस्था सौंदर्य तथा आत्मा की अभिव्यक्ति में हैं और 'व्यक्ति की प्रतिक्रिया' इनके अनुसार आलोचना का सही दृष्टिकोण है। इस समीक्षा पद्धति की सीमाएँ स्पष्ट हैं, क्योंकि यहाँ आलोचना का आधार पूर्णतया व्यक्तिगत हो, जाता है उसका समाजीकरण नहीं हो पाता। एक ओर मार्क्सवाद यदि लेखक की आन्तरिक अनुभूतियों को स्वाभाविक रूप में प्रकट होने से रोकता है, उसके व्यक्तित्व की उन्मुक्त अभिव्यक्ति पर अंकुश रखता है तो दूसरी ओर यह दृष्टिकोण इन्हीं में कला की वास्तविक स्थिति मानता है और अन्ततः ऐसे-ऐसे कलारूपों को जन्म देता है जो न तो स्वस्थ है और न समाज के लिए उपयोगी ही। फलतः परिणाम यह होता है कि आलोचक कभी तो साधन अथवा माध्यम पर दृष्टिपात करता है, कभी साध्य अथवा विषय वस्तु पर, कभी केवल कलाकार पर तो कभी केवल अपने पर। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया अकेले रहकर श्रेष्ठ आलोचना में बाधा पहुँचाती है, अधूरी रहती है।

आलोचना की समस्याओं को उपयुक्त प्रसंग में रखकर देखने पर हम अनुभव करते हैं कि हिन्दी आलोचना विविध रूपों में प्रवाहित हो रही है; उसका वेग का श्लाघ्य है, किन्तु अक्सर वह उथली है और छिछली होने पर भी वह वेगवान है। अतः 'क्षुद्र नदी' की भांति प्रायः अमर्यादित हो जाती है। अब वह समय आ गया है कि समीक्षा क्षेत्र की उच्छृंखलता और दुर्व्यवस्था को दूर किया जाए। आलोचक अपने कर्तव्य को समझे, 'वह लेखक के अस्पष्ट अर्थ तथा गूढ़ार्थ दोनों को हृदयंगम करे, साहित्य को साहित्य समझे और कोरे वादों की उलझन में न पड़कर रचना की उपयुक्तता घोषित करे और यह प्रदर्शित करे कि लेखक ने कितनी सूझ, कितनी गहराई तथा कितनी व्यापकता से जीवन का प्रदर्शन किया है ····यह निश्चित है कि जब तक आलोचक में निर्णयात्मक क्षमता, मूल्य परखने की शक्ति, आंतरिक तथा वाह्य संबन्धों का व्यापक ज्ञान, सूझ, अनुभूति तथा जीवन-साहित्य में विभोर हो जाने की तत्परता न रहेगी, तब तक उसके सभी आलोचनात्मक प्रयत्न विफल रहेंगे।'*

---

* खत्री : आलोचना-इतिहास तथा सिद्धान्त

आज के आलोचक के सम्मुख एक समस्या यह भी है कि वह प्राचीन और नवीन दोनों को पूरी तौर पर किस तरह समझे। प्रायः उसकी अध्ययन विधि, उसके संस्कार, शिक्षा और पूर्वग्रह उसे एकांगी बना देते हैं और वह मताग्रही हो जाता है। नवीन की उपेक्षा और प्राचीन की अन्ध-भक्ति : यही आलोचकों का सामान्य दृष्टिकोण रहा है। अपनी पुरानी दृष्टि से वे नए युग की परिस्थितियों और तज्जन्य साहित्य को सहानुभूति देकर नहीं समझ सके हैं। इसलिए वे बहुत शीघ्र रूढ़ हो जाते हैं। दलगत राजनीति का अनुसरण और नवीनता मात्र का विरोध आधुनिक आलोचकों की विशेषताएँ हैं। ऐसे आलोचकों ने प्रायः शाश्वतवादिता, सार्वकालिकता, नैतिकता आदि की दुहाई दी है और इसीलिए प्रतिभाशाली लेखकों पर प्रायः ऐसे निर्णय दिये गये हैं, जो दस-पन्द्रह या बीस वर्षों बाद ही झूठे सिद्ध हुए हैं।

छायावाद का जब प्रारम्भ हुआ तो बड़े ज़ोर शोर से उसकी आलोचना की गई। उसे अनैतिक, परम्पराभ्रष्ट और असंस्कृत कहकर पुकारा गया किन्तु जिन आलोचकों ने ऐसी बातें कही थीं वे ही कालान्तर में छायावाद के पोषक बन बैठे और जिस समय छायावाद नई वस्तु और नए जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति में असमर्थ हो गया उस समय भी वे छायावाद का ही पक्ष ग्रहण करते रहे।

जब नई कविता का प्रचलन हिन्दी में हुआ तो अधिकांश लोगों ने ऐसा अनुभव किया जैसे एक मनोहर हृदयस्पर्शी संगीत अचानक किसी कटु-स्पर्श के कारण नष्ट हो गया। उस समय अधिकांश पाठक तथा कवि क्षुब्ध हुए, किन्तु हम अनुभव करते हैं कि वह क्षोभ आज तक उसी रूप में 'स्थिर' नहीं है।

छायावाद का सौंदर्य स्वप्न एक बार टूट गया तो आज तक दुबारा नहीं बन सका। इसका कारण यह भी था कि बहुत दिनों तक तो हम यही विश्वास करते रहे कि सौंदर्य की एक निश्चित स्थिति है जो अपने में पूर्ण है, उसे किसी की अपेक्षा नहीं। फिर एक दिन हमने जाना कि ऐसी कोई भी धारणा सच नहीं है। हमने जाना कि सौंदर्य तो सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इस सत्य के स्थिर हो जाने पर जब सौंदर्य के अन्वेषण का प्रश्न सम्मुख आया तो हमने पाया कि भले ही हम इस पर बहस करलें कि क्यों कोई वस्तु हमें आनन्द देती है किन्तु 'कौन' सी वस्तु आनन्द देती है? इसे जानने के लिए परीक्षण और निरीक्षण ही हमारी एकमात्र विधियाँ हैं। इस परीक्षण एवं निरीक्षण के दायित्व को जब-जब हमने पक्षपात अथवा दुर्भावना से संयुक्त रहकर निबाहा हम ग़लत निष्कर्षों पर पहुँचे और उनके प्रचार में सहायक बने।

इसी प्रकार, प्रारम्भ में हम कला के 'प्रभाव' मात्र को कला की उत्कृष्टता का प्रमाण मानते थे लेकिन धीरे-धीरे कला का सामाजिक स्वरूप स्पष्ट हुआ और हमने 'प्रभाव' के

अतिरिक्त कला के व्यापक 'परिणाम' को भी महत्व दिया। पहले हम यह मानते थे कि 'आनन्द की अनुभूति के मूल्यवान क्षणों' का नाम साहित्य है, किन्तु धीरे-धीरे हमने जाना कि इन 'मूल्यवान क्षणों' के पहले भी कुछ क्षण होते हैं और बाद में भी। वास्तविक महत्व इन बाद वाले क्षण का ही है। इन पर से आलोचक की दृष्टि न हटनी चाहिए।

अस्तु, आज जब हम आलोचना के समग्र क्षेत्र पर दृष्टि निक्षेप करते हैं और तत्संबंधी क्रिया का लेखा जोखा करने का यत्न करते हैं तो हम पाते हैं कि यह—साहित्य के परीक्षण-मूल्याँकन आदि से सम्बन्धित 'ग़लतफ़हमियों, अनाचारों, अर्द्ध सत्यों तथा लगभग पूर्ण त्रुटियों का लेखा-जोखा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आलोचना में पूर्णता या अंतिम निर्णय की उपलब्धि हो गई'—ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। इसमें भी सन्देह नहीं कि इन अर्द्ध सत्यों और पूर्ण त्रुटियों के परिहार के प्रयत्न भी होते रहने चाहिए। और ऐसी स्थिति में वही शाश्वत प्रश्न फिर सिर उठाता है कि कि आलोचना का आदर्श किसे बनाया जाय? आज का आलोचक अतीत की कमियों को पूरा करना चाहे, वर्त्तमान की समस्याओं को सुलझाना चाहे और जो संभावनाएँ आज के दिन सुदूर भविष्य की जान पड़ती है, उन्हें मूर्त रूप दे सके: इसको विधि क्या है?

नए समीक्षक के लिए ऐसे कुछ सूत्रों का निर्देश करते हुए जार्ज सेन्ट्सबरी ने अपने 'अँग्रेजी आलोचना के इतिहास' नामक ग्रन्थ के उपसंहार में लिखा है:—

"उसे अध्ययन करना चाहिए और यथा सम्भव सब कुछ पढ़ना चाहिए: यह प्रथम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण आदेश है। यदि वह साहित्य के एक युग को या एक युग के किसी भी वस्तुतः महत्वपूर्ण साहित्यकार को छोड़ देता है, तो इसका पूरा भय है कि अन्य युगों व साहित्यकारों के प्रति उसका दृष्टिकोण विकृत अथवा अपूर्ण रह जायगा। इसी प्रकार अन्य साहित्यों से पूर्णतः अपरिचित रहने पर भी उसकी स्थिति लगभग वैसी ही शोचनीय हो सकती है। दूसरे, उसे पुस्तकों, लेखकों तथा साहित्यों की निरंतर तुलना करते रहना चाहिए ताकि उसे उनकी परस्पर विभिन्नता ज्ञात हो सके। परन्तु इसके लिए तो कदापि नहीं कि 'एक' को इसीलिए नापसन्द करे कि वह 'दूसरा' नहीं है। तीसरे, बिना जाने हुए कि वह पुस्तक 'क्या है', आलोचक को यथासम्भव इस विचार को अपने में प्रश्रय न देना चाहिए कि उस पुस्तक को 'क्या होना चाहिए' था।"

सेंट्सबरी मानते हैं कि उपर्युक्त नियमों का पालन करना कठिन है और पूर्ण अनुसरण तो निश्चय ही असंभव है। फिर भी उन्हें विश्वास है कि यदि समीक्षा को गम्भीरता और सच्चाई के साथ लिया जाए तो यह कार्य किन्हीं अंशों में सम्पन्न हो सकता है, विशेष रूप से उन लोगों के द्वारा, जिनकी इस उद्यम में गति तथा रुचि है और वे इस रुचि को प्राचीन तथा नवीन साहित्य के अध्ययन द्वारा संस्कृत बनाते रहे हैं।

अस्तु, यदि आलोचना—संसार के समस्त श्रेष्ठ जाने-सोचे और लिखे गये को खोजने-जानने, पसन्द करने और कराने का उद्योग है और इस उद्योग की 'विकृति' हमें घृणित जान पड़ती है तो उसकी 'पूर्णता' अवश्य ही सुखदायी होनी चाहिए।

और इस प्रकार यह ठीक ही है कि सेंटसबरी समीक्षा की सबसे बड़ी व्यावहारिक संभावना इसमें मानते हैं कि वह अपनी अतीत की भूलों को ऐसा सुधार देगी कि साहित्य के आनन्द को जानने-पहचानने, अनुभव तथा उपलब्ध करने में कोई बाधा न पड़ेगी, उलटे सुविधा मिलेगी।

संस्कृत-शिक्षण में शुद्ध उच्चारण की महत्ता

श्री विजय नारायण चौबे, एम्० ए०, एम० एड०

संस्कृत शिक्षण में शुद्ध उच्चारण की क्या महत्ता है तथा उसे ठीक तौर से सीखने तथा सिखाने के क्या उपाय हैं ? प्रस्तुत लेख में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया गया है । हमारे पूर्वजों ने इस विषय की महत्ता पर [1]'शिक्षा' नामक वेदांग में विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला है । इस सम्बन्ध में संस्कृत-साहित्य में एक गाथा अत्यन्त प्रचलित है, जो आज भी प्रायः प्रत्येक संस्कृतज्ञों की जिह्वा पर प्रति-क्षण नाचा करती है । वह इस प्रकार है :—

[2]यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत, सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥

यह पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्यपूर्ण उपदेश है । उच्चारण शुद्धि की प्रबल प्रेरणा देने वाला इससे अधिक महत्व का सम्भवतः कोई दूसरा उदाहरण हो । इसमें उपहास है, अज्ञानता है, ग्लानि है और इन सब से बचने के लिए एक सच्चा उपदेश है । पिता पुत्र से प्रेम पूर्वक कहता है, पुत्र ! तुम अधिक समय से तर्क-शास्त्र का अध्ययन कर रहे हो, फिर भी तुम व्याकरण अवश्य पढ़ो । व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होने पर तुम अक्षरों तथा पदों का शुद्ध उच्चारण करने लगोगे, जिससे पंडित समाज में तुम्हारा अनादर नहीं होगा और तुम उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाओगे । तुम्हारे यश और कीर्ति के क्षेत्र का विस्तार होगा और सभी स्थानों पर तुम्हारा सम्मान होगा ।

वेदों के पढ़ने में शुद्ध उच्चारण की इतनी अधिक महत्ता थी कि गुरु शिष्य को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे और इसे सिखाने के लिए अधिक से अधिक

---

[1] १—वेदांग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष । ('शिक्षा' वेद की नाक है)

[2] २—पिता पुत्र से कहता है कि ऐ पुत्र ! यद्यपि तुमने बहुत कुछ पढ़ लिया है, फिर भी व्याकरण अवश्य पढ़ लो । यदि तुम्हें व्याकरण का ज्ञान हो जायगा, तो तुम "स्वजन" (आत्मीयजन) के स्थान पर "श्वजन" (कुत्ते लोग) ; "सकल" (सम्पूर्ण) के स्थान पर "शकल" (खण्ड) और "सकृत" (एक बार) के स्थान पर "शकृत्" (विष्ठा) उच्चारण न करोगे । (यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अशुद्ध उच्चारण करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है) ।

[1]समय देने का यत्न करते थे। अक्षरों अथवा पदों के उच्चारण में तनिक भी असावधानी करने से वाञ्छित अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ हो जाता था जिससे महती क्षति हो जाया करती थी। पाणिनीय शिक्षा से उद्धृत निम्नलिखित श्लोक द्वारा यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

मन्त्रों और वाक्यों में उदात्त, अनुदात्त स्वरित आदि स्वरों तथा अक्षरों के उच्चारण में दोष आ जाने के कारण अभीष्ट अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार अशुद्ध उच्चारित मन्त्र अथवा वाक्य, वज्र की तरह घातक होकर, स्वयं यजमान को ही नष्ट कर देता है। जैसे "इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व" इत्यादि में "शत्रु" शब्द के "त्रु" को उदात्त स्वर की तरह उच्चारण करने के स्थान पर "इन्द्र" शब्द के "इकार" को उदात्त कर देने पर अभिलषित अर्थ के स्थान पर दूसरा ही अर्थ हो गया और [2]यजमान की हानि हुई।

---

[1] अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद्वृत्तिं विलम्बिताम्॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

[2] कहानी इस प्रकार है—"त्वष्टा" नाम का एक जगत् प्रसिद्ध असुर था। उसके पुत्र का नाम विश्वरूप था। उसने अपनी घोर तपस्या से इन्द्र के आसन को भी विचलित कर दिया था। इन्द्र इससे घबड़ा उठे और उसे मरवा डालना चाहा। त्वष्टा इसे जान अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। पर इन्द्र का प्रयत्न सफल हुआ और विश्वरूप का अन्त हो गया। पुत्र शोक से विह्वल हो उसके पिता ने आभिचारिक यज्ञ करना आरम्भ किया। इस यज्ञ में 'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' (इन्द्र को मारने वाले वृत्रासुर की वृद्धि हो) मन्त्र का उच्चारण कर ऋत्विजों ने यज्ञ में आहुति छोड़ना आरम्भ किया। "इन्द्रशत्रु" पद के समास भेद के अनुसार दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो षष्ठी—तत्पुरुष के अनुसार "इन्द्र का शत्रु" और दूसरा बहुव्रीहि समास के अनुसार "इन्द्र ही हो शत्रु जिसका"। पहली दशा में इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व" उच्चारण होता है और दूसरे में "इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व"। ऋत्विजों को प्रथमावस्था के ही अनुसार मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने दूसरे ही अर्थ को ध्यान में रख कर मन्त्र का उच्चारण किया था। अतः इसी अर्थकी बार बार-आवृत्ति हुई। परिणाम यह हुआ कि उस यज्ञ के अन्त में वृत्रासुर नाम कबड़ा ही प्रबल असुर उत्पन्न तो हुआ और उसने इन्द्र के छक्के भी छुड़ा दिए, किन्तु वह इन्द्र को न मार सका, अपितु इन्द्र ने ही अन्त में उसे मार डाला।

'हर्ष चरित' के प्रथम उच्छ्वास में भी इसी प्रकार का उदाहरण मिलता है। 'सरस्वती' देवी को मृत्युलोक में इस लिए आना पड़ा कि उन्होंने दुर्वासा ऋषि का, जिन्होंने मन्त्रों का उच्चारण उचित ढग से नहों किया था, उपहास किया था। महर्षि दुर्वासा क्रुद्ध हो गए और उन्होंने सरस्वती को शाप दिया कि तुम अब से मृत्यु लोक में निवास करो।

भाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं कि "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च काम धुग् भवति" अर्थात् अच्छी प्रकार से जाना हुआ और अच्छी प्रकार से प्रयोग किया गया एक शब्द भी स्वर्ग और मृत्युलोक में इच्छाओं की पूर्ति करने वाला होता है। महर्षि पाणिनि ने भी इसकी सत्यता पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि अच्छी तरह शुद्धता के साथ वर्णों के उच्चारण करने से इस लोक में तो सम्मान प्राप्त होता ही है, [1]ब्रह्मलोकमें भी प्रतिष्ठा होती है। सद्गुरु से भली भाँति पढ़ा हुआ अच्छी तरह अभ्यास किया हुआ, परम्परा प्राप्त परिशुद्ध पाठों के निश्चय पूर्वक सुन्दर शुद्ध स्वरों से समुचित मधुर ध्वनि से पढ़े गए वेद और वेदांग शोभित होते हैं। अतः वेदों को यथाविधि परम्परा से शुद्ध सद्गुरु से पढ़कर उदात्तानुदात्तादि स्वरों के साथ मधुर और समयोचित लय से पढ़ना चाहिए। इस लिए छात्र को उसकी बाल्यावस्था में ही सर्व-प्रथम शुद्ध शब्दोच्चारण की शिक्षा दी जानी चाहिए। इससे वाचन शिक्षा का कार्य सुलभ हो जाता है। इसका तात्पर्य यही नहों है कि केवल संयुक्ताक्षर शब्दों अथवा ह्रस्व या दीर्घ के शुद्ध उच्चारण अभ्यास करा देने से ही शिक्षक के कर्त्तव्य की पूर्ति हो जाती है। वाचन शिक्षा का क्षेत्र इससे कहीं अधिक विस्तृत है। प्रत्येक लेखक जो कुछ लिखता है, वह किसी विशेष उद्देश्य से किसी विशेष भाव तथा प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए लिखता है। यदि पाठक पाठन-कला में निपुण न हुआ तो अर्थ का अनर्थ कर देगा और वह ओजस्विनी भाषा में लिखे हुए लेख को भी नीरस एवं भाव शून्य कर देगा। अतः रस तथा भाव की अभिव्यक्ति के लिए तथा लेखक के अभिप्राय को उचित रूप में अभिव्यक्त करने के लिए वाचन की शिक्षा अधिक महत्व रखती है।

वाचन एक कला है। 'कला' शब्द का अर्थ है आनन्द और प्रकाश लाना। (कम = आनन्द तथा प्रकाश ; ला = लाता) अतः कला आनन्द का स्रोत है। जिस प्रकार चित्रकार चित्रदर्शकों को आनन्द देने के लिए, सत्यता के प्रकाशन के लिए और

---

[1] —पाणिनीय शिक्षाः—

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाऽव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥
सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नायं सुव्यवस्थितम्।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ॥

अपनी बनाई हुई वस्तुओं में आकर्षण उत्पन्न करने के लिए अपनी तूलिका पर पूर्ण नियंत्रण रखता है, उसी प्रकार वाचक (पाठक) को भी वाक्कला का प्रदर्शन करने के लिए अपनी वाणी पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए। पाणिनीय शिक्षा में महर्षि पाणिनि ने ठीक ही कहा है—

*व्याघ्री यथाऽऽहरेत् पुत्रान्, दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतन भेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥

अर्थात् जिस प्रकार व्याघ्री अपने बच्चों को मुख से गिरने तथा दाँत चुभने के भय से, शंकित दाढ़ों से पकड़ कर ले चलती है किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देती है उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करते समय यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि वर्णों का शुद्ध उच्चारण हो। उनका उच्चारण स्थान प्रयत्नादि के अनुसार ठीक-ठीक हो किसी प्रकार की कर्ण कटुता न उत्पन्न हो। तात्पर्य यह है कि पढ़ने में न तो अक्षरों का चबा चबा कर ही कहा जाय और न तो इसी प्रकार उच्चारण किया जाय कि वे मुख से गिरे हुए प्रतीत हों और एक दूसरे से पृथक-पृथक जान पड़े।

शिक्षा प्रकरण में इस सम्बन्ध में और भी बहुत से महत्वपूर्ण उपदेश तथा निर्देश दिए गये हैं, जिनका जानना प्रत्येक शिक्षक के लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा विशारद महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है।

मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
स नाथस्यैकदशस्य न वर्णाः संकरं गताः ॥
यथा सुमत्तो नागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत्।
एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ॥

अर्थात् वर्णों का उच्चारण मधुर तथा स्पष्ट हो। स्पष्ट होने पर भी दूसरे वर्णों से प्रभावित न हो। सभी वर्णों का इस प्रकार उच्चारण किया जाना चाहिए कि वे एक दूसरे से मिले हुए न प्रतीत हों। जिस प्रकार मतवाला हाथी एक पैर रखने के पश्चात् दूसरा पैर सावधानी से रखता है, उसी प्रकार एक एक पद को स्पष्ट बोलना चाहिए।

कलाकार अपनी कला का सुन्दरतम् प्रदर्शन तभी कर सकता है जब कि उसकी कृति में दोष लेश मात्र भी न हो। कला को अन्तिम पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए; जिसमें सजीवता, आकर्षण, तथा रमणीयता हो, तत्संबंधी दोषों का जानना भी नितान्त आवश्यक है। गुण दोष परिज्ञान में निष्णात कलाकार ही अपनी कृति को सुन्दर आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बना सकता है। वाचनकला में भी कुछ दोष हैं जिनका पाणिनि, याज्ञवल्क्यादि

---

* याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी इसी प्रकार का पाठ है।

महर्षियों ने अपने रचित ग्रन्थों में सुन्दर विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में इस क्र से सम्बन्धित [1]चौदह दोषों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं :—

वर्णों का उच्चारण करते समय (१)शंकित होना,(२) डरा हुआ होना,(३) बीच बीच में वर्णों को पकड़ते हुए बोलना, ४ स्पष्ट न बोलना, (५) नाक से बोलना; (६) कौवे की तरह कर्ण-कटु स्वर में बोलना; (७) मूर्द्धा से बोलना, (८) स्थानादि का विचार न करते हुए बोलना, (९) स्वर रहित बोलना, (१०) नीरस ढंग से शब्दों का उच्चारण करना, (११) मिला-मिला कर स्पष्ट न बोलना, (१२) विषम स्वर में पाठ करना, (१३) व्याकुल, तथा (१४) तालुहीन की तरह बोलना। ये पाठ के १४ दोष हैं।

[2] पाणिनीय शिक्षा में भी इस पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार अक्षरों को मन ही मन न गुनगुनावे। उनका उच्चारण जीभ दबाकर न करे। जल्दी जल्दी न बोले और न पढ़े। वर्णों को फेंकता हुआ सा न बोले। विलम्ब करके न बोले। गाने की तरह गाता हुआ न पढ़े। तुतलाकर एवं मुख के भीतर ही बुदबुदाता हुआ न बोले, वर्णों को पीड़ा न पहुँचावे। अक्षरों व पदों को बीच में न खा जाय। किन्तु पूरा पूरा शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण करे। दीन की तरह न बोले और नाक से भी न बोले। इन दोषों से युक्त पाठ करने वालों की गणना नीच श्रेणी के पाठ करने वाले लोगों में होती है। गा गा कर पढ़ने वाला, अधिक शीघ्रता से पढ़नेवाला, पढ़ते समय सिर को हिलाने वाला, पुस्तक के अनुसार बिना सोचे समझे पढ़नेवाला और जिसका कण्ठ साफ न हो—इस प्रकार के छः [3]अधम पाठ करने वाले हैं।

१—याज्ञवल्क्य शिक्षा—

शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काक स्वरं मूर्द्धिनृगतं तथा स्थान विवर्जितम्॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालुहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश॥

२—पाणिनीय-शिक्षा—

उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितम् ग्रस्त पदाक्षरं च वदेन्नदीनं न तु सानुनास्यम्॥

३. याज्ञवल्क्य शिक्षा—

गीती शीघ्री शिरः कम्पी यथालिखित पाठकाः।
अनर्थज्ञोऽल्प कण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥

इसके साथ ही साथ इन ग्रन्थों में इस बात पर प्रकाश भी डाला गया है कि किस प्रकार के लोग सुन्दर पाठ कर सकते हैं और किन लोगों का पाठ दोष पूर्ण होगा । प्रसन्न मन होकर (प्रसन्न मानसो भूत्वा); कछुए की भाँति अंगों को समेट कर (कूर्मोङ्गानीव-संहृत्य) ; चेष्टाओं पर नियन्त्रण रखकर, दृढ़ संकल्प, स्वस्थ, शान्तचित्त तथा निडर होकर शब्दों का उच्चारण करना चाहिए । जिसकी प्रकृति कल्याणकारी है, दाँत और ओठ सुन्दर हैं, जो उच्चारण करने में प्रगल्भ हैं, विनीत हैं, वह वर्णों का उचित उच्चारण कर सकता है। किन्तु जिसकी आकृति भयंकर है, ओठ लम्बे हैं, नाक से बोलता है, स्वर गद्गद है, जीभ बँधी हुई है, वह वर्णों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता है ।

इन ग्रन्थों में कण्ठ में मधुरता लाने के लिए और उचित ढंगों से शब्दों का उच्चारण करने के लिए विद्यार्थियों के लिए विशेष विधान का वर्णन किया गया है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रातःकाल उठकर आम्र, पलाश, बेल, लटजीरा, शिरीष, खैर, कदम्ब, करवीर तथा करंजक आदि की दातून करनी चाहिए । ऐसा करने से मधुरता की वृद्धि होती है । लवण-युक्त त्रिफला का सेवन करना चाहिए । इसके सेवन से पाचन-शक्ति बढ़ती है । स्वर तथा वर्णोच्चारण में मधुरता आती है । मधुरता, अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण, पदों का उचित विभाजन सुन्दर और शुद्ध स्वर के साथ पढ़ना, धैर्य और लय-ये पाठकों के छः[२] गुण हैं।

इस प्रकार पाठ तथा पाठक के गुण तथा दोष के सम्यक् ज्ञान का सारांश यह है कि हमारे मुख से निकले हुए स्वर शुद्ध हों और व्यञ्जन स्पष्ट हों। संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि अक्षरों की ध्वनियाँ निश्चित हैं। उनके उचारण स्थान भी निश्चित हैं। अतः उचारण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती है। इतनी विशेषता होने पर भी अनेक भाषाओं के संसर्ग से इसमें दोष आ सकते हैं। अतः इनसे सदैव सतर्क रहना चाहिए। अनुस्वरों के उचारण में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। म्, ङ्, न्, ञ् का उचारण एक-सा नहीं है। प्रायः इनके उचारण में भूल हो जाती है। अतः इनके उचारण में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। 'संवृत' (सम्वृत), संगर (सङ्गर), संतान (सन्तान)

---

[१] पाणिनीय शिक्षा—

प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभना।
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति॥
न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः।
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान्वक्तुमर्हति॥

[२] माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लय समत्वं च षडेते पाठकाः गुणाः॥

तथा जम (सञ्जम) आदि उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार, स, श, ष, व, ब आदि के उच्चारण में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए।

वर्णों के शुद्ध उच्चारण करने का सर्वोत्तम उपाय अभ्यास ही है। अभ्यास से सभी बातें साध्य होती हैं। [1]याज्ञवल्क्यजी ने भी इसका समर्थन किया है। अभ्यास से जबड़ों में लोच उत्पन्न होती है। जीभ और ओठ शीघ्रता से हिलने लगते हैं और इस तरह बोलने में आलस्य सम्बन्धी सभी दोष दूर हो जाते हैं। नव शब्दों का उच्चारण करने के लिए प्रत्येक अक्षर को रोक रोक कर, धीरे धीरे उच्चारण करना चाहिए। इससे आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न होती है और विद्यार्थी शुद्ध उच्चारण करने में पूर्णतया समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को बहुश्रुत होना चाहिए। बहुश्रुत मनुष्य व्यवहार पटु होता है। इसके लिए भौगोलिक तथा ऐतिहासिक यात्राओं की व्यवस्था अत्यन्त लाभ-प्रद सिद्ध होगी।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि किस वर्ण का किस प्रकार उच्चारण करना चाहिए तथा संस्कृत शिक्षण में उच्चारण की कितनी महत्ता है। अध्यापक कक्षा में अध्यापन के समय इनका किस प्रकार प्रयोग करें, यह स्वाभाविक प्रश्न है। इस सम्बन्ध में सर्व-प्रथम उसे क्लिष्ट शब्दों को एक एक करके श्यामपट पर लिख कर अनुगमन प्रणाली (Inductive Method) के आधार पर शब्दोच्चारण की शिक्षा देनी चाहिए। तत्पश्चात् अध्यापक को उसका एक या दो बार शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। सभी छात्र इसका अनुकरण करें और एक साथ मिलकर अध्यापक द्वारा उच्चारित शब्द का उच्चारण करें। इससे अयोग्य विद्यार्थियों को प्रोत्साहन मिलता है और फिर वे स्वतन्त्र रूप से उन शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने में नहीं हिचकते हैं। तदन्तर योग्य विद्यार्थी को उस शब्द का उच्चारण करना चाहिए। इससे शेष विद्यार्थियों को उन शब्दों के सुनने का अधिक अवसर मिलता है और अन्त में अयोग्य से अयोग्य विद्यार्थी भी क्लिष्ट से क्लिष्ट शब्दों का उच्चारण करने में समर्थ हो जाते हैं।

प्रायः देखा गया है कि कुछ अप्रशिक्षित अध्यापक एक शब्द के केवल एक अक्षर का ही उच्चारण ठीक कराने में लग जाते हैं। यह पद्धति मनोवैज्ञानिक पद्धतियों के सर्वथा

---

[1]—जलमभ्यासयोगेन शिलायाः कुरुतेक्षयम् ।
कर्काणांमृदुत्तस्तस्य किमभ्यासान्नसाध्यते ॥
[करत करत अभ्यास ते, जड़मति होत सुजान ।]
[रसरी आवत जात ते, सिल पर पड़त निशान ॥]

प्रतिकूल है। 'शब्द' वर्णों का समूह है। अतः उच्चारण शुद्ध कराते समय सम्पूर्ण शब्द को लेना चाहिए, एक अक्षर नहीं। उपर्युक्त विधि के अनुसार प्रत्येक क्लिष्ट शब्द का उच्चारण कराना चाहिए। यदि पद सन्धि-युक्त हो तो सन्धि विग्रह कर लेना चाहिए और तब उनके उच्चारण का अभ्यास कराना चाहिए। शब्दों के भली भाँति उच्चारण का ज्ञान हो जाने पर पाठ सरस और प्रिय होता है। अध्यापक को शुद्ध उच्चारण सिखाने के लिए "विलम्बित वृत्ति" को अपनाना चाहिए। उसे किसी प्रकार की शीघ्रता नहीं करना चाहिए।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के दृष्टिकोण का विश्लेषण

श्री राम शंकर भट्टाचार्य

(उत्तरार्द्ध *)

न्याय अंश का ग्रहण

(च) पतञ्जलि का यह महान् गुण है कि कहीं भी वे न्याय अंश के ग्रहण के लिए पश्चात् पद नहीं हुए। प्रतिवादी को लक्ष्य कर उन्होंने कहा है कि यदि मेरी युक्ति से तुम्हारी समझ में नहीं आता है तो मैं क्या कर सकता हूँ। यह भी उन्होंने कहा है कि पदार्थों में यह जो विचित्रता दीख पड़ती है, उसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ इत्यादि। जो लोक से प्रमाणित है, उसको यथावत् लेना ही वैयाकरण का साधु कार्य है, क्योंकि जो लोक समर्थित है, वही न्याय है ऐसा व्याकरण मानता है।

भाष्य में कितने ही ऐसे न्याय उदाहरण हैं; जो पाणिनीय अनुशासन के सर्वथा अनुसारी नहीं हैं। जैसा दीक्षित ने दिखाया है "यकार पर रेफस्य न द्वित्वनिषेधः। अराय्यते इति भाष्योदाहरणात् (– सि० कौ, भाग ३ पृ० ४६६ लाहौर संस्क०) इसी प्रकार भाष्य में 'अन्यान्य शब्द का प्रयोग है (२।३।२८) जो अपाणिनीय है। पतञ्जलि का कथन है कि 'शब्द प्रमाणका वयम्, यच् शब्द आह तदस्माकं प्रभाणम्' अतः न्याय्य शब्द के ग्रहण के लिये उपायों का यथेच्छ व्यवहार पतञ्जलि ने किया है।

इस दृष्टि का चरम उत्कर्ष वर्णोपदेश सम्बन्धी भाष्य में दीख पड़ता है। एक 'ह' वर्ण प्रत्याहार सूत्रों में दो बार पढ़ा है, पर ऐसा करना दोषावह है, क्योंकि एक वर्ण को एक बार पढ़ना ही पर्याप्त है। इस प्रश्न के उत्तर में पतञ्जलि ने कहा है कि विशेष प्रयोजन के लिये दो बार 'ह' को पढ़ा गया है; केवल इतना ही नहीं, यदि प्रयोजन हो, तो इससे भी अधिक बार पढ़ा जा सकता है (यदि च किंचित् अन्यत्रापि उपदेशे प्रयोजनमस्ति, तत्रापि उपदेशः कर्तव्यः—आ० २) पतञ्जलि का यह वाक्य प्रमाणित करता है कि न्यायसंगत अर्थ के ग्रहण के लिये पतञ्जलि लाघव—गौरव का विचार भी नहीं करते थे, क्योंकि न्याय्य अर्थ ही सबसे अभीष्ट है।

न्यायप्रवणता पतञ्जलि में इतनी अधिक थी कि जहाँ कहीं उनको सन्देह हुआ, वहाँ उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उस सन्देह को भी व्यक्त किया है, जैसा उन्होंने कहा है—'तदेतत् अत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तते आचार्याणां–विभाषा अनुवर्तते नवेति' (आ० २)। वस्तुतः यह सरलता पतञ्जलि सदृश महान् आचार्य में ही सम्भव है।

---

* लेख का पूर्वार्द्ध 'शिक्षा' के गत जुलाई अंक में प्रकाशित हो चुका है—सं०

इस प्रकार की एक सरलता का सुन्दर उदाहरण '८।३।७२ सूत्र भाष्य में है। जब पूछा गया कि इस विषय में तत्त्व क्या है, तो महाप्राज्ञ पतञ्जलि उत्तर देते हैं कि 'देवाज्ञातुमर्हन्ति', अर्थात् विद्वान् ही इसके रहस्य को जान सकते हैं।

न्याय्य अंश के ग्रहण के लिये पतञ्जलि किसी भी उपाय को छोड़ते नहीं हैं—बार बार देखा जाता है। जब सूत्र की व्याख्या से कोई शब्द असिद्ध रह जाता है, तो पतञ्जलि का प्रसिद्ध उत्तर है 'कर्तव्योऽत्रयत्नः'। अर्थात् यत्न-उपाय विशेष का अवलम्बन कर लक्ष्य की सिद्धि करनी चाहिए।

न्याय्य अंश के ग्रहण-प्रसंग में हम उन सब स्थलों को ले सकते हैं, जिसमें भाष्यकार ने पाणिनीय अनुशासन का लंघन किया है—ऐसा प्रतीत होता है। उनसे व्यवहृत 'अन्याय' (२।३।२८), उद्‌गातार '(२।१।१), सज्जन्त (३।१।२६) वर्षण (३।३।५६) आदि शब्द इस प्रकार के हैं, ऐसा व्याख्याकारों ने कहा है। किंतु उनके कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जो अन्य से अननुशिष्ट है यथा यौवन वाची 'वधुट चिरराट' शब्द, जटा पर्यायवाची अकारान्त जट शब्द (उद्योत २।१।१) मृतभार्यावाची वराठ शब्द (३।३।२०) इत्यादि।

इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि अनेक स्थलों पर भाष्य के उदाहरणों के बल पर सूत्र का स्फोरण, सूत्र प्रवृत्ति नियमन आदि किये गये हैं। 'सर्वपश्चात्' प्रयोग से यह निर्णय करना कि पाणिनि का अव्ययनिषेध सार्वभौम नहीं है, या 'अरार्यते' इस भाष्योदाहरण से यह निरूपण करना कि यकार परक रेफ का द्वित्वनिषेध नहीं होता—ये सब उक्त सिद्धान्त के ज्ञापक हैं। इस विषय का सविशेष विचार मैंने 'Significance of the Examples of Patanjali' शीर्षक निबन्ध में किया है, जो वहां द्रष्टव्य है।

न्याय प्रयोग में कुशलता

पतञ्जलि का न्याय प्रयोग एकदर्शनीय पदार्थ है। जबकिसी परिभाषा में कुछ दोष और कुछ गुण दोनो होते हैं, तब वे जो समन्वयात्मक उत्तर देते हैं, वह इस विषय में उदाहरणीय है, यथा—"चूंकि दोष हैं, इस लिये परिभाषा या सूत्र नहीं करना चाहिए, ऐसा नहीं हो सकता है चूंकि भिक्षुक हैं, इस लिये रूधन नहीं किया जायगा या चूंकि मृग हैं, अतः यव का वपन नहीं किया जायगा—ऐसा नहीं हो सकता'! (१।१।३७ आदि)। कितना मार्मिक दृष्टान्त है। जैसे चिरकाल मृग या भिक्षुक रहेंगे ही, परन्तु उससे रन्धन या वपन का लोप नहीं होगा, वैसे सूत्र या परिभाषा से चूँकि वहाँ पर दोष आ सकता है, अतः सूत्र या परिभाषा नहीं करना चाहिए—ऐसी बात नहीं है, अर्थात् सूत्र या परिभाषा की रचना करना अनिवार्य है।

पर इस परिस्थिति में रचना करने की शैली क्या होगी, जिससे गुण का ग्रहण तथा दोषों का परिहार हो, तो पतञ्जलि उत्तर देते हैं—'तस्माद् यान्येतस्याः परिभाषा प्रयोजनानि, तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या प्रतिविधेयं च दोषे' (१।१।३७ आदि) अर्थात् प्रयोजन है, वहाँ के लिए परिभाषा करो और दोषों के वारण के लिये उसका प्रतिवि करो। सूत्र के अर्थ में भी पतञ्जलि का यही दृष्टिकोण है। जिस प्रकार सूत्रार्थ करने से प्र लक्ष्य ठीक बनता है, वैसा सूत्रार्थ करना चाहिए—ऐसा पतञ्जलि का अनुशासन है।*

न्याय प्रयोग में पतञ्जलि की दक्षता का प्रमाण उनके प्रयोगों से मिलता है। ज पूर्व पक्षी अपने अनुसार मनमाना अर्थ करने लगता है, तब वे उसको कहते हैं 'नचेद अर्धजरतीयं लभ्यम' (४।१।७८), अर्थात् अर्धजरतीय न्याय दोष नहीं होना चाहिए। जैसे एक कुक्कुटी मुख से खाती है, और पेट से अण्डा देती है, तब यदि कोई सोचे कि मैं इसका पेट ही काटकर अपने पास रखूंगा, जिससे मुझको अण्डा मिले (और मुख में खिलाऊंगा नहीं) तो ऐसा जैसे नहीं हो सकता, वैसा अपनी सुविधानुसार सूत्रार्थ करना भी नहीं हो सकता। प्रकृत स्थल में इस न्याय का प्रयोग इतना उत्कृष्ट हुआ है कि वादी को मूक रहना पड़ा है।

पतञ्जलि ने दिखाया है कि 'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति' (२ आ०) अर्थात् यदि किसी एक पक्ष का आश्रय कर शंका की जाय, तो पक्षान्तर का आश्रय कर उसका उत्तर दिया जा सकता है। न्याय आदि सब शास्त्रों में इस न्याय का बहुत प्रयोग है।

तर्क शास्त्र के 'चक्रक' नाम का एक न्याय दोष विवृत है। इस दोष का प्रसंग प्राप्त होने से पतञ्जलि कहते हैं कि 'चक्रकेषु इष्टितो व्यवस्था' (१।३।६०) अर्थात् चक्रक दोष होने से नवीन वचनों का निर्माण कर उस दोष का उद्धार करना चाहिए। अन्योन्याश्रय वा इतरेतराश्रय दोष की प्रसक्ति होने पर वे 'नित्य शब्दवाद' का आश्रय सर्वस्थल पर लेते हैं (देखो भाष्य १।१।१, इत्यादि) यदि कहीं पर दोनों पक्षों में समान दोष हो जाते हैं, तो उनका प्रसिद्ध उत्तर है—'यत्रोभयोः समो दोषो न तयोरेकः चोद्योभवति' अर्थात् दोनों में जब समान दोष हो तो एक को दूषण नहीं कर सकते हो।

सूत्रार्थ के विषय में पतञ्जलि का स्पष्ट मत यह है कि 'न हि अनिष्टार्थ। शास्त्र प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति' (६।१।१) अर्थात् शास्त्र की प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिससे अनिष्ट प्रयोग का निर्माण हो।

व्याकरणीय न्यायों को वे लोकसिद्ध समझते थे। जैसा उन्होंने "अपवाद सूत्र से उत्सर्ग सूत्र का बाध होता है" इस न्याय के विषय में कहा है—नैवेश्वर आज्ञापयति, न च धर्मसूत्रकारा पठन्ति, अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम् किं तर्हि, लौकिकोऽयं दृष्टान्तः' (१।१।४९)।

(ज) लौकिक चरित्र विज्ञता

जिन मानसिक तत्वों के अनुसार लोक में सब कार्य होते हैं, जिन नियमों का अनुसरण कर मनुष्य अपना जीवन निर्वाह करता है उन नियमों का यत्रतत्र उल्लेख महाभाष्य में है। कुछ विशिष्ट उदाहरण दिए जा रहे हैं —

(१) मनुष्य की सनातन प्रवृति स्वार्थपरायणता के विषय में पतञ्जलि का निम्नवाक्य अवधातव्य है - 'नेह कश्चित् परोऽनुगृहीतव्य इति प्रवर्तते, सर्वे हीमे स्वभूत्यर्थं प्रयतन्ते। ये तावदेते गुरुशुश्रुषवो नाम तेऽपि स्वभूत्यर्थं प्रवर्तन्ते, पारलौकिकं च नो भविष्यति, इह च नः प्रीतोगुरुः अध्यापयिष्यति' (३।०।९२) अर्थात् मनुष्य अपना स्वार्थ छोड़कर गुरु सेवा भी नहीं करता है। सुतरां लोक में परार्थपरायणता का अन्वेषक व्यर्थ ही परिश्रम करेगा !!

(२) १।१।५६ सूत्र भाष्य में एक स्वारसिक लौकिक व्यवहार का उल्लेख है। उनका कथन निम्न प्रकार है—'प्रत्यङ्ग वर्ती लोको दृश्यते। तद् यथा, पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रति शरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति, ततः सुहृदाम् , ततः संबन्धिनाम् ; अर्थात् पुरुष पहले अपना काम करता है, तब दूसरों का।

(३) स्वामि-भृत्य-व्यापार का निम्न दृष्टान्त अत्यंत रोचक है :—दोनों समान बलवान् व्यक्तियों का एक भृत्य है, वह क्रमशः दोनों का कार्य करता है। परंतु जब वे दो स्वामी एक साथ उसको विभिन्न दिशा में प्रेरणा करते हैं और कार्य भिन्न दिशाओं में होता है, तब यदि वह नौकर किसी से विरोध नहीं चाहता है तो किसी का कार्य नहीं करता है"।

भाष्य में अनेक लौकिक न्यायों का उल्लेख है, यथा छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वा एवभवति, नाश्वो न गर्दभः इत्यादि ऐसे न्यायों के विषय में आचार्य का कथन है—लौकिकोऽयं दृष्टान्तः' इस विषय का विस्तृत विवरण निबन्धान्तर में प्रस्तुत किया जायगा।

(झ) परिहास

महाभाष्य में परिहास वाक्यों की कमी नहीं है। ये परिहास संस्कृत वाङ्मय की एक अपूर्व सामग्री है। यहाँ केवल कुछ स्थलों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

(१) 'ऋलृक' सूत्र में बहुत प्रयत्न करने के बाद सूत्रभेद करके लृ कार का प्रत्याख्यान पूर्वपक्षी ने किया है। भाष्यकार ने इस 'बह्वारंभे लघुक्रिया' को देखकर शंकक के प्रति परिहास किया है, यथा—'स एष सूत्र भेदन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन् प्रत्याख्यायते—सैषा महतो वंशस्तम्बात् लट्वा अनुकृष्यते'। अर्थात् इतना बड़ा प्रयत्न करने के बाद लृकार का प्रत्याख्यान करना मानो एक बहुत ऊँचा वंशस्तम्ब से छोटा से फल को खींचना है। अल्पफल के लिए बह्वायाससाध्य कार्य करना व्यर्थ है, इसको दिखाने के लिये कितनी सुन्दर उपमा है !.

(२) 'नञ्' (२।२।६) सूत्रभाष्य में एक अत्यन्त मनोरंजक परिहासवाक्य है। 'नञ्' का अर्थ क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया। 'नञ् प्रयुज्यमानः पदार्थं निवर्तयति' अर्थात् नञ् से पदार्थ की निवृत्ति होती है, तब भाष्यकार ने व्यंग किया है कि यदि 'नञ्' की यह शक्ति हो कि वह पदार्थ की निवृति करने में समर्थ है तो शत्रुओं की निवृत्ति के लिए राजा लोग हाथी, रथ सेना आदि न रखें, 'नञ्' यही राजा लोग रिपु-निवृत्ति के लिये कहा करें। कितना सुन्दर व्यंग है! मैं समझता हूँ कि महाभाष्य में इससे उत्कृष्ट व्यंग और नहीं है।

(३) भूवादयोधातवः (१।३।१) सूत्रीय भाष्य में जब यह प्रसंग आया कि क्रिया का अर्थ क्या है, तो उत्तर दिया गया—ईहा। ईहा। ईहा क्या है? उत्तर मिला—चेष्टा। पुनः प्रश्न हुआ, चेष्टा क्या है? उत्तर—व्यापार। अब पर्यायवाची शब्दों को ही देखकर भाष्य में परिहास किया गया है—'सर्वथा भवान् शब्दैरेव शब्दान् आचष्टे न किंचिद् अर्थजातं निर्दशयति एवं जातीयिकां क्रियेति। उत्तरकारी का उत्तर भी कम परिहासपूर्ण नहीं है। उनका उत्तर वस्तुतः शंकक से ही अधिक व्यंगपूर्ण है, यथा—अप्रत्यक्ष गर्भ कुक्षि से निगति होने पर जैसे प्रत्यक्षीभूत होता है, अप्रत्यक्ष क्रिया का उस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं होता; वह अनुमानगम्य है। कितना व्यंगपूर्ण उदाहरण है।

(४) परिहास के साथ साथ उदाहरण का माधुर्य भी दर्शनीय है। किसी पदार्थ के एकाकित्व को दिखाने के लिये पतञ्जली ने मृतभार्य की विधवा पत्नी का उदाहरण दिया है, यथा—'ननुचाभिङ् एक एव वराठरण्डाकल्पः, वराठो मृतभार्यः' (३।३।१६) कितना रोचक उदाहरण है।

(५) 'अस्त्यप्रयुक्तः' (पस्पशा) वार्तिक की व्याख्या में भी एक परिहास है। जब शंकक ने कहा कि अमुक शब्द का प्रयोग नहीं है, तब आचार्य ने कहा कि यह कैसे हो सकता हैं कि आप स्वयं प्रयोग कर कहते हैं कि अप्रयुक्त शब्द है। आप की तरह अन्य कौन पुरुष शब्द के प्रयोग में प्रमाण होगा? यहाँ अन्तिम वाक्य परिहास परक है प्रकरण को पढ़ने से पता चलता है कि यह परिहास कितना मार्मिक है।

(६) इन परिहासों के अतरिक्त पतञ्जलि ने ऐसे कुछ आख्यायिकाओं का अवतरण किया है, जिससे उनकी परिहास-प्रियता का अनुमान होता है। ऐसी आख्यायिकाओं में (क) वैयाकरण—सूत्र संवाद (२।४।५६) वृषल प्रत्यभिवादन संवाद (८।२।८३) आदि मुख्य हैं।

इन परिहासों के अतिरिक्त और अनेक परिहासस्थल हैं, जिनसे महाभाष्य का माधुर्य बढ़ गया है। भर्तृहरि ने कहा था कि रचना-सौष्ठव की दृष्टि से भी भाष्य महान् है, और ये परिहासस्थल इस अभिमत के पुष्टिकरण के लिये पर्याप्त हैं।

(ञ) दार्शनिक ज्ञान

शब्द संबन्धी दार्शनिक ज्ञान के विषय में हम अन्यत्र आलोचना कर चुके हैं। यहाँ अन्याय दार्शनिक विषय में पतञ्जलि का मत क्या था, इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) इन्द्रिय और मन के संबन्ध के विषय में पतञ्जलि ने कहा है—'मनसा प्रयुक्तनि इन्द्रयाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति' (३।२।११५) अर्थात् जब इन्द्रिय मन से प्रयुक्त होता है, तब उस इन्द्रिय से विषय ज्ञान होता है। यही कारण है कि उन्मना होने पर चक्षु खोले रहने पर भी रूप ज्ञान नहीं होता है।

(२) भवति वै प्रत्यक्षादपि अनुमानवलीयस्त्वम् (३।२।१२४) अर्थात् प्रत्यक्ष से भी अनुमान बलवान् होता है। यद्यपि अनुमान आदि सब प्रमाणों का मूल प्रत्यक्ष ही है, तथापि कभी कभी विशेष स्थलों पर अनुमान के बल पर प्रत्यक्ष ज्ञान का संशोधन करना पड़ता है। पतञ्जलि ने उदाहरण दिया है कि—'जैसे अलवात चक्र का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, पर अनुमान प्रमाण से जाना जाता है कि वह ज्ञान भ्रम है, और वहाँ अनुमान प्रमाण ही यथार्थ है।

(३) मनुष्य अपने बोध का लंघन नहीं कर सकता है, इस विषय में पतञ्जलि की उक्ति है—'न च नाम स्वेन्द्रियविरोधिना भवितव्यम्' (४।१।२) वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपने बोध का अपलाप नहीं कर सकता।

(४) यदि एक ही शब्द से सब कामनाओं की पूर्ति हो जाय, तो क्योंकि अनेक शब्दों का प्रयोग मनुष्य करता है, उसके लिये पतञ्जलि ने एक सनातन सत्य का उद्घाटन किया है—'न वै कामनां तृप्तिरस्ति' (६।१।८४) अर्थात् वासनाओं से तृप्ति नहीं होती। इसकी व्याख्या निष्प्रयोजन है।

(५) किसी विषय में किसी की इच्छा है या नहीं इसके लिये कौन-सा निदर्शन हो सकता है—इस रहस्य का समाधान महाभाष्यकार ने किया है, यथा—'इच्छाया हि प्रवृत्तित

उपलब्धिः भवति' (३।१।७), अर्थात् यदि किसी में प्रवृत्ति दिखाई दे, तो यह निश्चित कि उसमें इच्छा है। इच्छा जब तक नहीं होगी, तब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

(६) विद्यमान वस्तुओं की अनुपलब्धि किन-किन कारणों से हो सकती है, इसके उ में पतञ्जलि ने कहा है—'षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति—अतिसन्निक अतिंसन्निकर्षात्, अतिविप्रकर्षात् मूर्च्यन्तरव्यवधानात्, तमसावृतत्वात् इन्द्रियदौर्बल्या अतिप्रमादादिति' (४।१।२) उदाहरण देना निष्प्रयोजन है।

(७) आत्माभाव के द्वैविध्य के विषय में भाष्य में कहा गया है—'द्वौ आत्मानौ मरीरात्मा अन्तरात्मा च। अन्तरात्मा तत् कर्म करोति, येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभव (३।१।८७)। अन्तरात्मा=अन्तःकरण ; शरीरात्म=अध्यास से युक्त देह।

(८) इन उदाहरणों के अतिरिक्त और भी अनेक दार्शनिक स्थलों के उदाहर दिए जा सकते हैं। विस्तार भय से उन सबों का उपन्यास नहीं किया जा रहा है।

पतञ्जलि के दृष्टिकोण के जानने के लिये भाष्य सिद्धान्त के आधारभूत विचारों क ज्ञान होना चाहिए तथा अन्य संप्रदाय में उनके सिद्धान्तों की जैसी समालोचना हुई थ उसका ज्ञान भी आवश्यक है। हम पृथक् निबन्ध में इन विषयों को आलोचना करने लिये यत्न करेंगे।

श्री हरगोविन्द सिंह, शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश मथुरा के बाँयेंपुर जूनियर हाई स्कूल में १५ अगस्त, १९५४ को शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना के अवसर पर भाषण कर रहे हैं।

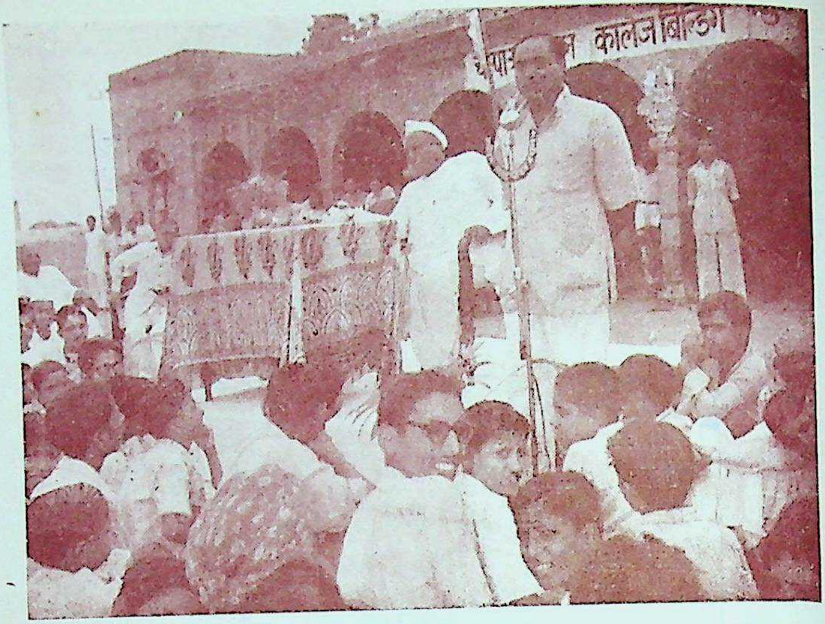

श्री रा० रा० सिंह, अतिरिक्त शिक्षा संचालक, चंपा अग्रवाल इण्टर कालेज मथुरा में छात्रों के सम्मुख भाषण करते हुए।

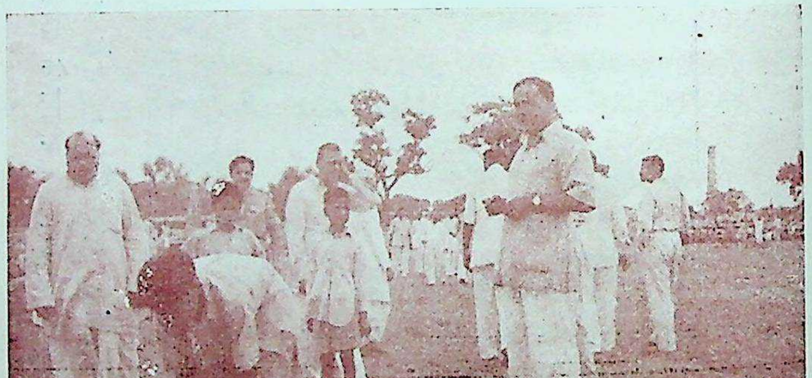

अतिरिक्त शिक्षा संचालक उक्त कालेज में छात्रों द्वारा वृक्षारोपण का निरीक्षण कर रहे हैं।

TOWARDS BETTER TEACHERS

Sri Dev Indar Lall.

It is certainly strange, if not unfortunate, that so much has been written and said about the types of school building and classroom furniture, about the methods and techniques of teaching, about the curriculum and syllabi of instruction, and about the use of text-books and other devices of teaching that most of us seem to ignore the all-important fact that ultimately it is the teacher on whom the real success or failure of any method, technique or procedure depends. The personal element in fact not only sows the seeds but it also determines the success or otherwise of the machinery, material and management in the domain of education. In consequence of this wrong emphasis, the importance of the teacher tends to be utterly ignored and in the vast esplanade of education this being is alotted only a small corner and the concourse passes by pushing him further into it.

The result of this misguided and misplaced dogmatism is a general degradation of the entire educational pattern. The sad results are already being reflected in the lower academic standards in our institutions as well as in an all-round deterioration in student discipline. Some people have even gone to the extent of saying that a veritable educational chaos seems to be in the offing. Things must be in a real mess to evoke the sharp remark in the form of rebuke from Paṇdit Jawaharlal Nehru, our beloved Prime Minister, whose sincerity of faith and conviction stands above doubt, that he would rather like the closing down of all universities than tolerate a situation as once existed in Lucknow, "Students go to the institutions to learn, to sharpen their minds and intellect and not to create impossible and untenable situations by resorting to all kinds of tactics", said Pandit Nehru, and we have to remind our readers that Lucknow is only one of the latest examples of student in-discipline. Similar unhappy incidents have been happening at other places also.

When we ponder over this problem, we wonder as to what is the real cause of this sad state of affairs. Some may attribute it to the existence of certain political parties in the country who are always on the look-out for such sparks that may put the whole framework of law and order in the country to ashes. Placed as we are, it is very difficult for us to pronounce judgment on this point. It may be true, it may not be true. But if it is true or even partly true we must say with all the emphasis at our command that it deserves universal condemnation. Such persons might profess on their part to be the well-wishers of society but as a matter of fact they are the greatest enemies of the motherland.

Some enthusiasts try to dismiss this as inherent to the transitory state through which the country is passing. We on our part attribute it, as mentioned elsewhere, to the kind of education imparted in our educational institutions. It cannot be denied that educational practice in our country has not been able to keep pace with the all round development in the political, cultural, scientific and economic spheres of life prevailing to-day and the prime cause of this relapse is the quality of the teaching personnel. In the words of Tyndall, "If there be any profession of paramount importance, I believe it is that of the School-master and if there be a position where selfishness and incompetency do most serious mischief by lowering the moral tone and exciting contempt and cunning where reverence and noble truthfulness ought to be the feelings evoked, it is that of the Governor of a school. When a man of enlarged heart and mind comes among boys—when he allows his being to stream through them, and observes the operation of his own character evidenced in the elevation of theirs—it would be idle to talk of the position of such a man being honourable. It is a blessed position. The man is a blessing to himself and all around him".

The significance of these remarks was duly realised in ancient India. Consequently the Indian teacher in those days commanded much respect and held a very high position in society. He was known as a Guru which according to one of the Vedas means "destroyer of darkness". He did not demand any fees—if he did, he did not remain a Guru any more. Apart from this he treated his students as members of his own family and looked after them to the best of his ability. He was a true nation-builder and as such his services were so much appreciated by the society that even kings had to bow their heads before him. It would be useful here to quote from the Ordinances of Manu. According to them, "A teacher is the image of **Brahama**; a father is the image of Prajapati;

a mother is the image of the earth". At another place it is stated, "By devotion to his mother he obtains this world; by devotion to his father, the middle world; but by obedience of his Guru, the Brahama world". Finally it is laid down that "Of him who gives natural birth and him who gives knowledge, the giver of the knowledge is the more venerable father".

This was the state of affairs in ancient India. It was an outcome of this that the standards of education in India were so high and its contribution to the pool of world civilisation so great. The position to-day has, however, changed—changed beyond recognition. The respect which the teacher once commanded and the status that he enjoyed are conspicuous by their absence. The teaching profession in fact is looked down upon by a majority of people and it cannot be denied that a high percentage of the incumbents join it only as a last resort. The scales of pay in the profession are generally unsatisfactory, the conditions of service unhappy, the provision of facilites fragmentary and the standards of expectation, in most of the cases, much too high. As a result of this the whole profession is to a large extent indeed full of dissatisfied, frustrated people who see no meaning in work and find no joy in life. This is not all. The society also on its part, treats the teachers rather indifferently and this aggravates the hopeless situation still further. As a result of this the teachers, instead of willing to remain on their posts of duty and discharging their obligations in the best possible manner to those entrusted to their charge, are on their part anxious to escape from it. Besides, most of them have to think of ways and means of supplementing their incomes so as to make both ends meet.

It is evident from the above that if any improvement or reform is desired in education, the first requisite is to improve the quality of teacher. In the words of the Report of the Secondary Education Commission (1953), "………the most important factor in the contemplated educational reconstruction is the teacher—his personal qualities, his educational qualifications, his professional training, and the place that he occupies in the school as well as in the community." The report continues, "During our tour we were painfully impressed by the fact that the social status, the salaries and the general service conditions of teachers are far from satisfactory……… They have often no security of tenure and their treatment by management is, in many cases, inconsistent with their position and dignity. It is surprising that in spite of the recommendations made by successive Education Commissions in the past, many of the disabilities from which teachers suffer, still persist and adequate steps have not been taken to remove them." The report further states, "If the teacher's present mood of discontent and frustration is to be removed and education is to become a genuine nation-building activity, it is absolutely necessary to improve their status and their conditions of service."

It is high time, therefore, that we started paying greater attention to the import of the teaching personnel in our educational institutions. It is a happy augury of the times that our leaders are already thinking on these lines. Some of them feel that the trick can be done by increasing the salaries of teachers by a few rupees. Others think that by inviting them once in a while to an official reception and giving them front seats is just sufficient. There are still others who feel that a mere reference to the nobility of the profession and appealing to the teachers' sense of service and sacrifice will be enough. It should, however, be carefully borne in mind that none of these things by itself will suffice to achieve the desired end. Moreover, whatever is done by way of improving conditions in this respect should not come in the form of or take the shape of charity. What is essential is that the public should be educated to realise the great national importance of the teachers as the architect of society. As stated above 'Guru' in olden days was held in high esteem in India. It is really sad that we should have so soon become oblivious of our own history and forgotten the exalted examples of our Gurus.

But it should be realised at once that the respect of a teacher cannot be a one-sided affair. In order to regain the lost respect and retrieve the former status, the teacher has to be a Guru in the true sense of the word. He is not to be a person who merely takes up a teaching job. A real teacher is he who by his mental attitude and faith becomes a teacher. He takes up teaching not to earn his living but to serve humanity by teaching them to live better and more useful lives. He looks upon his work not as a job but as a sort of dedication. He in fact should live up to the ideal of the Unknown Teacher whose praise is sung by the late Dr. Henry Von Dyke in the following words :—

"I sing the praise of the unknown teacher. Great generals win campaigns, but it is the unknown soldier who wins the war. Famous educators plan new systems of pedagogy, but it is the unknown teacher who directs and guides the young. He lives in obscurity and contends with hardship. For him no trumpets blare, no chariots wait, no golden decorations are decreed. He keeps the watch along the borders of darkness and makes the attack on the trenches of ignorance and folly. Patient in his daily duty, he strives to conquer the evil powers which are the enemies of youth. He awakens sleeping spirits. He quickens the indolent, encourages the eager and steadies the unstables. He communicates his own joy in learning and shares with boys and girls the best treasures of his mind. He lights many candles which, in later years, will shine back to cheer him. This is his reward. Knowledge may be gained from books, but the love of knowledge is transmitted only by personal contact. No one has ever deserved better of the rupublic than the unknown teacher. No one is more worthy to be enrolled in a democratic aristocracy, 'King of himself and servant of mankind'."

The question that now forces itself upon is, "What makes a good teacher"? A simple and ready answer is "his personality". Now it is very difficult to define precisely what we mean by the term personality. This word has been used in a number of ways. Allport, for example, has distinguished as fifty meanings of this word. The number of definitions of this term is also unlimited. But without entering into a detailed discussion of its meaning or definition we can lay down a few qualities or characteristics which may be said to constitute a teacher's personality. It seems desirable here to refer to a check-list drawn up by Schorling for evaluating a teacher's personality. This list may be useful for our purpose until we make a list of our own, because it can certainly help us in forming a workable estimate of a person and his qualities in so far as his work as a teacher is concerned. The check-list is reproduced below :—

Suggested Traits	Balance of work	Fair	Good	Excellent
1. Emotional stability and Mental health.				
2. Personal appearanee.				
3. Health and Vitality.				
4. Honesty, Character and Integrity.				
5. Adaptability.				
6. Co-operation.				
7. Voice or speech.				
8. Leadership.				
9. Resourcefulness.				
10. Sociability.				

The above check-list is not the only list available for the purpo assessing teachers. There are many others going especially in progre countries. But it would be useful and profitable for us to evolve a of our own for the purpose. The first thing that has to be done in connection is to define the qualities of a good teacher. There are ma methods of doing this. We, therefore, suggest some of these metho in the hope that every employing authority and training institution try to follow these methods and thus evolve a list of its own. Th lists will help them a great deal in devising objective methods of selecti candidates for training or for employment and in turn will lead improving matters to a remarkable degree.

One of the methods to find out the requirements of good teaching is that of analysing the biographies of a few good teachers. We may find such studies especially helpful in gaining an understanding of qualities that made these teachers 'good'. Qualities will of course include some human factors besides their academic and technical components. Anoth idea may be to study some living persons who have achieved laurels a teachers and discover the traits which made them attain such heigh These may in turn be compared with the traits discovered from the pu lished biographies—fact or fiction. It should be noted that it is n difficult to find such published works. The life story and speeches Mahatma Gandhi, Pandit Jawaharlal Nehru, Dr. Rabindranath Tago are just a few names available for the purpose. "Good-Bye, Mr. Chip represents another set of books which could serve the purpose admirab well. Such analysis could form an excellent project for research i education especially because it has remained neglected for such a lo time and whatever work has been done on this problem is mostly subj tive. This project, moreover, should not be restricted to the natio boundaries only but teachers in some of the progressive countries sho also be studied if possible. The sampling should be as extensive as poss so that the data collected and the conclusions drawn therefrom a authentic, reliable and trustworthy.

Another method to achieve the same end is to study the every d work of the teachers, It should be spread over a number of days a cover all the aspects of his work and duties. This will tell us wh problems a teacher has to face, what situations he has to meet and wh roles he has to play in order to accomplish his job successfully. T investigation can be split up into two parts—firstly, we should tabulate after a careful study, the duties performed by an average teacher, and should find out the isklls, abilities and knowledge required in order to be able to perform those duties successfully. Here again we should study a very large number of cases spread over a wide area and period so that our results are as near authentic as possible.

W. W. Charters and Douglas Waples of the University of Chicago carried on one such investigation in 1929 and as a result of their investigation listed the following 25 traits necessary for teachers. These qualities are :—

(1) Adaptability; (2) Attractive personal appearance; (3) Breadth of interest (4) Carefulness; (5) Considerateness; (6) Cooperation; (7) Dependability; (8) Enthusiasm; (9) Fluency; (10) Forcefulness; (11) Good judgment; (12) Health; (13) Honesty; (14) Industry; (15) Leadership; (16) Magnetism; (17) Neatness; (18) Openmindedness; (19) Originality; (23) Progressiveness; (21) Promptness; (22) Refinement; (23) Scholarship; (24) Selfcontrol; (25) Thrift.

Another set of poeple who come in very close touch with the teachers are the pupils. As such they constitute a group specially suited to judge the effectiveness or otherwise of a teacher's qualities. It is an admitted fact that we have to have teachers who are liked by students and certainly only such teachers are desirable teachers. This again is an interesting topic for Indian reseach workers in education. Hart completed such a study in 1934. He finarised two lists viz. (a) a list of traits that go to make a teacher most likable to a student, and (b) a list of traits that go to make a teacher most disliked by a student. These lists are quoted below in full for reference :—

TABLE A

Reasons for liking "Teacher A" best, arranged in order of Frequency of mention, as reported by 3,725 High School Seniors.

Reasons for liking "Teacher A" best	Frequency of mention	Rank
Is helpful with schoolwork, explains lessons and assignments clearly and thoroughly, and uses examples in teaching ...	1,950	1

Reasons for liking "Teacher A" best	Frequency of mention	Rank
Cheerful, happy, good-natured, jolly, has a sense of humour, and can take a joke	1,429	2
Human, friendly, companionable, 'one of us'	1,024	3
Interested in and understands pupils	937	4
Makes work interesting, creates a desire to work, makes class-work a pleasure	805	5
Strict, has control of the class, commands respect	753	6
Impartial, shows no favouritism, has no 'pets'	695	7
Not cross, crabby, grouchy, nagging or sarcastic	613	8
"We learned the subject"	538	9
A pleasing personality	504	10
Patient, kindly, sympathetic	485	11
Fair in marking and grading, fair in giving examinations and tests	475	12
Fair and square in dealing with pupils, has good discipline	366	13
Requires that work be done properly and promptly, makes you work	364	14
Considerate of pupil's feelings in the presence of the class, courteous, makes you feel at ease	362	15
Knows the subject and knows how to put it over	357	16
Respects pupil's opinions, invites discussion in class	267	17
Not superior, aloof, "high hat", does not pretend to know everything	216	18
Assignments reasonable	199	19
Is reasonable, not too strict or 'hard boiled'	191	20
Helpful with student's personal problems, including matters outside of class work	191	21
Dresses attractively, appropriately, neatly, and in good taste	146	22
Young	121	23
Work well planned, knows what class is to do	110	24
Enthusiastically interested in teaching	108	25
Gives students a fair chance to make up work	97	26

Reasons for liking "Teacher A" best	Frequency of mention	Rank
Home-work assignments reasonable ...	96	27
Reeognizes individual differences in ability ...	96	28
Frank, "straight from the shoulder", a straight shooter	78	29
Personally attractive, good-looking ...	78	30
Teaches more than the subject ...	74	31
Interested in school activities	68	32
Sticks to subject ...	53	33
Modern ...	52	34
Sweet and gentle ...	50	35
Pleasing voice ...	50	36
Intelligent ...	42	37
Prompt and business like ...	41	38
Sincere ...	36	39
Knows more than the subject ...	32	40
Has pep ...	31	41
Uses good judgment ...	22	42
Cultured and refined ...	20	43

TABLE B

Reason for liking "Teacher Z" least, arranged in order of Frequency of Mention, as reported by 3,725 High School Seniors.

Reasons for liking "Teacher Z" least	Frequency of mention	Rank
Too cross, crabby, grouchy, never smiles, nagging, sarcastic, loses temper, "flies off the handle" ...	1,708	1
Not helpful with school work, does not explain lessons and assignments, not clear, work not planned ...	1,025	2
Partial, has 'pets' or favoured students, and 'picks on certain students' ...	859	3
Superior, aloof, haughty, "snooty", overbearing, does not know you out of class ...	775	4

Reasons for liking "Teacher Z" least	Frequency of mention	Rank
Mean, unreasonable, "hard-boiled", intolerant, ill-mannered, too strict, makes life miserable	652	5
Unfair in marking and grading, unfair in tests and examinations	614	6
Inconsiderate of pupil's feelings, bawls out pupils in the presence of classmates, pupils are afraid, and ill at ease and dread class	551	7
Not interested in pupils and does not understand them	442	8
Unreasonabie assignments and home work	350	9
Too loose in discipline, no control of class, does not command respect	313	10
Does not stick to the subject, brings in too many irrelevant personal matters, talks too much	301	11
"We did not learn what we were supposed to"	275	12
Dull, stupid and uninteresting	275	13
Too old-faishioned, too old to be teaching	224	14
Not "fair and square" in dealing with pupils	203	15
Knows the subject but can't put it over	193	16
Does not hold to standards, is careless and slipshod in her work	190	17
Too exacting, too hard, gives no chance to make up work	183	18
Does not know the subject	170	19
Does not respect pupils' judgment or opinions	133	20
Too changeable, inconsistent, unreliable	122	21
Lazy, not interested in teaching	115	22
Not friendly, not companionable	98	23
Shows boy or girl favouritism	95	24
Dresses unattractively or in bad taste	92	25
Weak personality	85	26
Insincere	75	27
Personally unattractive	65	28
Does not recognize individual differences in pupils	64	29
Voice not pleasant	63	30

Of the two lists reproduced above the first list shows that a vast number of students is of the opinion that the best teacher has to help them with school work, explain lessons and assignments to them clearly and thoughtfully and use plenty of examples in teaching with a view to illustrating the material and making it easily intelligible. This shows that the first requisite of a good teacher is to be good at teaching in the classroom. It will be very interesting to see how our pupils stand as compared with their American counterparts.

Some of our readers might argue as to the utility of table B. It shows traits that a good teacher should not possess. In our country the need for such a survey is very necessary because a large number of present-day teachers consists of persons who had to take up the teaching profession without in any way having been prepared for it. "He is a graduate, therefore he can teach" has held sway for quite a long time and whatever training certificate, diploma or degree is insisted on is done in order to earn increments instead of being regarded as a pre-requisite to the securing of a job. If Indian education is to develop, such elements must be weeded out and this table may help us a good deal in the process.

The Headmasters of schools are another set of people who have to deal with teachers everyday and should know very well the qualities of a successful or of an unsuccessful teacher. We could collect the opinions of a large number of such headmasters and categorise them.

Another method to collect such data may be to contact a large number of thinking educationists, members of a Training College Staff, parents and others connected with education and elicit from them a list of qualities that they expect of a successful teacher.

After all this data has been collected, one could finalise a list of qualities that an average successful teacher should possess. The list could be validated by applying it on a number of teachers reported as successful in various schools. It is not possible to find a teacher having all the qualities but a good teacher must have a good number of these. After validation our list may be altered here and there if need be and the final list will be ready for use, help and reference.

In the above paragraphs we have suggested some techniques of discovering the qualities of a good teacher. But it should be remembered that the job is not easy. Many attempts have been made in other progressive countries to define these qualities as exactly as possible but still no standardised and objective plan is forthcoming. The main difficulty in this respect is that of isolating the traits which are essential for success in teaching. In our country nothing worthwhile has been done in this respect so far.

Another reason for lack of advancement in this direction is the fact that there has been no need of selecting suitable hands for this profession. Anybody who had a desire or was driven by circumstances to become a teacher became one. Mr. K. L. Shrimali has carefully analysed the position in this respect in one of his recent pamphlets on "Better Teacher Education". He writes as follows :—

"A general survey of the teaching profession will reveal that a large majority of teachers do not enter this profession by choice but are forced into it by circumstances. It will also be found that people who go into the teaching profession come mostly from families belonging to lower-middle and lower income groups in the community. The children of administrators or of professional men such as doctors, lawyers, engineers, big businessmen or landlords rarely enter the teaching profession but children of farmers, small businessmen and clerks are found in abundance. Students who can afford to pay for their higher education go up to the University and try for jobs which will bring money and prestige. Those who have received higher education at Universities as regular students rarely think of becoming teachers in a school. It is only when they have failed to secure more lucrative jobs in other professions that they become teachers. They are always on the look-out for better jobs elsewhere and as soon as they get an opportunity leave the teaching profession".

The greatest problem before us to-day, therefore, is to improve the standard of teachers and remove the feeling of frustration which is writ large on their faces. This profession should not be the Cindrella of professions but it should be given its due importance and assigned its proper place. This can be done to some extent by offering them respectable salaries and raising their status in society. But these things will not be enough. What is equally essential, if not more so, is the desirability of finding ways and means of recruiting only those who are suitable for the profession and have proper professional aptitude. This can be done only by making the selection fairly early in life and then giving them the necessary training to equip them properly for the profession. This should be done keeping in mind the dictum that training can benefit only those who, though mature in mind, are also sufficiently raw. It is, therefore, imperative that the working of the teacher-training institutions be completely re-orientated.

The Indian Universities Commission (1949) in their valuable report have also emphasised the need for a remodelling of courses in the various training institutions. They are of the opinion that the practical side is not given its due emphasis in training. About three-quarters of the work done in insititutions of teacher-education is theoritical, although it has been established many times over that efficiency in theory is not always compatible with corresponding efficiency in practice. This is primarily so because teaching is not only a science but an art also.

This, however, does not imply that no theoretical background is needed. All practice, it must be borne in mind, has its roots in theory. But the word "Training" has come to be a very mischievous word in education. It is the general impression that when graduates and others join a teacher training institution they are lost to the "pure uplands of scholarship, squelching steadily into the marshes of technical education." It, therefore, follows that teacher training is not just an addition of techniques, it is to acquaint students with all that goes by way of education and thus to broaden the range of the teacher's personality. It is, therefore, the latest opinion that 'Teacher Training' does not fully represent what should be done in a Training College. 'Teacher Education is suggested to replace the earlier term.

Teacher education has four main aspects of study. First of all, there is the vast theme of the nature of education and values in education. This we may call the 'Why' and 'What' of education, and naturally this aspect affects the entire edifice. Secondly, there is the historical aspect which is very necessary to understand the nature and the growth of our educational system and the development of educational practice. Thirdly, there is the methodology of school subjects closely linked with what is the psychological aspect of study. It includes the nature of development of children and adolescents on the one hand and the principles of curriculum construction on the other. Finally, there is the practical experience of teaching and of class and school management, A close link exists between some of the aspects outlined above. Indeed one of the main jobs of the schools or colleges of education should be how to avoid overlapping to any wasteful degree while giving the fullest possible coherence to the various aspects of teacher education.

Mere listening to lectures delivered by the school or college staff is not sufficient background in theory. Work in the library, writing of essays, participation in tutorials, seminars, workshops, debates and other social activities are of equal importance. Opportunities have to be provided for activities that stimulate imagination and powers of judgment and criticism. A working knowledge of the more popular audio-visual aids is also very essential besides some training in arts and crafts. It will be a sad commentary on our educational standards if a high school teacher does not know anything about an ordinary epidiascope or about the drawing of maps or the making of models.

A serious charge against the practical side of training in Colleges of Education is that this kind of work is done in rather unreal conditions. Much that a trainee does in connection with a criticism or a practical lesson as a part of his training is not possible to be done in actual schools when time-tables are overcrowded, equipment scarce and the number of students unmanageable. Further more, the present training does not include much that a teacher has to do as a part of his job in schools-keeping of accounts, posting of registers, arranging and organisation of games and functions. The practice period is, as a rule, confined to teaching a couple of periods every day and that is all. To get an overall idea of the work of a school, it may be better if a trainee is completely 'deputed' to a school for a particular period, say three months, and is treated as an ordinary member of the staff, sharing equally with the permanent staff the entire burden of school work in its different forms. If the reports about his work and behaviour during the period of deputation are good, the importance of the final examination in teaching skill is automatically reduced to zero.

The teacher, it must also be remembered, does not learn the last word in education in a Training College. In fact there is no last word in education. Education is dynamic and not static and as such its philosophies and techniques are always undergoing changes. A good teacher will and should try to keep pace with all these changes and keep himself abreast of the latest developments. In this way he always remains a learner. It is, therefore, imperative that maximum facilities should be provided in this direction. Books and journals on Education help a lot in the achievement of this ideal. But they are not the only means to the in-service growth of teachers. Refresher and vacation courses should be a regular feature of all Colleges of Education and teachers working in schools should be encouraged to attend them and they should get all possible facilities for this. These courses should be organised not only on education in general but also on particular subjects and specific problems. Variety and intensiveness should be the watchwords of these courses and they should be so designed as to lead to increased efficiency not only in academic spheres but also result in social gain through mutual discussions and community living. In this way they will make the teachers attending the courses mentally alert, intellectually active and socially useful.

The reorientation of the courses in Training Schools and Colleges, as suggested in the above paragraphs, is absolutely essential. There are many reasons for this—the first and foremost of them being the changed conditions in our country. Prior to the achievement of independence, the function of the teacher in this country was very simple—it was merely preparing pupils for examinations with a view to enabling them to secure jobs and earn their livelihood. The undue emphasis on English at the cost of the mother-tongue and the inexpedient pursuit of the Western ideals to the complete elimination of our own ideals and culture degenerated the standards of education in general and debased those engaged in it in particular. The teacher, therefore, through sheer force of circumstances started looking upon his profession not as a vocation imbibed with a spirit of dedication but as a career where trade-unionism held its away. In this way he succumbed to economic forces and turned into a materialist—looking at everything from the point of view of return in material value and caring little for the high ideals of his predecessors.

Another set of reasans which makes the reorientation of training courses imperative is the change in the function of the school. A school is no more regarded as a knowledge-monger's shop but is universally accepted as the custodian of the physical, mental, moral and social life of those entrusted to its charge. The teacher, therefore, has not to develop a particular aspect of the pupils personality but has to take into account the properly balanced and integrated personality of the whole man, "co-education of body, mind and spirit," as Jacks has called it.

In regard to the re-orientation advocated above it should carefully borne in mind that the problem of teacher training is m difficult and the task that it envisages is more onerous than the job training professional workers in any other field of activity. The reas for this are manifold. In the first place, the material in this case extremely delicate and it is far more easily spoiled than the material the disposal of any other artist. In the second place, the teacher to deal with a group knowing full well that the members composing group differ from each other in almost all respects and that the differences can only be ignored at the cost of efficiency in work and effectiveness in output. In the third place, intending teachers are not, as a rule, sufficiently equipped to discharge their duties properly. Their outlo is usually narrow and their knowledge fragmentary. In the fourth plac and this makes things still worse, the would be teachers possess certain id and notions which are positively harmful and which must be removed bef their development can begin on right lines. Our experience in this fi has convinced us that most of them believe that education is someth that adults do to the young; that it consists of repression and extern order; and that it is nothing but acquiring of knowledge, learning facts and committing of certain formulae and tricks to memory. It indeed a long way and quite difficult, too, to let them realise that edu tion is a release, a responsibility—a growth towards freedom and training in the fulfilment of the responsibilities of freedom.

The significance of these remarks is being increasingly realised our country these days and it is felt that all schemes of educatio reconstruction, however grand they may be, will fall through unless t are manned by the right type of teachers. The teacher in fact is t pivot of the whole system and that is why he has been called " architect of society", and the institutions that he maps are known as "cradles of civilisation". If our country, therefore, has to rise a regain its proper place in the comity of nations, it is absolutely essen that the necessary change of emphasis in the dynamic educatio thought and philosophy be brought about and that can be done by improving the teaching personnel. It is only this that will lay the foundations of and assure the turning out of future citizens imbued with right spirit and enthusiasm and backed by the requisite knowledge in support of these. The teacher also should give up the age-old lethargy, realise the importance of the job entrusted to him and dedicate himself to it. He should consider himself as the "King of himself and servant of mankind".

AGRICULTURAL EDUCATION UNDER THE NEW REORIENTATION SCHEME IN U. P.

Dr. RAM DAS, M.A., Ph.D. (Wisconsin).

In an agricultural country like India agricultural education sho have received great attention and emphasis but this has not been Upto recently, though education in general in our country has be very inadequate but it is more so of agricultural education. This featur holds good for almost all the States in this Country. In Uttar Pradesh too, though considered to be one of the pioneer states in Education, Agricultural Education here has not received the desired emphasis. Statistics about the candidates appearing at the High School Examination with Agr culture as one of their optional subject could not be had readily, but t following table shows the number of candidates who appeared at t Intermediate Examination with Arts or Science subjects and also w Agriculture.

Table showing the number of candidates who appeared at the Intermedia Examination and also the number who appeared with Agriculture.

Year.	*Total number of candidates who appeared at the Intermediate examination.*	*Total number of candidates who appeared at the Intermediate Examination with Agriculture.*
1943–44	9965	275
1944–45	11164	342
1945–46	13169	436
1946–47	15694	547
1947–48	17100	759
1948–49	22298	730
1949–50	25814	706
1950–51	41890	658
1951–52	40520	444
1952–53	51436	639
Total	249050	5536
Average	24905	553.6

The above table tells its own story. The number of candidates appearing at the intermediate Examination in Agriculture comes to 2.2% of the total.

Even at University stage the position is equally unsatisfactory. During thirties there was only one Government Institution in the whole State which was imparting agricultural education at Kanpur. This College of Agricultural used to turn out 30 to 40 candidates every year. Another institution which used to teach agriculture was the Allahabad Agricultural Instititute, Naini, Allahabad. This Institution was run by American Missionaries. Other Universities did not impart Agricultural education in degree classes. Banaras Hindu University used to turn out a limited number of students in Agricultural Botany. It was towards the end of the thirties that emphasis on agricultural education was slightly increased. We have now a number of degree colleges in Agriculture besides the above two which are imparting agricultural education. The important ones are situated in districts of Agra Bulandshahr and Meerut. Recently a degree college in Agriculture has been started in district Deoria. Banaras Hindu University has also opened degree classes in agriculture. A Veterinary College has been functioning for the last few years in district Mathura. This is a good start but much remains to be done in this direction. In the year 1952–53 there were only 325 candidates who appeared at the B.Sc. Ag. examination and 69 who appeared at the M.Sc., Ag. examination. This number is very inadequate when we see that out of a population of over six crores in this State about 3/4 depend directly on agriculture.

The result has been that the Schools, Universities and Colleges turn out thousands of candidates every year who have either to depend for employment in the private sector of the society or to find employment in the different departments of the State. After all both the sectors have their limitations. Due to the opening of the hostilities on account of the World War II, this defect could not be noticed as many avenues of employment became available in the private and public sectors. This boom lasted for the period of the War and continued for a year or two even afterwards but ultimately the shortfall in our education system became more and more apparent. There is no denying the fact that from 1947 onward there has been unprecedented expansion in our education. The number of candidates appearing at the High School, Intermediate and Degree Examinations has increased manifold but as pointed out earlier, the sector of employment private and public, having limited capacities, could not cope with the problem of employment. Students coming with rural background did not find agricultural education a dignified profession and they too, following the footsteps of others, devoted themselves to types of studies as their urban brothers have been doing. Educated in different types of environments, they started thinking that agricultural labour was something undignified and they should settle down in such profession where they may be engaged in penwork rather than doing some productive and some more useful work in agriculture. The result of all this has been that young men from the countryside srarted running to Universities and colleges and devoted themselves to academic studies and forgot their rural environments. This influx of population from the countryside to the cities made the position of employment still worse. The problems of unemployment and indiscipline became so irksome that educationists, statesmen and leading public citizens came out with statements stating that there was something fundamentally wrong in our system of education and the earlier it was removed the better. Sri Vinoba Bhave has recently remarked that the present educational institutions should be closed down as the types of candidates which we are turning out of them are increasing the problem of un-employment. Pandit Nehru, in one of his recent tours of U.P. did not like the idea of opening of colleges indiscriminately imparting academic education. Thus it is clear that there is need of radical change in our Education system.

Our Chief Minister, Pandit G. B. Pant, visualised the gravity of this situation and pointed out as early as 1951 that our education system should be improved from below and that we should give agricultural and technical bias to our education to infuse confidence for work in our young children and make them atleast partially, if not wholly, independent so that after leaving their studies they may be able to make their living. With this background in mind and for providing employment to the unemployed, to change the vision of the young children to imbibe the habit of manual work, to infuse the idea that work is worship, to make young children learn by doing, the present Reorientation Scheme has been launched in the State from this year.

What is Reorientation Scheme ?

The Re-orientation scheme, as the work signifies, aims at everhauling the present education system in our State right from the beginning. Since in the primary stages the children will be of a very tender age and education of three Rs. i. e. Reading, Writing and Arithmatic is also very essential, elementary knowledge in agriculture and craft will be given to the young children in the primary schools but full fledged emphasis will be placed on these subjects in Junior High Schools and Higher Secondary School stages. Under this scheme agriculture or craft has been made a compulsory subject. Every boy shall be required to put in manual work either in the fields or in the workshop for two hours a day. The curriculam has been revised accordingly and has been set on a new pattern. In the Junior High School and Higher Secondary School stages it would be possible to emphasise the fundamental principles of agriculture in addition to regular field work.

Besides teaching agriculture these schools will be developed in full-fledged community centres which will serve as a nuclous of the activities designed to improve the economic and social standards of the society. These schools will disseminate knowledge of better farming, better living and better health. In order to develop these schools as community centres particular emphasis will be laid on the following.

(i) Maintenance of the fertility of the soil.
(ii) Protection of land from erosion.
(iii) Introduction of improved seed, implements and agricultural practices.
(iv) Protection of crop from pests and diseases,
(v) Introduction of improved breeds of cattle.
(vi) Better storage of agricultural produce.
(vii) Introduction of suitable productive crops.
(ix) Better processing of agricultural produce.
(x) Development of small animal industries like poultry farming and Bee-keeping.
(xi) Better agricultural and home sanitation.
(xii) Improvement of local cottage industries and proper marketing of their produce.

To give demonstration of better agricultural practices every school is being provided with 10 acres farms where ocular demonstrations will be arranged for the benefit of the farmers of the locality.

In order to be an effective centre of community development the institution must gain confidence of the village population. This is possible through services. The school will, therefore, be developed into a centre of service to the locality. For this purpose they will serve as spearheads of the following types of campaigns.

(i) Tree plantation campaign.
(ii) Anti rat and anti pest campaign.
(iii) Anti crop disease campaign.
(iv) Anti cattle epidemic campaign.
(v) Extension of fruit and vegetable culture.
(vi) Humus preservation campaign.
(vii) Compost making campaign.
(viii) Adult education campaign.
(ix) Anti malaria campaign.

In schools where land is not available for starting the farms some craft will be introduced so that the children may have some knowledge of one or two basic crafts like spinning and weaving, tailoring, leather working, metal work and other important crafts of the locality. The scheme will therefore be removing unemployment on the one hand and giving technical and vocational training to children on the other so that after passing their examinations they may not hanker after petty private and Govt. jobs. These children will be trained in improved methods of agriculture from the very beginning and thus besides introducing improvement in their own agricultural holdings they will carry the slogans of improvement to the farthest and remotest corners of rural society. The scheme will be productive from the very beginning i.e. the children will learn by doing, they will get a part of the produce with the help of which they can purchase their books, pay their fees and meet other expenses. It will be productive in the sense that it will result in introducing agricultural improvements in the countryside and thus help in raising the standard of production of agriculture. The scheme will result in better health and better efficiency of work of the masses. With these considerations the scheme of Reorientation has been introduced in our State.

To implement the scheme successfully, suitable teachers were selected and given a training at the various training centres for a period of about three months. They have now been posted to the schools where land has been secured with the cooperation and help of the local population. More than 3/4th of the Junior High Schools have already been able to secure land. For equipping these farms arrangements are in progress for collecting funds from the public.

The funds so collected have been placed at the disposal of a sub-committee of the District Planning Committee which has been authorised to make purchases of suitable tools and implements for the school farms.

Inauguration of the Scheme of Reorientation Education.

The scheme of Reorientation Education was inaugurated in the State on 15th August, 1954 this year. The Ministers, Dy. Ministers, Parliamentary Secretaries, high officials and public-men went round the various districts to perform the inauguration ceremonies. Reports from districts indicate that there was great enthusiasm in the public towards this scheme. Inspite of the inclement weather people participated in this programme. The school activities like vegetable and fruit trees plantation were appreciated by the people who collected at suitable places at the time of inauguration. In each and every school "Prabhat Pheries" were taken out and the local public was enlightened about the different aspects of this scheme.

Agricultural education in the Reorientation Scheme has thus made a good headway. Teaching work has commenced. Textbook for students has been written. The Agriculture Extension teachers have started working on these farms and with the help and cooperation of the local public are trying to bring them under cultivation. In many places plantation of papaya and banana has made a good progress. In many schools where land was under cultivation sowing of kharif crop has been done.

The scheme has thus made a good beginning. Community work will also be taken up by the extension teacher in due course. They will be organising Youth Clubs in the country side to introduce good agricultural practices. The good effects of this Scheme will thus be reaching soon to the remotest and the farthest villages of the state. The Scheme which is new of its type and has been introduced in this State will be pioneer in all its aspects. All the agencies of Govt. Deptts. particularly of Agriculture and Planning have been helping this Scheme whole-heartedly. The success of this Scheme will become known to all soon. Other States can take up this Scheme of Agricultural education and introduce it successfully in their own States with necessary modifications as deemed necessary. The progress of our State as well as of the Country lies primarily in improving our primitive agriculture. This is possible through expansion of Agricultural education on a planned and systematic basis which the present Reorientation Scheme of Agricultural Education aims at.

TEACHING PROFESSION—SOME OBSERVATIONS

By SRI SOMNATH SARAF

Mr. Saividain's invitation to express honest views on the issues raised in Balam's book "Chalk in my Hair" which has been comprehensively reviewed by him in the March 1954 issue of the Education Quarterly under the title "Talk to Teachers", is sufficiently tempting and one can hardly afford to miss it.

In the first instance it may be stated that there is nothing unusual or extraordinary in the portraits of teachers and headmasters, that Balam has drawn. The picture of a school, as a child generally visualises it, is summed up in the following conversation :—

(An old man was virtually dragging a bleating lamb through a lane).

Shashi (a girl of about 6 years) : 'Where are you dragging this lamb ?'

Old Man : 'To the slaughter house.'

Shashi : 'I thought you were taking him to a school.'

With most of us this has been the general experience. All this brings out, too boldly and obviously, the role that teachers can play in moulding the lives of their pupils. It is because of this that it is impossible to agree with Balam, who states, that he is gravely suspicious of those persons whu tell us that the whole picture of civilisation depends upon the work of the teacher. Isn't it a fact that "the waste in a teacher's workshop is the lives of men ?" The author, without any reservations, endorses the views of Mr. Saiyidain that "education is a very important and significant activity, that a good teacher can, and does, make a significant difference in the life of his children, that there is a real, creative thrill of achievement in patiently discovering their attitudes and helping them to cultivate these aptitudes, in winning their love and planting in them the seeds of right values and appreciations."

---

*The views expressed by the author, in this article, are purely personal.

Mr. Saiyidain has, however, posed the question : Are there no persons, who are genuinely called to the teaching profession ? Since it is all a problem of a measurement of attitudes on which, unfortunately, not much work has been done so far, it is rather difficult to offer a clear-cut reply to the question posed. The findings of certain studies, conducted so far, in the field, clearly reveal that, excepting a microscopic minority, a majority of people take to the teaching profession only as a last resort when they find the other doors closed to them. Bacon has wisely said: "they are the happy men whose natures sort with their vocations." Generally it is some chance occurance that brings people to the profession. Often we find that occupational selection is the result of a long series of both accidental and deliberate influences which leave their imprint on the growing person, "until finally, partly drifting, partly steering his own course, partly guided by others, he drops into one of the world's occupational slots (if he is lucky)." After perusing the lives of some of the famous western and eastern educationists, we are driven to the conclusion, that circumstances and chances have generally played a major role in bringing them to the field of education. The darkest cloud has a silver lining. Almost all cultural and social movements in the history of world owe their origin to some creative thinkers and seers. And that is why we find that almost all philosophers and seers have been educationists. Tagore, Gandhi, Arbindo, Malviya and Zakir are instances who have preached what they thought was of fundamental value to life. Teachers should sufficiently imbued with certain high and noble values and ideals of life which may urge them to teach and practice what they think is true, beautiful and good. Persons with high ideals are institutions by themselves.

The most important problem that the society has to face, and which needs to be tackled satisfactorily and immediately is: Are our teachers sufficiently educated in the widest sense of the term and adequately cultured and imbued with high values that they can, in their own turn, inculcate and develop a sense of good values and ideals in the taught. The answer is too obvious to need any elaborate explanation. All this present day stress on examinations, degrees and cramming of obsolete and distantly-related to-life infremati, emphasis on the percentage of passes and mechanical and material values have absolutely no relationship with the development of cultural and spiritual values. If we want to develop really useful human material which should have the possibilities of dynamic growth, we have to think seriously of changing our present-day educational system. The products of this recognised system will be in a better position to man educational institutions and help in the throwing up a personnel and a cadre of people whose feet are firmly planted in the soil and whose heads are high enough. The need of the hour, in our country, is that our schools should produce a new generation of people—independent and resourceful, self-reliant and self-confident—who are in more intimate touch with the Indian life. The author personally believes that an imaginative and creative type of Basic Education will decidedly be more suitable for producing and training this type of personnel.

Teachers are now, no more subject—teachers but, life masters, which obviously means that greater responsibility has devolved to the teaching profession. In order to recruit the best people, from the existing field to man the profession, we shall have to use highly selective tests at the time of making admissions to training institutions. Perhaps we will be thereby taking a step in the right direction which may go a long way in saving the profession from becoming a procession. We have also to re-orient the tone and programme of teacher education institutions, because it is there that the initiation into the profession takes place. The proper place for development of one's interest in the profession and the inculcation of a sense of vocation is in the teacher education institution. The author knows—and fully well—how much he owes to his period of study in teacher education institutions, where he got a thorough initiation, not only into "the trick of trade," but also—and what was more important—into the philosophy and idiology of education. This initiation enable him to find "a creative thrill of achievement" in watching his pupils actively participating in the doing and learning of things. Though better placed, as regards salary, etc., than his colleagues in schools, he misses that sense of satisfaction and achievement, which is always to be found in some creative activity. In his own humble way, even under strained circumstances, like a rebel, fearless of taunts and cirticisms of his colleagues who would summarily dismiss his 'adventures' and 'activities' as mere fads and shows, he would make teaching a joyous and creative adventure. To him expressions like "creative activities" and "purposeful education" and "education without tears" and "learning by living" have not been mere eye-washes but slogans which have been sources of inspiration.

Balam's verdict that "the chief curse of school life is the tedious rigidity of its routine," can never evoke any responsive chord in a teacher who finds joy in his work. No one, in fact, can minimise the painful effects of heart-breaks and headaches, which have to be patiently borne by teachers. The society has to give a fair deal to teachers, who are the architects of future or otherwise be doomed to a decadence, the signs of which are painfully witnessing. Can we starve the goose and expect it to lay golden eggs ? The society has to realise that it is nothing but an inversion of values if it thinks that Education—whose pivot is the teacher—can be ignored for the sake of material development. It will be a great folly if we think that the development of human resources can be post-postponed for the sake of increasing material resources.

The author, however, is of the view that, at least, for teachers it would be too much to make conditions with life and stop taking interest in their vocation mainly because they are poorly paid. Nothing else can spell disaster than this undesirable attitude of ours. We need not, in any case, play with the future of nation and, more so, with that of the young kids who have been entrusted to our care. It will be perversion of our values if we think that since the society does not realise its duty, we should have our vegeance by ignoring the proper education of children. Isn't it a fact that there can be muddy teaching in marble halls and marvellous teaching in muddy walls ? In real teaching work, what is essentially required is, not only the presence of a number of aids and tools, but also, a human heart pulsating with life and vigour, full of joy and emotions, which alone can create things of beauty. Every noble experiment usually starts with a scratch but in teaching—which of all the experiments is the noblest one—we have not to work on a *tabula raza*, but deal with huma material which is living and creative. If we do our jobs honestly and conscientiously, we will be convincing our pupils, who will be the future leaders, financiers and economists of country, of the bonafides of the teaching profession and of the position of pride that it should occupy among all services.

Let us therefore realise, like Wordsworth, that children are "trailing clouds of glory" who come from God and resolve, like Froebel, "come, let us live for children."

COMPOSITE OR MULTI-LATERAL HIGH SCHOOL

Mrs. Urmila Johri, M.A. (Columbia).

IS IT SUITABLE FOR INDIA ?

Education is engaging the serious attention of all the countries after the World War II. All the Nations are busy in re-organizing their education system and putting their Post Reconstruction Scheme into operation. The education of pre-war period will not fit in the post war period of today. It is being increasingly recognized that educationial system will have to be adapted to the growing complexities of the Industrial World.

Society and education have close relations. Both act and re-act on each other. Education is, no doubt, a powerful instrument to bring about any social, psychological or economic change in a society and hence the growing consciousness of the power of education by all nations. The complete victory of the Leftist forces after the World War II led to the demand for the universal education and equal opportunities for all. True education is much more important for the democratic government when the responsibility is collective. Hence, the age limit of the school going children of the nation was raised from 11 plus to 16 in most of the countries. High School has become the school of the masses instead of a privileged few.

But there is another question tied up with it. Should we have one type of High School to provide education for all classes of children according to their age, ability and aptitude or should we divert children at the age of eleven plus into various schools? The democratic education favours multi-lateral schools. It becomes important, therefore, to analyse all the pros and cons of this type of schools. Hence Lady Simon asks a very timely question—'Three schools or one? It is as a matter of fact the title of her book wherein she has tried to compare and contrast the multi-lateral schools with the existing schools in England (Grammer, Modern and Technical).

The true education system has its roots in the structure of the society which it represents. In other words, we can say it is a thing of regional growth. In order to appreciate the full force of arguments for and against multi-lateral schools in England, we should briefly acquaint ourselves with the history of education in England,

HISTORICAL GROWTH.

The educational system in England has been imposed on the masses from above. Grammer schools were the previlege of a few rich people with the exception of a very few exceptionally brilliant children of the working classes who could enter them with the help of school or endowments, as late as 1902. It was in that year that the local authorities were allowed to open secondary schools. The fees were low and twenty five seats were free which were later on raised to 45 in 1938. There was great competition for seats in Grammer Schools, not because they imparted better education and gave better opportunity to enter University but due to the fact that they were patronized by high middle class These Grammer schools provided classical curriculum and therefore did not provide stimulus to the children of the working class.

The World War I brought the demand for secondary education for all. Hadow Report in 1926 helped to give a wide meaning to the term secondary. The Spen's Report in 1938 recommended that all forms of secondary education should be on equality—size of classes, salaries, building and equipments. The Regulation of 1944 Act culminated the process which began after the World War I by throwing open the door of secondary education to all.

As the door of secondary education was closed before 1944, it led to other forms of advanced elementary education—one of them was the Junior Technical School. These schools have made important contribution to the educational system of England which was behind other progressive nations like Germany in Technical Education. It is true these schools did not care for corporate life but they gave better technical training than is provided in the U. S. A., Scotland or Germany. The other advantage is the development of advanced elementary school which is known as Modern Secondary School today. It was inferior to Grammer school in every way but gave wide range of intelligence and freedom to teacher to make new experiments.

It is true that these three types of schools concentrate on their particular problems but one cannot justify their separation on social and economic differences.

What is a Multi-lateral School ?

Lady Simon tries to define it as a school with many sides. Does it mean that all Grammer Schools that provide alternate courses may be called multi-lateral schools ? She explains why they cannot be called so. First of all the Grammer School has in London entrance Examination. Secondly, it prepares for school certificate. Grammer school does not provide any alternate course to school certificate.

The multi-lateral school in the words of the circular of the University of Education dated 16th June 1947 means one which is intended to cater for all secondary education of all the children in a given area and includes all three elements in clearly defined sides.

Omni-bus is a Scottish name for multi-lateral and derives from the fact that there are no first, second or third class education. It includes all the children in that area and provides different education for them.

"A Comprehensive School" says the circular means one which is intended to cater for all the secondary education of all children in a given area without organizing on three sides. This school has been imported from the United States but it differs as there is no external system of education in that country and the school does not provide for the secondary education of all. It differs from the multi-lateral school in its internal management where there is auto-matic entry. It does not provide three defined courses (grammer, technical and modern).

Arguments for multi-lateral school are as follows :—

1. It is impossible at the age of 11 or 12 to decide what course a child should take and transfer of school between 12 and 13 is difficult. Intelligence tests take groups into consideration. There are great individual and interest variations. The problem of allocation and grading is much easy to solve if all the children are in one school. All individuals mature at different times. They benefit by many sided stimulation and the opportunities offered.

2. The school is the best training ground for a life in a democrati society where all social classes and grades of intelligence mix in th formation years of adolescence. Grammer school will lose much of it superiority if all the children go to one side.

The Chief arguments against are :—

1. The Multi-lateral school, if it gives the choice of all the courses provided by separate schools will, have to be very large (1000 to 2000) and will lose the influence of the Head.

2. Since the Head will be a grammer school master• or mistress, it will be difficult for him to handle children of a wide range of intelligence and aptitude. The children of lower income group will feel awkward in the same school. It will be difficult to find teachers willing to teach children with lower ability.

3. It will be difficult to make a closely knit community of such diverse types. The grammer school, the junior technical school and modern school owe their success to clearly defined but different objectives Compared with the grammer school, the modern school has benefited from the freedom it enjoys to experiment. The new secondary code making conditions equal between all secondary schools, will help to bring out parity of esteem.

As far as England goes these arguments are more theoritical. It i only after the Act of 1944, which provided separate secondary schools after the age of twelve, that multi-lateral schools have become a possibility. But traditional attitude of patronizing grammer school still persists.

In India.

The education system of India is more or less modelled on the British system of education. It was rather more, as in 1875 Lord Macauley imposed the foreign medium of instruction (English) in High Schools and Universities in the face of highly developed languages of India. He had made it clear in his famous manifesto that it was meant to provide clerks to run the Government administrative machinery. I was never meant for the masses and so it served well.

Various Commissions were appointed one after another but n tangible results were seen. The latest being the Calcutta Univers

Commission (1917), the Monteford Reforms (1921) and Hartog Committee of 1927. The great restlessness for education in the masses forced the government to call some experts from England in 1934. The report submitted by them is known as Wood and Abbots' Report.

They encouraged teaching through vernacular in High Schools but maintained English as a compulsory language. As there was great demand for vocational education, they recommended that full time vocational school should be classified as junior or senior, of the type of junior or senior in England, and general and mechanical education should not be provided in the same school, since pupils in the two types have very diverse aims.

Basic Education.

About the same time Mahatma Gandhi initiated discussion on independent scheme of national education and commenced All India National Conference at Wardha in 1937. It drew the scheme of Basic Education or Wardha Scheme and today one hears of Basic schools all over the country. The principles underlying are :—

1. Free and compulsory basic education should be provided for seven years on a nation wide school i.e. the school going age is upto 14.

2. Medium of instruction should be vernacular.

3. It should be based on some craft.

This scheme was put into operation in 1937 when India accepted Provincial Autonomy. But as the National Congress found that Provincial Autonomy we a delusion without a power at the centre, they resigned in 1939 and the schools also came to a close. However, after the Independence of India this scheme is being pushed throughout the rural India. High school is being provided as far as possible with the radius of ten miles. Federal Govt. is financing 30% of the total cost of expenditure in the undeveloped areas to speed up education. It will provide equal opportunity for all. Private schools are as highly coveted in India as in London. National movement and international trend is however, that we not have many private schools. The Government is discouraging them as far as possible. Our schools are mostly municipal, government and aided. We have grant-in-aid system in India where government is bearing 90% of the cost of the education to make them efficient.

As for the factors which go to make multi-lateral schools more suitable for youth in India, they are not many. But India believes in the Gandhian philosophy of equality for all. It will try any system which will help to achieve that aim. However, it is mainly busy at present with the primary stage of education and therefore we cannot say yet that high school belongs to masses. We are short of technicians and equipment. Hence it may not be possible to try them on a national scale but I am sure it would like them to give a trial where ever possible.

In the Sergent Report there is no mention of it which still emphasises formal education but recently States have revised their educational scheme and more emphasis laid on vocational training. Therefore, it is easier for India to organize multi-lateral scheme than England. Besides, Indian High schools generally have 600 to 1200 students. However, it is early to predict any trend as we are passing through transitional period for education at present.

THE EDUCATIONAL SYSTEM IN ANCIENT INDIA

Sri **R. M. Thakur,**

Bharat has a hoary and glorious past. It has traditions and culture deep rooted in pre-historic times. With the attainment of freedom, it is but natural that typical Indian out-look on life should re-assert itself in an increasing measure. It should aspire to guide, influence and mould all our national activity expressed in and through institutions social and political, is no matter for surprise. It is the natural process : our political subjection retarded our natural growth and how we were made to feel at every stage in our life the domination of the foreign people, To learn from others is not derogatory but it is folly, pure, simple and undiluted to imitate others blindly, it is intellectual bankruptcy. In fact, imitation is the sign of decadence and it has never helped any nation.

Of all institutions of a country, its educational system is the most fundamental basic. Was there such a thing as the Indian Educational system before the advent of the Muslim or the Christian power ? Did ancient India possess such a thing as an educational system worth the name ? The answer to these questions is a positive "yes". She did possess an educational system and it was *Gurukula System of Education.*

A CHIEF FEATURE

One of the features of ancient Indian Education lay in the students living under the roof of their preceptor. This accounts for the student being called Anthevasin, meaning thereby that he is one who stays close to his teachers, i. e. under his roof. Chandogya Upanished describes the student as "Acharya Kula Vasin" i. e. one who dwells in the house of the Acharya. Thus the usual system of Education in Ancient India, was for the student to live in the house of his Guru, under the latter's personal supervision. A few centuries later, one comes across Brahmans having formed themselves into Parishads. We also find organised public institutions for Education, such as in Takshasila, Mithila, Kunj, Conjeevaram etc. But for a along time the obligation to impart education rested with individual teachers, in whose houses bodies of students assembled and resided. This Gurukula tradition is reflected in the Universities of Oxford and Cambridge to a certain extent, and the residential system in the University Colleges of our country is an imperfect imitation thereof.

The aim of this brief article is to discuss whether the Guru-Kula System of Education had any advantages to its credit and whether its revival, at least to the extent possible under the present altered environments and circumstances, will be desirable.

SPENCER AND MILL AGREED.

The object of education has been postulated by various thinkers. Herbert Spencer expressed his view thus: Education has for its chief object the formation of character. To curb restive propensities, to awaken dormant sentiments, to strengthen the perception and to cultivate the tastes, to encourage this feeling and repress that, so as finally to develop a child into a man of well-proportioned and harmonious nature—this is the aim of the parent. In the words of John Stuart Mill, "the object of Universities is not to teach the knowledge required to fit them for some special mode of gaining their livelihood, but to make capable and cultivated human beings, and the common and of all departments of Education is the strengthening, exalting, purifying and beautifying of our common nature and the fitting out of man-kind with the necessary mental implements for the work they have to perform through life."

NOT MERELY MATERIALISTIC.

One of the distinctive features of Ancient Aryan Education was that it gave importance both to material and spiritual values. It stood for a well balanced view of life and laid emphasis on Dharma, Artha, Kama and Moksha. The fundamental Vedic conception of the soul was not an airy one, but was broad-based, attaching due significance to man's rights and privileges, freedom of thought, tolerance and humane laws of life. The goal of Education in ancient Bharat was not utilitarian but assuredly cultural. The Smrithi writers deprecated the idea that the value of education should be judged by its pecuniary result. Vishnu says: (who ekes out his livelihood with his Vidya that Vidya does not serve him right).

SREE KALIDASA'S SLOKA

He who uses his learning merely for his livelihood is called a trader in knowledge said Kalidas. Manu's injunction is as follows: "Having taken the pupil, in order to lead him to the highest, the teacher shall first, of all teach him the ways of cleanliness, purity of body and mind, good manners and morals." The Thaithariya Upanishad gives one of the exhortations to be made by the Acharya to the Pupil as—Follow Dharma. Dharma stands for law and custom, religion and charity, justice, righteousness, duty, discipline and culture. According to Rabindranath Tagore, Dharma is that principle which holds us firm together and leads us to our best welfare. In the words of a Professor, Dharma means "the development of the inner spirit, adherence to the eternal virtues and disciplining of the body and soul in a way suitable to that end."

Dharma is so called because of its quality of dharama i. e. giving support or being the basis. Dharma supports the people and it is also the foundation of the movable as well as immovable universe.

MEANING OF EDUCATION

Education as I have come to understand it, is the expansion of the soul and if it does not fulfil that purpose, it is negation to knowledge. It implies an attempt on the part of the adult members of a human society to shape the development of the coming generation in accordance with its own ideals - used in a wide sense, education means every thing which helps to mould the human being; and with some poetic licence, we sometime speak of the education of a people or even of the whole human race. According to Plato education aims at developing in the body and the soul all the beauty and all the perfection of which they are capable. What then is the ideal of human life? Or what is the nature and form of the beauty and perfection for a human being, especially in our times? Though the ess ential aims of human life should perhaps be the same in every place or generation, perfection of humsn life in the Athens of Plato would be different in certain aspects from what it would obtain in London, Paris, Moscow, New York or New Delhi to-day.

HOW A GURUKULA WORKED

The Gurukula system was in every way adapted to achieve the end of education as conceived in the manner above described. It was best fitted to contribute to formation of character, the building of the personality, the preservation of the ancient culture and the training of the rising generation in the performance of religious and social duties. The daily association between the teacher and the taught was fraught with great beneficial results. The teacher had the advantage of daily watching the intellectual progress and the moral behaviour of his pupil. The constant presence of the teacher contributed in a great measure to enabling the pupil not only to do away with insolence and pride but engendered in them that feeling of reverence for elders, so lacking at the present day. The Thaithariya exhortation to the pupil makes reference to this as well "Whatever Brahmans are better than ourselves in their sitting it will not do for thee to breathe". During the whole time of the pupilage, a deep and solid foundation was laid for a well-ordered and disciplined life. The foibles to which youth is likely to fall a prey to in town life, were avoided by residence with the teacher. The daily routine of a pupil which was enjoyed by his Acharya in the latter's abode was marked by simplicity, endurance, ban on luxuries, a rigid adherence to rules of hygiene and Brahmacharya, in pure surroundings free from all unhealthy influences and thus assured a health and robust manhood. The Hindu law-givers condemned the practice of stipulating that admission will be made only on payment of certain fees. When the period of education was over, an honorarium was paid to the teacher by those who could afford it. The close contact between the teacher and the taught which was the feature of the Gurukula system made the relationship between them cordial even after the relationship of Sishya and Guru had come to an end.

STRIKING SIMILARITY

Sri Walter Moberly, in a recent book he has written on "The Crisis in this University" commented thus on the corporate life in the Oxford and Cambridge Universities :—

"The student, who came in order to acquire learning or a professional qualification found that he had entered into life-membership of a society possessing a remarkable power to enlist his affection and loyalty. To it he was attached by silken cords and singular tenacity. So then came into existence a new type of community, having many of the qualities of a family; its members regarded themselves as sons of an Alma Mater. This has two consequences. First the teacher's is a pastoral job; to the student, he has a personal and not merely a business relation. He is not only contracted to give a certain amount of instruction but is to the guide, philosopher and friend of his pupils......Their (students') University years have been to them a vivid and compelling experience, making an exceptionally deep impression, indeed going far to mould their minds; and it is in the light of that experience that later experiences are interpreted......They regard their University in Newman's words "as a 2nd home, not so tender but more noble and majestic and authoritative" The Gurukula ideal was in every way suited for instilling all the attributes of what is considered a liberal Education. If as is justly claimed by the Oxford and Cambridge Universities, they sought to turn out each graduate a scholar and a gentleman, that was what was achieved by the ancient Guru-kula system. There can therefore be no doubt that that system is a valuable contribution to any educational scheme. As an old student of Cambridge and now in the Gurukula University at the fag-end of my official career, I find a striking similarity between these two universities with the exception of a little change in the environment and atmosphere i.e. pure Indian and pure British. What I found over there I missed here and what I missed there, I found over here.

EDUCATION AND RELIGION

The strongest point of the system of education in ancient India, particularly Vedic Times, was that it was religious or spiritual through and through. Education should not be sectorial. Doctrinal inoculation may be objectionable. But education is not worth the name if it is not religious. We can not do better than support this point of view with a quotation from the Great Philosopher and eminent educationist, A. N. Whitehead. He says, "The essence of education is that it is religious. Pray, what is religious education? A religious education is an education which inculcates duty and reverence. Duty arises from our potential control over the course of events. Where attainable knowledge could have changed the issue, ignorance has the guilt of vice. And the foundation of reverence is this perception, that the present holds within itself and complete sum of existence, backwards and forwards, that whole amplitude of time which is eternity,

PRESENT SYSTEM

The present educational system in Bharat is defective in certain vital respects. In the formative period of the lives of our men, we can conceive of nothing better for the development of character, adoption of high moral standards and the expansion of the mind and intellect than the daily contact and association with a proper teacher. Our educational system does not afford any such opportunity. The teacher and the taught are thrown together at certain stated periods of the School or College hours but this hardly enables the teacher to mould the minds of his pupils. Intellectual attainments are of no value, and often dangerous without character.

As Carlyle put it, "Without hands, a man might eat and could still walk but consider it—without morality, intellect were impossible for him." Many of the students who undergo their studies in Colleges are living away from their parents. They are thus neither under parental authority nor under proper control of their teachers or professors. The result is that the rising generation is falling an easy prey to all sorts of unhealty influences. The School or College curriculum has not been devised so as to give adequate attention to the glorious Bharatiya Culture with the result that our young men are fast developing a feeling of scant respect if not of scorn towards the same. The education imparted being secular, there is no scope for our young men to imbibe a passion for religion in its comprehensive sense and all that it stands for. These defects in our present Educational System can be, to a great extent remedied if the Gurukula system is introduced for a few years at least in the educational scheme, care being taken in the selection of proper teachers. It is only then that it will be possible to restore the ancient Aryan Culture to its former status and to carry to mankind its message of simple living and high thinking as exemplified by the Rishies of old.

FREE EDUCATION

India of the Vedic times was a prosperous and happy country. People lived in the midst of plenty. Society voluntarily maintained educational institutions and made education free from the lowest to the highest standard. Education by fees is a point of European growth. But all prosperous European countries are fast outgrowing this pernicious system. It undermines respect for the teacher, and he moves about carrying the last vestige of respectability under his armpit. In America we are told 90% of the higher education is free. The annual report of Great Britain for 1953-54 tells us that about 70% of higher education in United Kingdom is free. We are a poor country. But we should strive after the ideal of free education in free India. We shall be reverting to our own glorious traditions in this respect. It is a difficult task but it is worth achieving.

A FEW FACTS ABOUT OUR BOYS

(Psychological Research Wing, Defence Science Organisation, Government of India).

I. The Aim of the Study.

The aim of this study is to ascertain a few facts about our boys. The facts that have been studied are the games they play, their hobbies, the reading they do apart from their school or college studies and the extent to which they take part in extra-curricular activities. In addition to these, some facts about their homes are also studied, e.g., the number of brothers and sisters they have, the ages of their parents, the number that have step-parents or whose parents are deceased and the number of those who have stayed away from home in a hostel and the period of their stay.

II. The Sample.

The sample studied consists of 3412 boys from different parts of India who appeared before the Services Selection Boards for selection to the commissioned rank in the Armed Forces. The ages of these boys ranged from 15 to 17½ years—the mean age being 16.19 years. 92.44% of the boys had passed the Matric or an equivalent examination and 7.56% had passed the Intermediate Examination.

III. Method.

The facts studied in this investigation were ascertained from the boys themselves with the help of a questionnaire which was administered to them at the Selection Boards.

IV. Games.

Table 1 gives the percentages of those who play the games enumerated below :—

Table 1.

Game played.	*Percentage.*
Hockey	57.74
Football	47.27
Cricket	40.71
Badminton	20.16

Game played.	*Percentage.*
Volley Ball	17.06
Swimming	8.56
Tennis	6.36
Boxing	3.81
Basket Ball	3.99
Riding	2.29
Kabaddi	1.64
Squash	1.23
Wrestling	0.64
Deck Tennis	0.73
Hu tu tu	0.41
Base Ball	0.32
Rowing	0.21
Skating	0.06

Table 2 gives the percentages of the boys who play no game or one or more games.

Table 2.

No. of games played.	*Percentage.*
No games	3.54
One game	28.40
Two games	36.28
Three ,,	21.37
Four ,,	7.01
Five ,,	2.17
Six ,,	0.70
Seven ,,	0.35
Eight ,,	0.15
Nine ,,	0.03

44.87% of the boys state that they are members of the first team, and 20.52% claim membership of the second team of their school or college. 6.18% say that they are either the Captains or Vice-Captains of the team in which they play.

V. Hobbies.

Table 3 below gives the percentages of the boys who have the hobbies enumerated below :—

Table 3

Hobbies.	*Percentage*
No hobbies	25.97
Photography	17.91
Collecting :—	
Stamps	16.91
Pictures	4.87
Coins	3.22
Autographs	0.94
Match box labels	0.70
Flowers & leaves	0.41
Stones	0.12
Gardening	8.62
Shooting	6.68
Music	6.10
Reading	6.92
Drawing, sketching or painting	4.60
Walking or hiking	3.99
Wood work	1.03
Mechanical repairs	1.49
Pen friendship	0.85
Leather work	0.09
Story writing	0.59
Poetry writing	0.21
Fishing	0.47
Others	5.89

VI. Reading.

Table 4 gives the percentages of the boys who read the type of literature enumerated below.

Table 4.

Tpye of Reading	*Percentage*
No reading	13.63
Fiction or short stories	55.86
Religion	1.26

Type of Reading	*Percentage*
Philosophy	0.15
Psychology	0.18
Newspapers and Magazines	46.42
Biography	4.84
Scientific Literature	2.55
Historical Literature	1.49
Mechanical Literature	0.29
Poetry	1.41
General Knowledge	2.49
Travel	0.15
Essays	0.44
Plays	2.29
Sports Literature	0.67

VII. Extra curricular activities.

Table 5 gives the percentages of the boys who participate in extra-curricular activities enumerated below.

Table 5.

Activity	*Percentage*
No activities	33.88
Scouting	31.95
Debating	20.37
Dramatics	4.63
Literary Societies : (Mathematical Society, Hindi Parishad etc.)	7.42
School or College Union	1.91
School or College Parliament	1.47
First Aid & St. John Ambulance	2.84
Music Society	0.82
Others	2.90

28.60% of the boys state that they hold a position of responsibi e.g. President, Secretary etc. in the extra-curricular activities. 33.50% s that they have received military training of some sort in their school college career.

VIII. Facts about home

The average age of the father is 45.41 years and that of the mother 40.88 years. 2.46% of the boys have step-mothers. 6.51% have lost their fathers and 6.65% have lost their mothers. The boys come from a family which on the average has six children—4 sons and 2 daughters. 9.26% of them have step-brothers or sisters, 12.94% have no sisters and 1.82% are only sons. 24.71% have lived away from home in a hostel, the mean duration of stay away from home being 2.93 years.

WHO WILL TEACH PHYSICAL EDUCATION?

Sri M. Chaube M. A., M. Ed.

Dr. J. B. Nash, Chairman of the Department of Health and Physical Education, New York University, who was in India as a Fullbright Professor for the year 1953-54, toured the length and breadth of the Indian Union conducting seminars for the directors, teachers, instructors and leaders of Physical Education, guiding organizers of recreation and community centres and advising state and central Planning Commissions. Being fully acquainted with the existing state of affairs of Health and Physical Education in our country, the learned Professor very aptly used to question the seminarists as to who will teach Physical Education to the vast population of this vast country. Is it the sole concern of a few half trained and ill-paid physical instructors only employed in Higher Secondary Schools? It is not very useful to impart organized Physical Education to pre-schoolers, pupils of the Basic stage and to the students of the University stage? Who teaches Physical Education at these three stages and what is the provision for training such teachers? Taking all this into consideration, Dr. Nash realized that there was little chance of improvement in physical instructors continued as such and very soundly advised that 20% of the load of every teacher should be Physical Education and that Physical Instructor should be so trained as to share the same percentage in general education. This would necessitate lessons in Physical Training in all the training colleges turning out trained teachers for Higher Secondary Schools and may further involve giving a few lectures on methods of teaching general subjects also in Colleges of Physical Education. For training teachers of Physical Education to the pre-schoolers and children it is but essential that special institutions may spring up and for teachers of Physical Education at the University stage post Diploma course in Physical Education is an absolute necessity.

Presiding over the Sectional Conference on Military studies, Recreation, Health and Physical Education at the Twenty-eight All India Educational Conference, held at Calcutta, Sri Uma Charan Patnaik M.P., made a reasoned plea for the introduction of Compulsory Military Training in schools. Such a plea naturally led to a classification if the aforesaid introduction aimed at displacing Physical Education. This issue took a very important turn. Here feelings ran high and a heated debate followed. Some contended that military training had no place in our educational institutions while at the other extreme others claimed that in the face of a rising national emergency military training must be compulsory for all and can very well take the place of Physical Education. Those against military training stressed how democracy would be in danger, because military training involved formal method, rigid commands and set pattern which led to dictatorship. With the recent background of Hitler's Germany and Mussolini's Italy this is a natural fear. Education should promote Individuality and independence of judgement which qualities are best grown in Physical Education but these get rare opportunity in military training.

The advocates of Physical Education all in one voice brought home to the learned M. P., Sri Patnaik, that although the contributions which Physical activity makes to optimum physical health and its resultant benefits are recognized, other outstanding values of Physical Education programme need careful appraisal. Tradition and past experience in general have limited the vision of its possibilities as a vital force in daily life. Physical activity in the form of play is the most spiritual product of the child. To the youth and adult it offers an opportunity for the expression and development of personal powers of inspiration and right action under stress of emotion.

A truly humanizing education is Physical Education and when rightly conceived and administered it imbues the entire nation with the spirit of play and leads to social welfare. In the role of prevention Physical Education programme should save the nation many millions and much human suffering This is accomplished through the prevention of crime and deliquency. As a corrective measure, physical education, when properly directed lessens the need for hospitals, jails and reformatory institutions. This lent an immediate conviction to the military enthusiasts who descended from their soaring ambition and came down to a position of compromise.

The entire house agreed for a middle course having both Physical Education and military training. The one was now not opposed to the other but in the opinion of all both were found to supplement each other.

Military training, by itself, cannot give scope for the free choice of the child or the adult because it was not based on interest but on specific needs. It is for specific defence needs and ignores psychological appeal and it is very difficult for the educator to accept a plan that contributes only for regimentation. It is true a nation in modern times cannot meet its enemy on merely the strength and efficiency of its Army, Navy or Air Force. They are but buffers to meet the first onslaught. It is the reserve power of a nation that will mainly contribute to victory. But can we improve this reserve power without physical fitness and skill? Again the problem may crop up as to who will teach military training.

The entire controversy boiled down to this. To say that Physical Education is opposed to military training is unwise and is likely to be misunderstood. To advocate that military training must displace physical education may indicate lack of appreciation of the values of physical education not only to the individual but also to his capacity to be a good soldier. A soldier, in order to be a good soldier, must possess basic skill and fitness.

For a vast country like India with its limited finances, the introduction of compulsory military training in its proper form for all students may remain an introduction only unless the proposed introduction were restricted to a few parades, stiff marching, a P. T. Table for the entire session and an annual camp. Then why call this military training? And what else is military cadet corps scheme if not a new name to physical education programme? All this is a part of physical education programme and there cannot be two opinions on this.

The ideal arrangement would be to provide military training to a selected section of the school going population. A realistic view of our financial and other limitations points this out as the only solution. This may raise another very pertinent question. Who will handle military training classes? Unhesitatingly we would say teachers who are fittest for this and who are specially trained. Perhaps a few hands from the Army service may be specially required to handle special jobs in the scheme but in all fairness the idea of the soldier entering school premises has to be opposed. A soldier will handle our pupils on the same pattern as he does the recruit. A teacher can understand the immature pupils better but the soldier who does not understand the student will use techniques meant for the paid soldier and will probably do more harm than good.

If it is teachers who are to do the job, the teacher of physical education is for many reasons, one of the best suited to handle it If this is accepted, teachers of physical education who are within 35 years of age may be given such military training as qualifies them for the additional responsibility. Another useful step in this direction would be the introduction of military training in Colleges of Physical Education although it will necessitate to lengthen the duration of training in these Colleges. This arrangement would help in getting good instructors to impart military training and also in establishing good coordination in physical education and military training programmes.

What is most important at the moment is the introduction of compulsory Physical Education for all students. The word compulsory may appear rather unsound to those who are not in favour of examination system. But in a country where every thing is valued from the examination point of view only compulsion in some form or the other has to be introduced in physical education also. It may be by way of physical efficiency test, compulsory examination in the subject, or even assessment on the basis of participation. For every five hundred students there should be atleast one fully qualified physical education teacher to organise and coordinate the plan and there should be several other general teachers with elementary training in phsical education also to assist the main organizer otherwise who will teach physical education? The need for organized physical education to preschoolers, children and University students is as important as that for the High School students and provision for this also should not be delayed any longer.

Newer knowledge of psychology and nature the and needs of man has revealed today that the human being, while he has physical, mental and emotional qualities, is essentially an integrated personality. Education is not a mental process only but is recognized as a process involving the total personality. Physical education is not concerned with only muscles, bones and joints but with mental process involving coordinated actions, reactions, judgments, decisions as well as emotional control. If physical education is so great a part of education, it must be handled by educators and not by the illiterate strong man, the acrobat or an ex-soldier. It urgently requires better leadership manned by educationists, trained in principles, techniques and content of physical education. The entire outlook of the leaders and their approach to their changed responsibility in a fast changing system of education has to be changed.

Current practice in India is increasingly undergoing a substantial change although the feeling still persists that physical education mainly stresses on body building and health. There are separate special Colleges of Physical Education in almost every state of our country and the new ones are fast springing up. But the practice still prevails where half-baked short termers trained for six weeks or so are being employed to discharge this high responsility. This may be permitted for a while in an emergent state of acute dearth of fully trained teachers but it is not very difficult to assess the efficiency of work of these short termers when even certificate and diploma holders feel reluctant to take to this work demanding greater skill and exertion longer and odd hours of duty and yielding meagre emoluments, poor status and poorer prospects. If the state of affairs continue like this and if the leaders available for promoting the cause of physical education are not bettered in their training and lot, who will teach physical Education ?

It is really very encouraging to learn that the Ministry of Education, Govt. of India, has convened a Conference of heads of sport Associations and Federations in the country on August 14, 1954 at Delhi to promote sports on sounder lines and to organize training programmes at the school, district, state and national levels. This is no doubt a very big step towards the improvement of national stamina and sports standard but this has to be watched with close concern if the proposed plan restricts itself to the top ranking athletes only and ignores the vast number of potential athletes in schools and colleges lying dormant for want of opportunities and proper guidance in this direction.

An ideal arrangement whould be the introduction of physical Efficiency Tests in schools and colleges. Every student must attain a certain form of physical efficiency before he is attended to go ahead from class to class and then for the benefit of those students who have special abilities in sports the subject of physical education may be allowed as an optional subject. It is a common observation that very few sportsmen in our country, are able to secure good divisions in the present set up of our examinations because the subject in which they could have scored best is not an examination subject in any State of our Country. This is why there is hardly any avenue in our midst to a top ranking sportsman worth his rank. It is quite different in countries that rank very high in world olympics or Lingiads because there physical education is education and is a subject for examination even at the University stage. If the same system is introduced in our country and the subject of physical education is included among optionals, if not among compulsory subjects, the problem of suitable leadership will be solved otherwise who will teach Physical Education ?

THEORY AND PRACTICE IN TEACHERS COLLEGES

(An Investigation)

Sri Bhagwan Dayal, M.A., B.T.,

INTRODUCTION

The course of study in a Teachers' College generally consists of two parts, theory and practice, Ideally, theory and practice should help each other; theory should lead to enlightened and successful teaching and practical teaching work should test, reinforce and modify theory. But actually theory and practice in Teachers' Colleges are not so well coordinated. Indeed, Teachers' Colleges are often accused of advocating teaching methods which do not adequately take into consideration the practical needs and difficulties of the schools. Many trained teachers do not follow the training college methods in their day-to-day teaching in the schools. Even during their period of training in a Teachers College, many teachers do not realise the close relationship that should exist between the principles and practice of teaching. This divorce between theory and practice has had disastrous results in many cases. Many students who score very high marks in practice obtain only poor marks in theory and vice versa. It is the object of this article to examine the extent of correlation between theory and practice at the Vidya Bhawan Teachers' College, Udaipur, which is the only post-graduate teachers' training institution affiliated to the University of Rajputana.

DATA AND PROCEDURE

455 candidates have passed the B. Ed. examination of the University of Rajputana from the Vidya Bhawan Teachers' College, Udaipur since 1950. The results of these candidates in theory and practice have been used for the purpose of finding correlation between their achievement in theory and practice. The percentages of marks obtained in theory and practice by each candidate have been calculated and then the results have been examined.

Out of the 455 candidates who have passed the B. Ed. examination of the University of Rajputana since 1950, 69 have obtained first class marks, 326 have obtained second class marks and 60 have obtained third class marks in practice. Let us see how they have fared in the theory part. Out ef the 69 candidates who obtained first class marks in practices only 4 obtained first class marks in theory also, 49 getting second clas marks and 16 third class marks in it. Out of the 326 candidates who obtained second class marks in practice, only 122 obtained second class marks in theory also, 202 getting third class marks and two first class marks in it. Again, out of the 60 candidates who got third class marks in practice, 46 also got third class marks in theory and only 14 got second class marks in it. Thus it appears at first sight that the students' achievement in practice is on the whole much better than their achievement in theory.

The following scattergram will give an idea of the distribution of marks in theory and practice obtained by 455 B. Ed. candidates and the means calculated from it will give some idea of the extent of the difference in their achievements in theory and practice.

Scores in Practice (Y-variable).	Scores in Theory (X-variable)									
	36-39	40-43	44-47	48-51	52-55	56-59	60-63	64-67	68-71	Frequency Y
68-71										0
64-67		1	1	3	3	1	2			11
60-63			14	16	22	4	1	1		58
56-59	5	7	8	14	8	8	1			51
52-55	9	24	41	28	12	3	2			119
48-51	21	30	56	31	15	3				156
44-47	4	8	9	8	3					32
40-43	5	10	10	2	1					28
36-39										0
Frequency X	44	80	139	102	64	19	6	1	0	455 Total

SUMMARY

Scores in Theory	Mean Scores in Practice for given Class-intervals in Theory.
68-71	...
64-67	61.5
60-63	59.5
56-59	56.8
52-55	55.8
48-51	53.6
44-47	51.6
40-43	50.2
36-39	49.5

Again,

Scores in Practice	Mean Scores in Theory for given class-intervals in Practice.
68-71	...
64-67	52.4
60-63	51.1
56-59	48.7
52-55	46.4
48-51	45.4
44-47	45.2
40-43	43.2
36-39	...

The summary given above definitely proves the general superiority of students' achievement in practice to their achievement in theory.

A better idea of the superiority of students' achievement in practice and the extent of this superiority over that in theory may be had from a comparison of the ogives of the two distributions drawn on the same coordinate axes.

Cumulative Frequencies and Percentages for Scores in Practice.

Scores	Upper limits of Class intervals	Frequencies	Cumulative Frequencies	Cumulative % Frequencies
68-71	71.5	0	455	100
64-67	67.5	11	455	100
60 63	63.5	58	444	88.8
56-59	59.5	51	384	77.2
52-55	55.5	119	335	67.0
48-51	51.5	156	216	43.2
44-47	47.5	32	60	12.0
40-43	43.5	28	28	5.6
36-39	39.5	0	0	0

Cumulative Frequencies and Percentages for Scores in Theory

Scores	Upper limits of Class intervals	Frequencies	Cumulative Frequencies	Cumulative % Frequencies
68-71	71.5	0	455	100
64-67	67.5	1	455	100
60-63	63.5	6	454	90.8
56-59	59.5	19	448	89.6
52-55	55.5	64	429	85.8
48-51	51.5	102	365	73.0
44-47	47.5	139	263	52.6
40-43	43.5	80	124	24.8
36-39	39.5	44	44	8.8

Ogives of the Scores of 455 Teachers in Theory and Practice

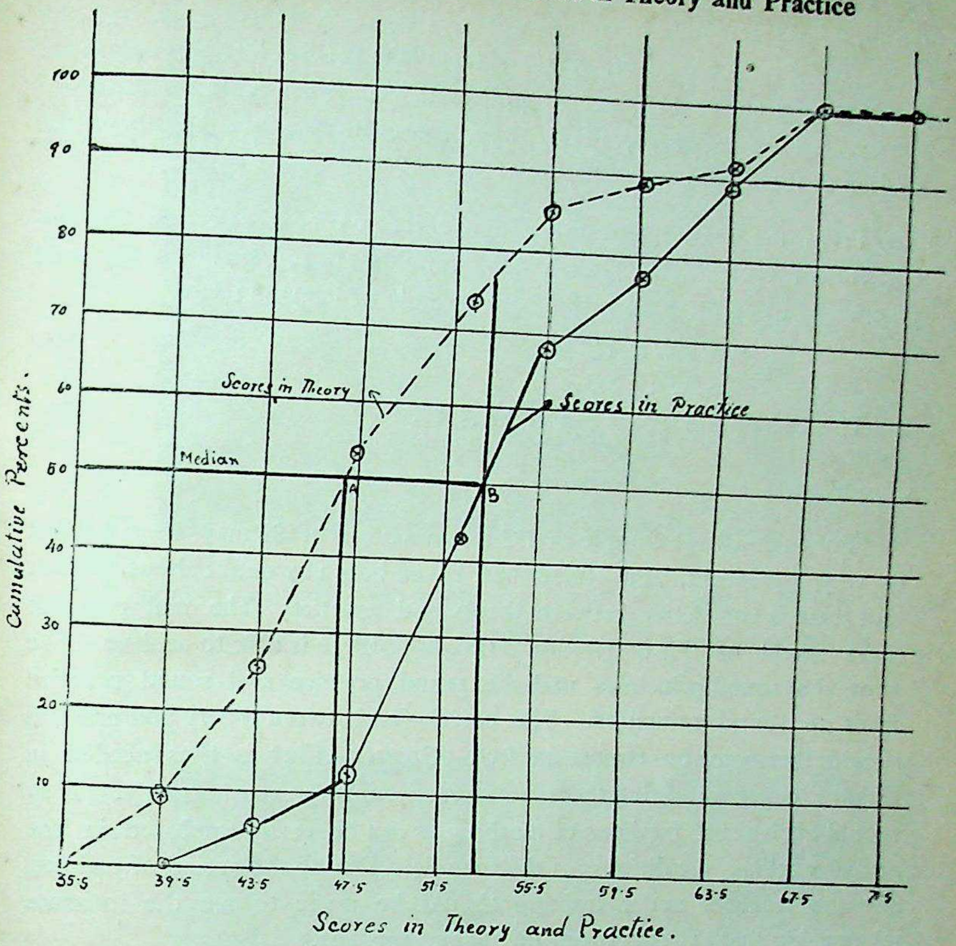

From the graph a few interesting facts emerge. The ogive for practice scores lies to the right of the ogive for theory scores over almost the entire range, showing that the teachers under training have consistently scored higher marks in practice than in theory. The differences between their achievements in theory and practice are shown by the distances separating the two ogives at various levels. It is clear that the differences at the upper extreme—between high scores in theory and practice—are not so great as are the differences over the middle and lower range.

Again the Practice median is approximately 53 and the Theory median about 47. By extending the vertical line through B so that it meets the Theory-ogive, we learn that 76% scores in theory fall below the Practice median. In other words, only 24% scores in theory lie above the Practice-median. Again, from the vertical line through A we find that only about 11% scores in Practice fall below the median of theory. In other words, nearly 89% scores in practice lie above the median of theory.

From the scattergram given above let us now calculate the co-efficient of correlation between 455 candidates' scores in theory and practice by using the product-moment formula of Pearson:

$$r_{xy} = \frac{\Sigma\, x'y' - C_x C_y}{SD_x \;.\; SD_y}$$

This correlation works out to be .39.

Conclusion.

For such a large sample as 455 a correlation of .39 may be regarded as very significant. But there has never been any doubt about the fact that there is correlation between theory and practice, The real problem is the extent of this correlation a training college is able to achieve. We know that sound principles underlie sound practice and sound practice leads to sound principles. The correlation between theory and practice should, therefore, be almost perfect. Greater effort is thus needed in training colleges to bring theory and practice into greater harmony. They should evolve such methods of teaching as can be easily employed in the actual working conditions of the schools. During the period of training also the teachers under training should be made to see the intimate relationship that exists between theory and practice.

There are several reasons why the scores in practice are consistently higher than the scores in theory. Our assessment of teaching efficiency is much more subjective than that of a teacher's knowledge of educational principles. The university results in practice are generally based on internal assessment of the teaching ability of the teachers under training; and there is a tendency in almost all training colleges to pass in practice as many candidates as possible. High marks in practice are often secured by several candidates through personal or other influences.

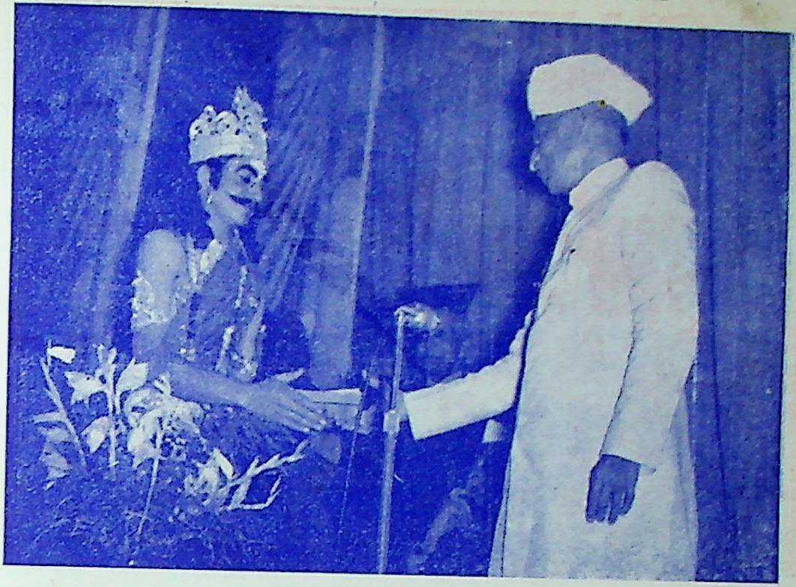

भारत के उप-राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन, बिरला विद्या मन्दिर, नैनीताल के वार्षिक खेल कूद के अवसर पर विद्यार्थियों को पुरस्कार वितरित कर रहे हैं।

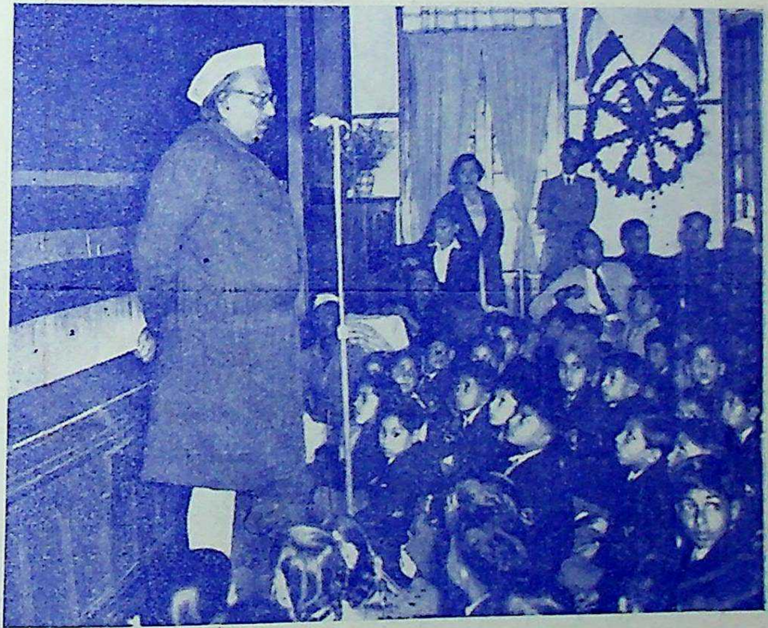

डा० सम्पूर्णानन्द, गृह मंत्री, उत्तर प्रदेश उक्त अवसर पर स्वागत भाषण करते हुये।

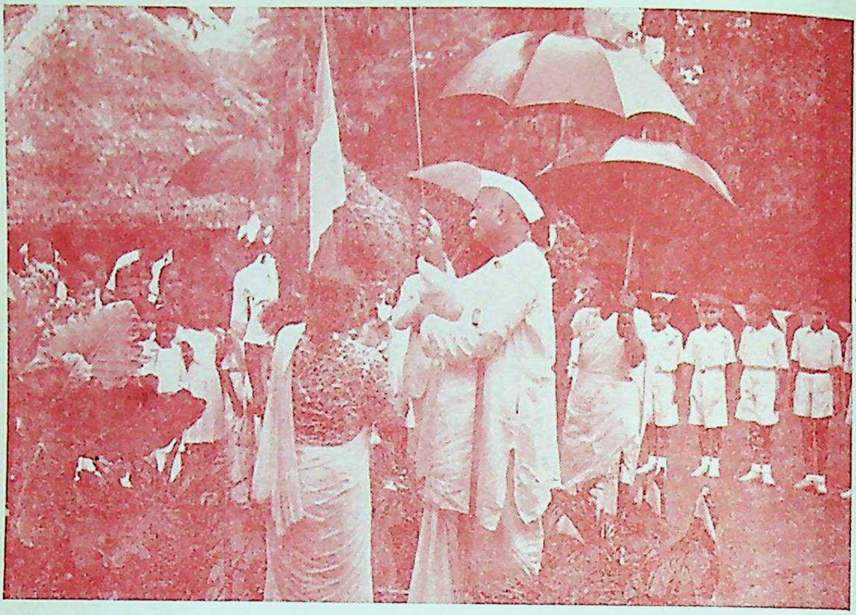

पं० गोविन्द वल्लभ पंत, मुख्य मंत्री, माण्टेसरी स्कूल, लखनऊ में १५ अगस्त, १९५४ को ध्वजारोहण कर रहे हैं।

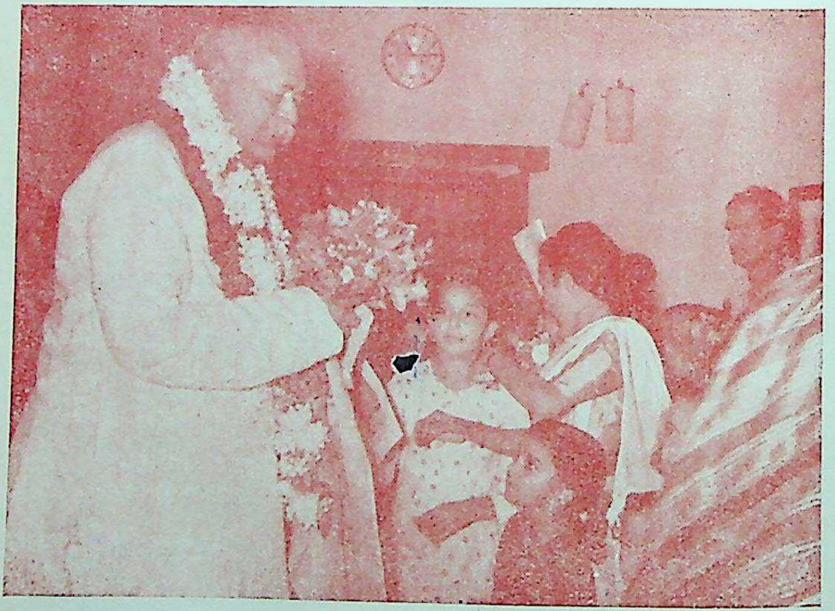

११ सितम्बर, १९५४ को मुख्य मन्त्री के बर्षगांठ के अवसर पर 'बालकन जी बाड़ी' के आयोजन में बालकों ने पण्डित जी का पुष्पमाल से अभिनन्दन किया।

*THE FOLK SCHOOLS OF DENMARK.**

Sri Austin A. D'Souza, M.A., B.T., Dip. Ed. (London).

The Folk Schools of Denmark are, perhaps, the most famous educational experiment of our time—and undoubtedly the most successful. Their world fame has been richly deserved for they have been chiefly responsible for transforming backward, feudal Denmark of the late 18th Century into one of the most modern, progressive and cultured Democracies of our time. The Folk Schools were founded at the beginning of the 19th Century at a time when Denmark most needed them. The peasants had just been politically emancipated from their feudal landlords, but they were like sheep without a shepherd, ignorant, corrupt, bewildered. Nicolai Gruntvig, a philosopher-educationist realised that political freedom would be a menace instead of a boon, unless the peasants were economically, culturally, and spiritually emancipated as well. "A man can be noble," Grundtvig passionately believed, what ever his position in life may be," provided he were given a new type of education that would stir his heart, rouse his imagination, quicken his intelligence, and make him discover his soul. This new education called for a " School for Life." Grundtvig realised this clearly, but it was not till he inflamed a School teacher, Christian Kold with his ideal that it became a practical reality. The first F.S. was started by Kold in North Zealand; it caught immediately; others were started and rapidly gathering momentum the F.S. movement swept all before it; and since then the F.S. has maintained its unquestioned position as the apex and glory of Denmark's system of popular education. There are today 60 F.S. in Denmark with an annual enrolment of thousands, and one or more attendances at them has become a normal part of every Danish Farmer's life.

The students of the F.S. are not, as is sometimes made out a cross section of Denish Society. They are drawn mainly from rural Denmark, and the majority of them are small tenant farmers between the age of 18-25 with a very small admixture of peasant labourers. Attempts have been made, and are being made, by individual F.S. in the vincinity of the large towns to attract townspeople to the schools; but they have not been very successful because of the differences in the outlook and interests of farmers and artisans. Generally only about 25% of the students have had any education beyond elementary stage, but their experience of life, their enthusiasm and their desire for learning compensate for any deficiencies in factual knowledge, and, under skilful management, they can be taught as much in 5 months as the normal Secondary School child learns in one or two years.

---

* Courtesy, A. I. R. Lucknow,

The F.H.S. approaches its students both as individuals and as a members of a social organism which gives it a dual aim—to develop all the potentialities of the students as individuals, and to fit them for membership the community and their nation. F.H.S. aim to give a liberal education not vocational training, to prepare for life not a position in life, to stimulate the intelligence and the emotions not to train the memory, to awaken the desire to learn rather than to teach; in short they aim to arouse in the student the yearning, and to give him the ability to educate himself.

The curriculum is planned with this end in view. The Humanities form its basis, especially the Mother Tongue, History and Literature. The Mother Tongue is taught as a living dynamic thing, through songs, ballads and living conversation and discussion, for the founder of the F.H.S was of the opinion that "The Mother Tongue has its home neither in the brains of scholars nor in the pens of the best writers but in the mouths of the people." National and World history are the nucleus of the course for Grundtvig held that "History as the experience of life on a large scale is not only the best, but the only thing by means of which one can rightly enlighten young people." Both History and Literature, on which also great stress is laid, are taught from the inspirational point of view, not as dull collections of facts but as the inspiring stories of the great men and women of all time which will rouse the students to go out and create their own history. Foreign languages, particularly English and French, Natural Sciences and Civics for the head; and music singing and dancing for the emotions, complete the academic curriculum. Manual work forms the chief component of its "practical" side—every student had to do an hour's manual labour every day for the welfare of the College and the Community, in order to emphasise the dignity of labour and to balance and complete their academic education.

The methods used are those most in confirmity with the abilities and experiences of the individual students. Grundtvig was convinced that "All knowledge which does not find response in the life of the reader is dead," hence he was very much opposed to an excessive dependence on books or mere instruction. The education given at the F.S. aims to use and to build on the previous experience of the students, hence their approach is practical and realistic and linked to life at every point. Methods used are such as will promote joyous activity on the part of the students, to enliven and enlighten together," and will inspire them to never cease learning. Great stress is placed on the personality of the teacher, and on the vitalizing influence he can exert on his pupils by passing on to them his enthusiasm and ideals by living, working and studying with them. Grundtvig himself relied mainly on "the life-giving, stimulating words;" subsequent teachers in the F.S. lacking Grundtvig's force of personality, have come to rely as much on "living conversation," Discussion groups, Study circles, and on more individual methods such as written work and private study. These latter methods are coming more and more into favour, especially at the present day when students are less naive and unsophicated than in the past and consequently less sensitive to "inspiration."

The secret of the tremendous success achieved by the F.S. in the past, and still being achieved in the present, lies in the fact that they are Residential so that education is caught as well as taught; that they are for adults who are at what Grundtvig called "the decisive period of their lives when they can learn quickest and best;" and in their happy community life and fellowship which is, perhaps, the best part of the education they provide. A fourth cause of their success is their truly democratic character. Freedom is the keynote of these schools; not nly is the head independent of Government interference of control, but n the school themselves the relations between the staff and students are ree and easy in the best sense.

There can be no questioning the tremendous influence for good which he F.S. exert on Denmark. Their manifold benefits may be summed up nder the following heads :—individual social, economic, political and oral, and spiritual. Their fact on the individul student is all embracing; is the student as an individual who is in the centre of interest in the hool, and every effort is made to make the school fit his needs and draw ut and develop all his latent potentialities so as to make him a "full an." This primary emphasis on the individual is balanced by as great tress on the individuals's duty of service to the community in the school, and the wider community outside. The lively fraternity and equality existing in the school are the best possible social education that could be given to the student : caught up in the joyous community life he learns to overcome his selfishness, and to work for the good of his fellows and of his country. Economically the F.S. are largely responsible for the economic prosperity and progress of the Denish farmers, and politically they have been of value in elevating them to social and cultural equality and the middle classes in the town and enabling them to challenge the supremacy of the latter in the political field. Great as all these achievements are, yet greater than them has been the spiritual regeneration of the country brought about by the F.S., and the great moral influence they exert on their students up to the present day. The F.S. not only teach valuable thing ; they strengthen the character and for the personality c their students, and set them on the path to an "interpretation of life," a working and workable philosophy of life and work that gives them a *raison d etre*, and an outlook and an attitude that are of immense benefit to them when they return to the work-a-day world. The refreshment of mind and spirit Denish farmers, who have been labouring in the field all summer, received from these schools in winter is difficult to put into words of one enthusiastic student who, after his first experience, remarked "I felt as if I had taken a bath."

Nothing human is perfect, and the F.S. do not claim perfection. They have far from solved all their outstangding problems, and many of their old ideas and traditions are in the melting pot. Among the rural youth they have done and are doing admirable work, but they have done and are doing admirable work, but they have failed to attract the vast new working class youth which finds them too idealistic and completely out of touch with the realities of contemporary urban life in Denmark. Some effort has been made by one or two F.S., especially those at Krogerup and Eshjerg, to adapt their principles, curricula and methods to the needs and interests of towns folk while retaining the F.S. spirit and atmosphere and in order to bring about mingling and understanding between town and country and lessen the steadily widen gap between them but they have not been very successful.

Another serious difficulty facing these schools is that of finding sui able teachers with personalities inspiring enough to realise the original Grundtvigian ideals and objectives, and make a success of the "livi word" and other informal methods. "Nemo dat quid not habet," character makes character, and there are not many men who have the type of character and personality necessary to make F.S. a success. Finally there are economic difficulties ; in spite of generous State help many of these Schools, which are owned by individuals, have a struggle to keep going and many of them convert themselves into hotels in the summer to be able to balance their budgets.

The F.S. of Denmark, then, are not wholly free from defects which limit and circumscribe their usefulness. Their founders and supporters are keenly alive to their deficiencies and valiant efforts are being made to surmount them. Some of these efforts have borne fruit ; other difficulties remain as intractable as ever. What of the future? Will the F.S. survive? Will they grow in usefulness and importance or will they die of old age inanition ? No definite or final answer can be given. One thing is certain —that the F.S. will never die out come what may. They are as rooted in the Denish life and soil as the Public Schools are in England, and, for the country folk at teast they will always have an irresistible appeal and much to offer. No institution however good can be transplanted from one country to another. But if the Folk School idea is translated into Indian ideals and adapted to India's unique rural conditions and needs, we feel it will provide a solution to the problem of finding an education suitable for her vast rural population.

THE SELECTION OF BASIC CRAFT— A PSYCHOLOGICAL APPROACH

Shri M. Khushdil

In the Third Resolution passed at the Wardha National Education Conference (22nd & 23rd Oct. 1937) it is stated, "the central craft (be) chosen with due regard to the environments of the child."

This portion of the Resolution has not been defined ; but ordinarily it may mean one or any combination of the following possibilities.

(i) A common and popular craft of the village to which the child belongs.

(ii) A craft whose raw material could be easily grown or available in the village and its neighbourhood.

(iii) A craft that should not hurt the religious or other traditional or social susceptibilities of the child and his parents for example most of the high caste Hindu children and their parents may object to tanning and shoe-making as basic craft.

(iv) A craft which may be useful to the child and the community from economic point of view.

The question before us is what are the criteria by which a craft or crafts should be selected for inclusion in the basic curriculum ? There are numerous crafts which will compete for inclusion.

The basic curricula, which are functioning at various places, at present, without any exception give first place to spinning and weaving and second to agriculture, although along with these crafts, card board work, carpentary, kitchen work, tailoring, gardening and others have been introduced as subordinate crafts. India is a vast country and it will always remain a problem to select a craft suitable for the child and the community.

Mahatma Gandhi threw some light to solve this problem. He wrote regarding the selection of Basic craft in the 'Harijan' of 4-3-39.

"Experience in such matters would be the best guide. The capacity of various crafts to become popular, their ability to draw out the faculties of the students should be studied. The idea is that whatever craft you choose, it should draw out the faculties of the child fully and equally. It should be a village craft and it should be usefull".*

From Gandhiji's point of view a basic craft stands more chances of selection,

(i) If it has educative value i.e. it is capable to 'draw out the faculties of the child fully and equally'.

(ii) If it is a village craft.

(iii) If it is useful,

Let us see deep what did Gandhiji mean by these qualifications.

(1) Gandhiji wrote in the Harijan of the same date. "The boy under the scheme of basic education does not go to school merely to learn a craft. He goes there to receive his primary education to train his mind through the craft"†

Taking for granted that the craft should be selected which can draw out the faculties of the child most ; what is the criterion that a particular craft say 'spinning and weaving' will draw out more and pottery for example will draw out less? You can not measure the relative educative richness of the two crafts because it depends more upon the capacity of the teacher who teaches and the capacity of the learner who learns the craft rather than on the craft itself. One teacher can draw out the faculties of the learner by means of clay work as the basic craft and the other can draw out by means of spinning as a basic craft. It is almost impossible to decide the selection of a basic craft on its educative value, because it depends upon the teacher, its training, its natural interest, intelligence and resource-fulness on the one hand and the native interest of the child on the other. So this criterion of Mahatma Gandhi cannot be used for the selection of basic craft.

(2) The second criterion of Gandhiji is that it should be a village craft. It is true that if there is a village of weavers, spinning and weaving

---

*Basic Education, Nav Jiwan Publishing House, Ahmedabad, May 1951 p. 78.

†Ibid.

can be used as the basic craft. If most of the people of village are agriculturists the basic craft may be agriculture". But what would be the craft if half the population of the village is that of weavers and half that of agriculturists? There would be competition between the two and we cannot adopt one and leave the other by tossing a coin. There must be some sound principle to select one.

(3) The third criterian which Gandhiji advocates is the "usefulness of the craft". 'Usefulness is a broad term, but often it is used in the economic sense. So most probably Gandhiji meant that "craft" which is useful to the community, to the school and to the child in the economic sense; in other words, the parents of the child, the teachers of the school and the child himself may be able to draw benefit out of his labours by working over the craft. The child while learning the craft may be able to assist his parents at home, to produce so much in the class room as to make the education self-supporting, to earn so much after his school studies as to become economically productive and self-sufficient unit. If by learning a craft the child develops as such that craft is 'useful'.

From economic point of view, there may be certain crafts which may be preferred to others. But the question arises whether it would be useful from the point of view of Psychology to select the craft purely from economic stand point?

It is no denying of the fact that the sensible selection of a suitable basic craft is the primary requisite to make the scheme of basic education a success. In our opinion the economic consideration should not be the guiding factor in chosing the central craft. The psychological needs, interests and activities of the child should determine the type of basic craft chosen. The child is to be taught through the medium of basic craft. It should be that which the child is naturally fond of. Economic considerations should be secondary ones.

Mahatma Gandhi wrote in the 'Harijan' of 6.4.40.

"We can teach our children to make clay toys that are to be destroyed afterwards. That too will develop their intellect. But it will neglect a very important moral principle viz, that human labour and material should never be used in a wasteful or unproductive way"*

---

* Basic Education

Here we do not agree with Gandhiji because he is using the activity of construction and destruction of the child from the adult's point of view and not from the child's point of view. The child is happy when he makes a house by putting sand over his feet. He is happy because he has created a new configration by his efforts. But when he destroys it by throwing a piece of stone, he is also happy. He sees the pattern changing. It is instinctive and natural to him. It is his birth right to build the patterns and to see them changing. Calling it destruction is cruel and talking of "neglect of moral principle" is uncalled for at his stage of his development.

The child at a particular stage of growth, when he will begin to differentiate between the two patterns will not destroy any thing. He will carry on constructive activities and at this level economic use of his activities can be made. We can quote the example of Japan. The beautiful toys of Japan are mostly made by the school children. Government purchase them and market them. The child, community, school and government, all gain by the handicraft of toy making.

So the fundamental blunder, which has been committed in the execution of the basic scheme is its undue stress on 'spinning and weaving' as the basic craft and the conception that to produce is moral and to destroy is immoral, to work is moral and to play is immoral without any consideration of the age, nature, needs and stage of development of the child.

Sufficient exploration and searching is required to find out the suitable occupation and activities to draw out the faculties and capacities of the child 'fully and equally'.

We suggest here some of the basic crafts which are definitely more psychological than those which are usually practiced in Basic schools at present from child's point of view. They are as follows :—

1, Paper Work :

The processes of folding, tearing, squeezing, crushing, modelling, cutting, pasting and colouring of the paper may be taught to the child. Flowers, garlands, numerous type of paper toys and other usuful things can be prepared by manipulating the paper in the ways mentioned above.

Paper work is an excellent medium for expressional work and the subjects which are other wise lacking in interest, become interesting under the influence of this congenial and absorbing occupation. Tools are not required, the little hands being all that are necessary for many of the processes. The number and variety of beautiful and attractive forms into which a piece of paper can be folded torn or crushed is infinite. The extent to which neatness, precision and originality can be developed is unlimited. In cutting and pasting baby scissors may be safely tried. Coloured hand-bills from theatres and cinemas which every child even in an outlying village has chances to collect in plenty can be put to very advantageous use.

This craft in senior classes can be transformed into card board work, leather work and wood work, when a child is mature to use a variety of tools safely. The syllabii of these crafts can be constructed without any difficulty.

2. Clay Work :

Children like to play with sand, clay pebbles and wooden pieces. They are naturally interested in such materials. To start with, the child is allowed to play and make acquaintance with these materials. Wet sea sand is the best material for the infants to play with. Then clay, pebbles, bricks or wooden pieces may be introduced.

Potter's clay is available in all places. Slates can be used as trays to keep the clay on, during the process of modelling The models made can be dried, burnt and painted. Clay modelling is the best form of art that can be taught in schools. It is superior to drawing. It is the most primitive art. In trying to express what is seen, children learn to perceive more accurately and to form correct concepts.

In senior classes it may be developed into masonry work. The architectural sense awakened in building houses, bridges, towers etc., out of the wooden blocks and clay will go a long way to help the children in their masonry work in upper classes.

In senior grades, the children can build small huts and rooms with the help of the staff. White washing and repairing of the school yearly or half yearly can be taken as a project by the children of a senior class.

This craft can also be practised in the homes. Later on, these children who build a house, a school room or a community building in their village, will build the nation and world at large.

Clay work at elementary stage and masonary at senior stage can prove very good medium of instruction.

3. Domestic Crafts:

Various crafts as needle work, laundry work, brooms, duster and brush making, weaving thing by means palmyra, cocoanut leaves, straw and other grasses can be very useful crafts in elementary classes from the psychological point of view.

In senior classes, tailoring, kitchen work, mat-weaving etc., can be introduced as related crafts.

4, Cotton Work:

The waste cotton, rags and paper can be used in making numerous forms and shapes to the great delight of the child. Toys of various kinds can be produced from pressing, pasting, rolling and colouring the cotton and paper. This handicraft · can be developed into spinning and weaving in senior grades.

The crafts suggested above require very few and simple tools to carry on at elementary stages. Materials employed are cheap, common and easily available. Both materials and tools are such that can easily be handled and worked by the youngs; The work done in school may be continued at homes and lastly they also afford a very effective medium of education.

The various crafts that we have mentioned to be included in the basic curriculum are suggestive in nature. They are not exhaustive. But they are psychological from child's point of view.

We have given spinning weaving last place in our choice of basic crafts, not because the profession of weavers is already very crowded and machine made cloth is fine, durable, cheap and available, not because import in cotton clothes from other countries has greatly been reduced, not because the prestige of spinning wheel has been greatly dimnished at the advent of political freedom but wholly from psychological point of view. Spining is a dull affair for the elementary school child. The same process is repeated again and again. The child sees the same pattern repeatedly. It is a sedentary occupation. The child does not like to sit at one place and spin. It does not give him the same creative joy which he finds in 'paper work' 'clay work' building things from wooden blocks and masonary work. The crafts which require sitting at side lines are not conducive to child's health; how can they develop the whole child?

TEST RELIABIITY BY ANALYSIS OF VARIANCE

By S. N. Mehrotra, M.A., B.Ed. (Edin)

Among the many and varied applications of the principle and technique of analysis of variance in educational and psychological research, one of the most useful in recent years has been a logical understanding of the concept of test reliability and its estimation by the analysis-of-variance technique. 'Reliability' is now primarily conceived as the ratio of the true variance to the total variance—that is, in sample terms, as freedom from error—rather than as the amount of agreement between two successive tests which might more appropriately be termed 'consistency'. The logical and operational concepts of reliability need not always coincide, but when adequate conditions are preserved, the two modes of measurement tend to be identical.

No attempt will be made in this paper to describe the background material necessary to a thorough understanding of the analysis-of-variance technique. Rather, actual results from a test will be used to illustrate how the procedure is carried out.

A verbal group test of intelligence for 13 year old children reading in the higher secondary schools of the state was constructed by the Bureau of Psychology, Uttar Pradesh, Allahabad, and standardised on a representative sample of 995 students drawn from all over the state. For estimating the reliability of this test a miniature random sample of 100 students, every tenth out of 995, was choosen. It is with the performance of this miniature random sample of 100 students* on an intelligence test consisting of 100 items that the procedure of calculating the test reliability with the technique of analysis of variance will be illustrated here.†

---

*I am grateful to the Director, Bureau Of Psychology, for kindly permitting me to make use of the test scripts.

†The mean, standard deviation, and distribution of scores of the miniature sample were compared with those of the total sample, and found not to differ significantly.

PROCEDURE

The procedure follows in step-by-step form:

Step 1. **Arrange the Test Papers in Descending Order.** The paper having the highest total score should be placed on the top. The paper with the lowest score will be on the bottom.

Step 2. **Construct a Student-item Chart** (see Table 1). The numbers across the top relate to the individual test items (there were 100 items in this test). The numbers in the left-hand column relate to the test scores of students who took the test (100), with the highest score on the top.

For each student check the items which he marked correctly. For example, student 1 marked 88 items out of 100 correctly, student 2 did 78, student 3 did 74 and so on. Students 98 and 99 did not mark correctly any of the test items chosen for illustration (Table 1), and hence no checks have been put. Thus a graphic presentation of the test results is provided by the student-item chart.

Step 3. **Add the Individual Columns and Rows.** These are labelled t_i and p_i (see Table 1), Add the column t_i and row p_i. Identical results should be found for each addition (in this example, 2,942). This figure is labelled

$$\Sigma\, t_i \text{ and } \Sigma\, p_i \; (\Sigma = \text{Summation}).$$

TABLE 1

Tabulation of items answered correctly by each student

(STUDENT—ITEM CHART)

ITEMS

Students

...	1	2	3	...	48	49	50	51	52	...	98	99	100	...	t_i	...	t_i^2
1	×	×	×		×	×	×	×	×		×	×	×	...	88	...	7744
2	×	×	×		×	×	×	×			×	×	×	...	78	...	6084
3	×				×	×	×	×	×					...	74	...	5476
...														...	...	..	...
...														...	...	..	...
...														...	...	...	...
...														...	...	..	...
...														...	...	...	...
50	×	×						×	×					...	25	...	625
...														...	...	...	...
...														...	...	...	...
...														...	...	..	...
...														...	...	...	...
...														...	...	...	...
98														...	3	...	9
99														...	2	...	4
100	×													...	2	..	4
..														...	Σt_i	...	Σt^2
p_i	71	57	47		22	27	25	28	28		13	8	10	Σp_i	2942	...	125,153
p_i^2	5041	3249	2209		484	729	625	784	784		169	64	100	Σp_i^2	...	108,696	...

Step 4. Squ re Each t_i and p_i Value. The results are posted in column t_i^2 and row p_i^2. Add the column and the row separately. The totals are labelled Σt_i^2 (125, 153) and Σp_i^2 (108, 696).

Step 5. *Construct a Variance Table.* The pattern of the variance table and the formulas for determining the necessary data are given in Fig. 1. (k = number of individuals ; n = number of items).

Source of Variance	Degrees of Freedom — df	Sum of Squares	Mean of Squares	F	Hypothesis tested
Between individuals.	$k - 1$	$\frac{1}{n}\Sigma t_i^2 - \frac{(\Sigma t_i)^2}{nk}$	$\frac{\text{Sum of Squares}}{df}$ (a)	a c	
Between items	$n - 1$	$\frac{1}{k}\Sigma p_i^2 - \frac{(\Sigma t_i)^2}{nk}$	$\frac{\text{Sum of Squares}}{df}$ (b)	b c	
Residual	$(n - 1)(k - 1)$	Total—(between individuals+between items)	$\frac{\text{Sum of Squares}}{df}$ (c)		
Total	$nk - 1$	$\frac{(\Sigma t_i)(nk - \Sigma t_i)}{nk}$			

Fig. 1. An analysis of variance table with the formulas for computing the values under each heading.

By substituting in the formulas in Fig. 1 and using the results of the intelligence test, the following results are forthcoming :

Degrees of freedom between individuals $= k - 1$
$= 100 - 1$
$= 99$

Degrees of freedom between items $= n - 1$
$= 100 - 1$
$= 99$

Residual $= (n - 1)(k - 1)$

$$= (100-1)\,(100-1)$$
$$= 99 \times 99$$
$$= 9801$$

Total degrees of freedom

$$= nk - 1$$
$$= (100 \times 100) - 1$$
$$= 9999$$

Sum of Squares between individuals

$$= \frac{1}{n}\Sigma t_i^2 \; \frac{(\Sigma t_i)^2}{nk}$$
$$= \frac{1}{100} \times 125153 - \frac{(2942)^2}{100 \times 100}$$
$$= 385{\cdot}9936$$

Sum of Squares between items

$$= \frac{1}{k}\Sigma p_i^2 - \frac{\Sigma (t_i)^2}{nk}$$
$$= \frac{1}{100} \times 108696 - \frac{2942)^2}{100 \times 100}$$
$$= 221{\cdot}4236$$

Total Sum of Squares

$$= \frac{(\Sigma t_i)\,(nk - \Sigma t_i)}{nk}$$
$$= \frac{2942\,(100 \times 100 - 2942)}{100 \times 100}$$
$$= 2076{\cdot}4636$$

Residual Sum of Squares

$$= \text{Total} - (\text{between items} + \text{between individuals})$$
$$= 2076{\cdot}4636 - (385{\cdot}9936 + 221{\cdot}4236)$$
$$= 1469{\cdot}0464$$

The mean-of-squares column is now computed by dividing each sum of square by its degree of freedom :

Mean square for individuals $= 385{\cdot}9936/99 = 3{\cdot}8989$

Mean square for items $= 221{\cdot}4236/99 = 2{\cdot}2366$

Residual $= 1469{\cdot}0464/99 \times 99 = {\cdot}1498$

The F column is computed by dividing the mean square by the mean square residual as follows :

$$F_a = \frac{a}{c} = \frac{3{\cdot}8989}{{\cdot}1498} = 26{\cdot}027 \qquad F_b = \frac{b}{c} = \frac{2{\cdot}2366}{{\cdot}1498} = 14{\cdot}9305$$

By substituting the several results the variance table can now be completed (See Fig. 2).

Source of Variance	*df.*	Sum of Squares	Mean of Squares	F
Between individuals ...	99	385·9936	3·8989 (a)	26·027
Between items ...	99	221·4236	2·2366 (b)	14·9305
Residual ...	98·01	1469·0464	·1498 (c)	...
Total ...	9999	...	...	...

Fig. 2.—The analysis-of-variance table with computed values.

The significance of the test results is determined by using the figures in F_a and F_b. If these values are sufficiently high, it is assumed that the test is sufficiently reliable. The comparison figure may be found by referring to a table of F values in a statistics text, e.g., ‘Lindquist: Statistical Analysis in Educational Research. Using the examples of Fig. 2 (with 99 and 9801 degrees of freedom), the F value in the table is found to be 1·36. In this case the F values (26·027 and 14·9305) are much greater than 1·36, and hence we can assume that the test is significant.

Step 6. *Compute the Reliability Co-efficient for the Test.* An estimation of the reliability co-efficient of the test can be obtained by using the following formula due to Hoyt :

$$r_{tt} = \frac{a - c}{a} = \frac{3{\cdot}8989 - {\cdot}1498}{3{\cdot}8989} = 0{\cdot}9616$$

Reliability compared :

The test reliability estimated by analysis of variance may now be compared with those obtained by other methods.

The Kuder-Richardson Estimate of Reliability : Like the method of analysis of variance, the Kuder-Richardson formulas for estimating r_{tt} depend upon time statistics. They are based on the assumption that items are of equal, or nearly equal, difficulty and intercorrelation. The most accurate of the practical Kuder-Richardson formulas is :

$$r_{tt} = \left(\frac{n-1}{n}\right) \left(\frac{\sigma_t^2 - \Sigma pq}{\sigma_t^2}\right)$$

where n = number of items in the test
p = proportion passing on item
$q = 1 - p$

It may be pointed out here that the numerator term $(\sigma_t^2 - \Sigma pq)$ is the sum of the covariance terms in the summation of item variances and co-variances used to express the total test variance. The expression Σpq is the sum of the variances of all items. Deducting this quantity from the total test variance, we have left the sum of the co-variances. It is in these co-variances that the source of *true* variance lies. The ratio of this quantity $(\sigma_t^2 - \Sigma pq)$ to the total test variance thus satisfies the basic definition of given in the very first paragraph of this paper. The factor $\frac{n}{n-1}$ is a minor correction that takes into account the item reliabilities.

An approximation formula for the Kuder-Richardson reliability that is much less demanding of information and expressed in more familiar symbols is :

$$r_{tt} = \frac{n\sigma_t^2 - M(n-M)}{(n-1)\,\sigma_t^2}$$

where n = number of items in the test
M = Mean of raw scores (Total sample)
t = Standard deviation of Scores (Total sample)

The mean of raw scores based on 995 cases for this test was 28·96 and standard deviation, 19·8 .

Substituting these values we get :

$$r_{tt} = \frac{100 \times (19{\cdot}8)^2 - 28{\cdot}96\,(100 - 28{\cdot}96)}{99 \times (19{\cdot}8)^2}$$

$$= {\cdot}9575$$

The result is, it will be noted, in very close conformity with that obtained by the analysis of variance technique.

Reliability by the Split-half method :

The reliability of this intelligence test was calculated also by the Split-half (odd-even) method based on the miniature representative random sample of 100 test scripts, the same sample on which the analysis-of-variance technique has been applied. It was found to be ·9366. This is actually the sub-correlation of a half-test which may be denoted by r_{hh}. Then, the reliability of the total test estimated from reliability of one of its halves by the Spearman-Brown Prophecy Formula is :

$$r_{tt} = \frac{2r_{hh}}{1 + r_{hh}}$$

$$= \frac{2 \times {\cdot}9366}{1 + {\cdot}9366}$$

$$= {\cdot}9672\ .$$

This estimation, it may be noted, is again in close conformity with those obtained by the Kuder-Richardson formula and the analysis-of-variance technique.

Conclusion :

The reader already familiar with test construction and item-analysis must have seen that the analysis-of-variance technique for the estimation of test reliability merely involves a convenient extension of the item-analysis chart for calculating Σt_i^2 and Σp_i^2. This is easily done with the help of Barlow's Tables, and if a calculating machine is available, the summation is a job of few minutes only. Thus, the reliability of a test may be estimated by analysis of variance straight from its item-analysis, and it will be found to be nearly the same as obtained by other longer methods.

References :

1. Fisher, R. A. (1948) Statistical Methods for Research Workers. Edinburgh: Oliver and Boyd. Ch. VII, pp. 211-247.
2. Lindquist, E. F. (1940) Statistical Analysis in Educational Research. New York: Houghton Mifflin. Ch. III pp. 62-65 and Ch. V. pp. 87-179.
3. Mc Nemar, Q, (1949) Psychological Statistics. New York: Wiley. Chs. 13 and 14, pp. 234-317.
4. Guilford, J. P. (1950) Fundamental Statistics in Psychology and Educationt. New York: Mc Graw-Hill. Ch. 17 pp 473-511.
5. Micheels, W. J. & Karnes, M. R (1950) Measuring Educational Achievement. New York: Mc Graw-Hill. Ch. 16, pp. 472 476
6. Burt, C. (1945) "The Reliability of Teachers' Assessment of Their Pupils". Br. J. Ednal, Psychol, Vol. XV, Part II, pp. 80-92.
7. Hoyt, C. T. (1941) "Test Reliability Estimated by Analysis of Variance". Psychometrika, 6: pp. 153-163, (June 1941).
8. Gulliksen, H. (1950) Theory of Mental Tests. New York: Wiley Chs. 15, 16 & 17, pp. 193-243.
9. Cronbach, L. J. and Varrington, W. F. (1951) "Time-Limit Tests: Estimating Their Reliability and Degree of Speeding". Psychometrika, Volume Sixteen, Number Two, June 1951.
10. Ferguson, G. A. (1947) "The Reliability of Mental Tests", London, University of London Press. Formula (29) p. 31.

REORIENTATION OF THE OBJECTIVES THE STUDY OF ENGLISH

Shri C. P. Tandon

The syllabus in English at present in vogue at our schools is based on the view of language as "speech". It is extremely ambitious in its objectives and looks upon a comprehensive mastery of all the four fundamental linguistic abilities as its aim. Indeed, it regards the acquisition by the foreign learner of the spontaneous case that characterises the use of his mother tongue by the native speaker as the only worthy end of all foreign language study. And it is grounded in the conviction that proficiency in speech is the shortest road to competence in all the rest of language arts and, therefore, cherishes the 'modified' direct method as the method which yields the best results and is most readily conducive to the realisation of the afore mentioned aim.

This view of language, these objectives of the study of English and this method as a means to their achievement have had a long and wide trial in our state and although as deliberate and scientific survey of our achievements in the study of English has been made to enable us to determine, with any measure of certainty, either the success of the method or the correctness of our objectives, the reports of the examiners of the State Board of Education and the Public Service Commission, the experiences of teachers, the pronouncements of the University Departments of English and the lamentations of the employers, all bear eloquent and painful testimony to the utter failure of our schools despite their long and unabashed emphasis on English to give to our students even a single competence in, let alone any very comprehensive mastery of English as a foreign tongue.

Were this failure a in accident of our history, it could justifiably dub all thought of review and reform as cross educational iconoclasm and call for am attempt, instead, to set our house in order, so as to release the forces that might lie choked up in the organisational lumber of our schools, direct them to the frustrating centres of resistance and so give to the objective and the method mentioned above a fair chance to justify themselves. But on a close view it is seen to in here in the psychology of foreign language learning[1] no less than it is consequent on the conditions obtaining in our educational institutions viz., the low teacher-pupil ratio, the ill-selected and ill-assorted classes of learners of English, the extremely limited 'contact hours', the almost complete absence of audio-visual aids found so useful in foreign language study and the utter lack in the case of the bulk of our Junior High School students of any very strong motivation for the study of English. Even our ability to redress these latter, therefore, would not warrant the acquisition, by the rank and file of our students, of that coveted mastery over English which would be the envy even of the native learner. But it is problematical in the extreme of with the increasing need for deficit financing, with the growing stress in the state on works of development among which education is denied inclusion, with the seventh place accorded to education in the list of high priorities[2] and with the ever louder demand for all-round economy in administrative expenditure, we would ever be in a position to command the circumstances necessary to put in the field the type of teacher considered to be the *sine qua non* of success in a programme of work based on the "speech" approach as the "open sesame" to the treasures of comprehensive linguistic proficiency. Witness for instance, the compendium of qualifications set down by the I. A. A. M. England as the minimum essential to teachers of modern foreign languages[3] :—

A. General qualifications—a university degree (plus the usual qualifications).

B. Special qualifications.

1. A good pronounciation and intonation.
2. A fluent, idiomatic and reasonably accurate command of the spoken and written language.
3. A knowledge of phonetics.... to enable him to teach a good pronunciation, to diagnose faults and to take the most effective measures to correct them.
4. A sound knowledge of the structure of the contemporary language together with a grasp of comparative and historical grammar sufficient for the presentation of his language in relation to other languages.

5. An acquaintance with the history, civilisation and culture of the people whose language he will teach.

6. A knowledge of literature as well as the technique of criticism.

7. A talent for dramatisation and a temperament not averse to a little exhibitionism in the cause of language instruction.

To which, as if it were not awesome enough already, the International Seminar[4], held in Columbo, in which forty experts from eight member states of the Unesco participated, added the following :—

(a) Teachers of modern languages should be given all possible facitities for travel in the countries whose languages they teach.

(b) Teachers of modern languages should, at all levels, be highly trained specialists and should have the opportunity for travel before entering upon the profession and at intervals during their careers.

Now, this type of teacher and the conditions of work, thrown into relief as necessary to the successful achievement of the spoken mastery of a foreign language by the A. S. T. P. in America[5] during the war, have been widely admitted to be beyond the financial competence even of the richest of the states in the world[6]. It is no inconcievable therefore, that a state which finds itself constrained to slash even the inconsiderable Rs. 45 per capita expense in education, may never, in the foreseeable future be able to make them available to our educational institutions.

Even were it otherwise and even if the objectives under reference were psychologically achievable, it would still be un-necessary, as well as undesirable, to continue, as heretofore, in the pursuit of an elusive and deleterious ideal, for, as the University Education Commission, conscious almost to a fault, of the services rendered to us by English, observes, we developed in-consequence of our close devotion to English, not only as individuals, but as a nation, "a split consciousness", the despicable "Babu mind", "impoverished ourselves, without being able to enrich the language we so asseduously studied", and in the process, incurred "a double loss intellectual and social", for it affected, on the one hand, "originality of thought and development of literature in the mother tongue", and on the other, "divided our people into two nations, the few who govern and the many who are governed, the one unable to talk the language of the other and mutually un-prehending." All which, the Commission adds in disgust, is "a negation of democracy."[7]

The commission is not, however, unmindful of our need of English and stresses that it must continue to be studied, though for objectives in sharp contrast to those we still cherish in this state. English, the Commission reminds us, is "a language rich in literature, humanistic, scientific and technical'. Therefore, "our students who are under-going training at schools which will admit them either to a University or to a vocation, must acquire sufficient mastery of English to give them access to the treasures of knowledge, and in the University no student should be allowed to take a degree who does not acquire ability to read with facility and understanding works of English authors." The Commission therefore, recommends that "English be studied in High Schools and in the Universities in order that we may keep in touch with the living stream of ever-growing knowledge" and in order to *help our "pupils at the Higher Secondary and University stage" "to acquire the ability to read books in English."*[8].

And this from K. G. Saiyidain, in one of his lectures given at the King's College, London :—

"......... its (British regime's) use of English as the sole medium of instruction had widened the gulf between the masses and the educated classes and had caused a tremendous wastage of potential creative talent of which the extent was rarely appreciated abroad."

All this makes it clear beyond the possibility of doubt that it will not at all be in consonance with educational wisdom to persist in the persuit of an objective which has not only led to a deadening frustration in the past and to an incalculable loss of youthful effort with all it rich possibilities, but is also seen to be psychologically impossible of achievement[9], financially beyond the competence of our state, educationally un-necessary, socially un-desirable and intellectually paralysing.

A re-thinking of the entire problem of the teaching of English will thus be seen to be an imperative necessity. It is the conviction of the writer that a re-orientation, both of the objectives of the study of English at the Junior High School stage and of the method of approach to them, is urgently called for, that if we would but hearken to the voice of realism which speaks in accents so clear and insistent, we would feel called upon to relate our aims in the study of English to our needs as they have emerged, not only from the recognition of Hindi as the language of the state and the nation, but also from the deliberations of the University and Secondary Commissions and the host of competent witnesses that appeared before them.

It is just such a reorientation that the syllabus as suggested in the following pages attempts. It takes note of the reasons for the failure of the current courses in English to fulfil their purpose and the change in the position of English consequent on our recent history. It accepts a deliberately limited objective, recognised by informed educational opinion in the land to be the paramount need of our pupils in respect of English as a rich foreign language which "will continue to be our principal means of maintaining contact with the outside world" [10]. It sets itself a task that would be perfectly amenable to achievement under the circumstances obtaining in our state and in the time that would be at the disposal of our students under the new scheme of Re-orientation [11], a task, without which would be perfectly within the competence of the teachers we would be able to put to the job. And it is the faith of the writer that given a fair trial, the graded scheme of work it envisages would half re-claim the study of English from the wilds of wasteful effort and put it safely on the road to a fruitful and effective, though limited, competence.

Some of the salient features of this programme of work may be briefly stated as under :—

1. It places its emphasis on the cultivation of reading skills with a view to giving the Junior High School students of English at least one ability which they would be competent to use, instead of a more numerous assortment of pseudo-abilities which represent no competence whatever. The more extensive repertoira may be made available to those who choose to undertake advanced courses at the College or University [12]. In this it has the blessings of the Norwood Committee also which observes: "If pupils who will go on to read modern languages at a University are dis-regarded, the great majority of the remainder can use a modern language (English, in this instance) learnt at school either as a tool in their further study of

other subjects or for pleasure or not at all."[13]. The needs of this majority must be honoured.

2. It curtails oral work to the harest minimum without impairing the essential factors of oral competence, for it does not forget that some, at least, of the Junior High School students of the day would undertake an advanced study of English at subsequent stages.

In this reducing the emphasis on oral work, it only accepts the logic of facts as experienced in our schools, to wit, the omnibus classes, the extremely low qualifications of the teachers of English, their utter lack of phonetic training, the absolute certainty that they would never once in their lives will have the opportunity to spend even a brief vacation in the midst of English speaking people, and takes cognisance of the oft-repeated charge against the Direct Method that it makes the learning of a foreign language more difficult than it need be, so much so that "only the clever child can profit by it."[14] But it takes care not to damage in any manner, whatsoever, the essential elements of oral competence, retains the oral-aural basis of pronunciation drill and gives to practice in oral reading a place of no small importance. Also, it will have nothing to do with the non-oral method of teaching reading as seemed to be contemplated by Dr. West[15] in the earlier years of his advocacy of proficiency in reading as the most profitable aspect of the study of English in India.

3. It looks upon grammar as "the anatonomy of language" and regards with disapprobation the grammatical irrelevancies[16] that still clog the courses in English and not un-often lure the un-wary teacher into a seemingly learned expatiation on the features of English it no longer possesses. It cuts them out without compunction and provides for the teaching only of the essentials of English grammar, thus ensuring an economy both of the time and the energy of the learner.

4. It notes with concern the increasing deterioration in the quality of the hand written by our students and considers a reorientation of work in writing as of equal importance with the rest of the elements in the syllabus.

5. It recognises the importance of the essential patterns[17] of English as the foundation on which alone the super-structure of all linguistic

abilities can be securely raised and, therefore, specifically provides for a progressive mastery of the same all through the three year English course of the Junior High School.

6. It is conversant with the air of artificiality that generally comes to surround all oral preparation for composition in the class, is borne down by its depressing futility, seeks to put all effort at composing as close to real life situations as possible, and to this end, substitutes reading for oral work as a help to the student in his exercise in self-expression.

7. And finally, it provides for intensive work in the development of comprehension abilities through the medium of Hindi. This is partly a demand of the realism it accepts as its guide at all stages. Teachers of English would not be un-aware of the vitiation of all work in comprehension by the frequent failure of the student to find the necessary words, determine the necessary pattern into which to cast has thought, and muster the necessary courage to speak out an answer about the formal accuracy of which he is not reasonably certain. One is, therefore, envariably forced to rest content with comprehension work of a very shallow sort in order to maintain some shew of progress in his work. To eliminate this cramping handicap and give to the student an unfattered chance to develop the vigour and scope of his comprehension, the proposed syllabus accepts resort to the mother tongue as a certain guarantee that he will march with unfaltering steps to the mastery of the one competence it takes as its aim.

But although the suggested syllabus is thus seen to differ from the current one in respects both fundamental and ancillary, it neither contemplates any violence to nor rejects the principle of fusion which forms the bed-rock of the Direct Method[18] and the widely accepted view that language is primarily "speech", for "speech" in this in this context only means "a means of communication both in its oral and written forms"[19], as distinguished from language as "code" which stands for "the set of linguistic conventions embodied in the English dictionary and the most complete English grammar ever written or conceived."[20] It only stresses the written and keeps the oral aspect in back ground, an incidence of emphasis completely permissible to learners and planners, as "one whose sole aim is to be proficient in reading the foreign and un-familiar language need not do all the things that must be done by those whose aim is to acquire the language in all of its aspects."[21]

REFERENCES

1. (a) "Psychologically, the oral—aural approach fails to differentiate between the mental equipment and ability of an adult learning a foreign language and a child learning his mother tongue. Pie phrases the objection succinctly : "The fallacy..... lies precisely in the fact that they ignore the mental gap between a child and an adult. their respective equipment of memory and coordination abilities, the different functions that the two have to play in their respective environments. The child is learning not merely words but concepts, the adult (foreign learner) already has his concepts formed."

Pargment.—On learning a Foreign Language :

(b) "The longer any child was under the influence of its native tongue, the more difficult it would be to grow naturally into the modes of expression and the contents of ideas of a foreign language."

Hans, Dr. N.—Comparative Education, p. 40 :

(c) "In learning our own language we begin young, and give our whole time to it. Our minds are perfect blanks, and we come to it with all our faculties fresh and un-worn. The fact, too, that we generally learn new words and new ideas simultaneously, and that the word is often the key to the idea, gives a peculiar vividness and interest to the process of word-learning." With the child learning a second language this is not a case. "In learning the new language, he has, as it were, to try to unlearn the other language, to struggle continuously against the formidable difficulties caused by cross-associations. When he tries to pronounce a new sound, his tongue tends to slip back into the position for forming the nearest native sound. So also with word-order, grammatical construction generally, and the whole fabric of language."

Sweet—The Practical Study of Languages, pp. 75-76.

2. Minister of Education, U.P., in his address to the Educational Officers Association at the G.I.C., Allahabad. Feb., 1954.

3. Memorandum on the Teaching of Modern Languages : Incorporated Association of Assistant Masters, England.

4. International Seminar on the Teaching of Modern Languages, Schoolmaster, Nov., 1953.

5. See Appendix 'A.'

6. "The Army Method, if such it can be called, is much too expensive to be taken over by the public schools........."

Douglas, H. R.,—The High School Curriculum.

7. The University Education Commission Report, p. 316.

8. Ibid, p. 325.

9. At any rate for the bulk of our students. Striking evidence to this effect comes from Puerto Rico, where the fifty year old attempt to make the Puerto Recons bilingual had to be abandoned on the recommendation of R.H. Fife and H.T. Manual, who reported in 1944 that the path to bilingualism is not an easy one and that the great majority of Puerto Recan children had little hope of becoming bilingual.

See R. H. Fife and H. T. Manuel,—The Teaching of English in Puerto Rico.

9a. See Appendix B.

10. The University Education Commission Report, p. 315.

11. Four forty-minute periods per week, which, according to a formula deduced from a statistical investigation carried out by the C.P.I., would work out to 4 × 25 = 100 forty-minutes periods or $\frac{200}{3}$ hours in a year. The three years of the J. H. S Course would thus yield 200 hours.

Now, "For mist adults........ 350 hours of mass instruction are not enough to develop ease in reading, writing and speaking." And even the best Army Language Schools (in America) with all their advantages—needed 700 contact hours with a language to reach the single goal of a command of the colloquial spoken form of a language.

Walter V. Kaulfers—"Americans can be Linguists," N.E.A., Nov., 1952, pp. 502-503.

12. "A school can put a pupil into the way of learning a foreign language quickly and well, it, can give him the general education and the groundwork which will fit him for the work he is to do, but it cannot provide the finished article."

Norwood Commitee Report, p. 115.

13. Ibid, p. 116.

14. Breseton, Dr. C.—Modern Language Teaching, p. 137.

15. "However, early a boy may leave school, he will carry away with him something of permanent value and utility from his study of the Language if reading is made its objective—not oral reading, but purposeful, silent reading."

Dr. West quoted by Thompson and Wyatt,—"The Teaching of English in India," p. 25.

16. 16. (a) The Bones of Grammar,—"Times Educational Supplement," April, 24, 1953.

(b) "But it must be the real Grammar of Modern English and not the purblind old cripple of Classical Grammar which still appears in too many class-books."

F. G. French—"Common Errors in English," p. 37.

(c) "What is the context of the Grammar of Modern English ? The grammatical materials of any language are the devices of word-change and of word-arrangement which are necessary in order to express meaning over and above the context-meaning of the separate words.

"In English, these devices are three in number: word-order, the use of structural particles..... and a very few living inflexions." All the rest is really irrelevant. Ibid, p. 39.

17. "A pattern is to the Language learner what a paper pattern is to the dress-maker, the paper pattern shows the dress-maker the essential parts of the garment to be made, the shape of each, their relative positions one to another, their connections and attachments, and the appearance of the finished article ....the pattern is her guide to all the essentials. So with the language learner........ a pattern is a standard model which prescribes the way in which, for any particle purpose, words must be grouped in accordance with the conventions of the English language."

Ibid, p. 35.

18. Thompson and Wyatt,—"The Teaching of English in India," pp. 33, 36.

19. Suggested Course of Study in English, Part I. Issued by the Ministry of Education, Japan.

20: Harold and Dorothy Palmer,- "English Through Action."

21. Harold Palmer,—"On Learning to Read a Foreign Language."

APPENDIX A

The A. S. T. P. (The Army Specialised Training Programmes).

The Army Specialised Training Programmes were part of the American Wartime experiments in the teaching of foreign languages and were devised to train the Army personnel in the 'colloquial spoken form' of the languages of the many countries in which the American Army had to compaign in the global war it fought to make the world safe for the American pattern of democracy. The salient features of these programmes were :—

1. **Highly selected students**—Only those of the non-commissioned soldiers were selected for foreign language study who could qualify on three counts :

(a) a qualifying score on the Army General Classification Test (AGCT) an Intelligence and aptitude test.

(b) demonstrated proficiency in foreign languages, and

(c) completion of at least one year of college work.

This process of selection ensured a very select group, with not the least semblance of the great variation in linguistic aptitude generally to be found in the ordinary civilian class.

2. **Careful Sectioning**—Groups of trainees were systematically examined as to (i) linguistic experience and study as recorded on a personal card (ii) back-ground and general qualifications as determined by personal interview, and (iii) oral competency as measured in preliminary test,

3. **A dual division of instructional staff into senior instructors and informants**—The senior instructors who invariably were trained linguiss were made responsible for planning the programmes, preparing instructional material, teaching the grammar lessons, supervising the work of the informants and preparing and administering the examinations. In most instances, the senior instructors were regular members of the University staff.

The informants, or the Drill Masters as they were mere commonly called, were usually natives. They were entrusted with the responsibility of conducting the oral practice session.

4. **A very high teacher-pupil ratio**—A maximum of six to eight students per teacher was the role.

5. **Long contact hours**—Seventeen hours of contact with the native instructor was the average at the training centres. Monterary, however, had six contact hours every day with added assignments of three to four hours of outside preparation. This meant that a years' work at the Army School was equal to at least nine years of an educational institution offering one contact hour a day.

6. **Practical, intense and highly delemited lesson plans**- Only the essentials of a subject were demonstrated or discussed with at much direct student participation as possible.

7. **Singleness of aim**—No other subject was studied during the period a trainee was at an A. S. T, P. centre.

8. **Strong motivation and military discipline**—Prospects of advancement on the successful conclusion of the training made for a concentration and out-put if effort no where met with in civilian schools.

9. **Extensive employment of mechanical aids** e.g. gramophones, recording machines, tape recorders, microphones, films, radio, and telephones etc,

10. **Unlimited Funds.**

APPENDIX B

Aims of the Junior High School Course in English.

A. General Aim—To develop a practical knowledge of English with primary emphasis on reading skills and with speaking and hearing in the background except in so far as they are an aid in achieving the power to read with understanding.

B. Functional Aims :—

(1) To develop such skills and knowledge in English as would be of practical value to those terminating their education at the end of the Junior High School.

(2) To develop such skills and knowledge in English as would serve as a sound foundation for those taking the more advanced course in English in or outside of the Higher Secondary School and enable them to make effective use of the matter written in English in their fields of study.

C. Cultural Aim—To develop a better understanding of the English speaking peoples and a juster appreciation of their role in the world of today.

CLASS VI

A. Reading

Habits and skills to be aimed at :—

1. To read silently before attempting to read aloud.
2. To develop the ability to master the mechanics of reading i.e. to use correct eye movements, to avoid pointing to works while reading, to eliminate head movements vocalisation, lip reading and other detrimental habits.
3. To develop the following comprehension abilities :—
   (a) To develop the ability to group words into thought units and to give proper emphasis to them so that sentences may be understood,

4. To be able to enunciate clearly and pronounce correctly.

5. To avoid word calling in oral reading.

6. To memorise the particles, pronouns, pointer words and helper verbs occurring in the matter read.

7. To memorise every day sentences.

8. To organise the vocabulary acquired into groups.

B. Writing

1. Aim—To develop the ability to write legibly, harmoniously and rapidly.

2. **Method and style**—Writing by traction and not by pressure. Progress from 'cord' to 'ribbon' writing.

Easy transition from unlinked script to linked script, either upright or slanting, is desirable. Script may be dropped later on and a simple, slanting and linked writing, also known as filiform or rapid writing, may be evolved. Script may as well be retained and a rapid hand, linked or unlinked as convenient to the pupil, may be developed.

3. **Types of exercises**—Transcription, transliteration and dictation as a means both of giving practice and training in writing and fixing the linguistic material already acquired.

C. **Composition**—Through substitution tables, synthetic sentence building, answers to questions, conversion, dissected sentences, and by completion, framing questions, and simpler forms of modified transcription.

The emphasis in all these exercises must be on unconscious assimilation by the students of the patterns practised and on use by them in writing of some of the linguistic material acquired by them rather than on oral drill.

D. **Grammar**—The classification of words, *according to use,* into:—

1. Substantives divisible according to their specialised functions into nouns, adjectives, verbs, adverbs, pronouns (noun-substitutes and others), prepositions, and conjunctions.

2. The Subject and Predicate pattern of the English sentence.

CLASS VII

Reading

Habits and skills to be aimed at :—

1. To continue the habit of reading silently before any attempt is made to read aloud.

2. To develop the ability to master the mechanics of reading i.e. to eliminate all undesirable habits, such as bad head, eye, and lip movements and to increase the span of recognition.

3. To develop the following comprehension abilities :—

   (a) To read for the purpose of gaining definite information concerning questions of increasing scope and difficulty.

   (b) To identify the topic sentence.

   (c) To ascertain the relationship between the sentences in order that their meanings may be generalised into the meaning of the paragraph.

4. To continue the habit of good phrasing, rather that word calling in oral reading,

5. To enunciate distinctly and pronounce correctly.

6. To know how to attack new or difficult words by recognising the sound elements.

7. To memorise the particles, pronouns, pointer words and helper verbs occurring in the matter read.

8. To memorise simple verses and every day sentences occurring in the matter read.

9. To organise the vocabulary acquired into groups.

B. Writing—Transcription, transliteration and dictation with due attention to the technique, quality and speed of writing. The exercises are intended to serve as a means both of giving practice in writing and fixing the linguistic material already acquired.

C. Composition—1. Through exercises suggested under the head composition in syllabus for class VI, with their content adapted to the linguistic abilities of the grade.

2. Description of pictures with the help of a chair of questions and and the organisation of the answers into a continuous narrative.

3. Reproduction of simple stories.

Note.—Reading as a preparation for (2) or (3) should take the place of oral preparation for the same as heretofore.

D. Grammar :

1. (a) Nouns—number flexion and the genitives as the sole relic of the old English case flexion.

   (b) Pronouns.—The declension or flexions of Personal Pronouns and Relative Pronouns.

   (c) Adjectives.—Their position in the sentence and the alteration in their function with the change in their position ; comparision

   (d) Adverbs.—Comparision.

   (e) Verbs.—Transitive, Intransitive and Auxiliary (helper).

2. The following essential patterns :—

(a) Two-part patterns	
Imperative	V - 0*
Intransitve	S - V
(b) Three-part pattern Transitive	S - V - 0
(c) Four-part pattern Double Object	S - V - 0i - 0d
	S - V - 0d - 0i

Care must be taken to impress upon the boys the following characteristics of Modern English.

(1) Conventional order of words in the sentence.

(2) The variation of their function without any corresponding charge in their form.

Explanation of Symbols :

Capitals :

S = Subject
V = Verb (main)
O = Object

Small Letters :

i = Indirect
d = Direct

CLASS VIII.

Reading

Habits and skills to be aimed at :—

1. 1 to 7 as in Class VII.
2. To develop the ability to master the mechanics of reading viz., to strengthen the habit of attacking new words by skipping over the word and getting it through the context and to read more rapidly.
3. To develop the following comprehension abilities :—
   - (a) To read larger amounts in relation to a motive question.
   - (b) To comprehend and remember the thought of larger units.
   - (c) To answer judgement questions.
   - (d) To develop the ability to understand the relationship between paragraphs so as to be able to arrive at the meaning of the total passage.
   - (e) To organise the material read into its main points and supporting details i.e., to make a precis of the material read.
4. To develop the ability to read expressively.

B. Writing :—

Transcription and dictation, both as a means of giving practice in writing and fixing the linguistic material already acquired. Dictation may also be used at this stage as a test of the boys progress in hearing English aright and of spelling and handwriting at normal speed.

C. Composition :—

1. Modified transcription of a more advanced type.
2. Reproduction of simple stories.
3. Construction of stories from given outlines.

Reading will take place of oral work as a preparation for all these types of exercises.

D. Grammar :—

1. Verbs. (a) Tenses—Simple, Present, Past, and Future ; Present and Past Perfect and Future Preterite ; Tense flexion, all that remains of it in English being the final s of a verb which follows words such as he, she, it or the names of single things, living beings, groups or qualities.

2. Interjections

3. Word formation—Compounding and Derivation.

4. The following essential pattern :—

(a) Predicative ... S — V — P
(b) Secondary Predicative S — V — O — P
(c) Substituted Subject ... s — V — S

5. *Questions.*

A. Fixed Questions (beginning with a verb) :

(a) Single-word Verbs V — S — O ?*
V — S — P ?

(b) With Structural Verbs(v) v — S — V ?
v — S — V — O ?
v — S — V — Oi — Od ?

B. Free Questions (beginnings with an asking word)

(a) Interrogative Pronouns X ? — V ?
X ? — V — O ?
X ? — v — S — V — ?
X ? — v — S — V — Oi ?
X ? — v — S — V — Od ?

(b) Interrogative Adverbs X ? — V — S ?
X ? — v — S — V ?
X ? — v — S — V — O ?
X ? — v — S — V — Oi — Od ?
X ? — v — S — V — P ?

The teacher should take care to stress how tenacious English is of the S — V — O order. The simple question is characterised by the inversion V — S, but this does not hold true in the great majority of question forms except in so far as the structural verb precides the subject, leaving the content verb in its normal place.

Explanation of symbols :—

Capitals

P = Predicative or complement.

Small letters

V = Structural verb as can do = v + V
S = Substitute subject as It is I = s + V + S
X ? = An Interrogative.

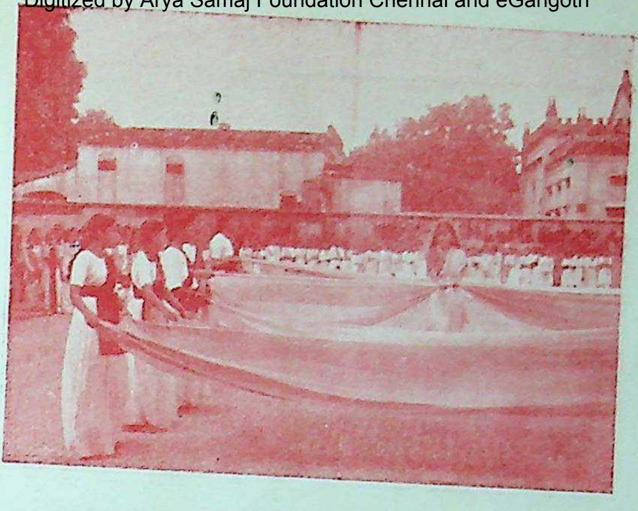

साड़ी नृत्य ।

श्री शिवराम सिंह आई० ए० एस०,
उप-सचिव, शिक्षा-विभाग,
सभापति के आसन से
उत्सवोपरान्त भाषण दे रहे हैं।

व्यायाम प्रदर्शन

सरदार सरजोत सिंह मजीठिया, उपरक्षा मन्त्री, केन्द्र रानीखेत में प्रदेश के ऐन० सी० सी० केडेटों द्वारा मान-चित्र-अध्ययन का निरीक्षण कर रहे हैं।

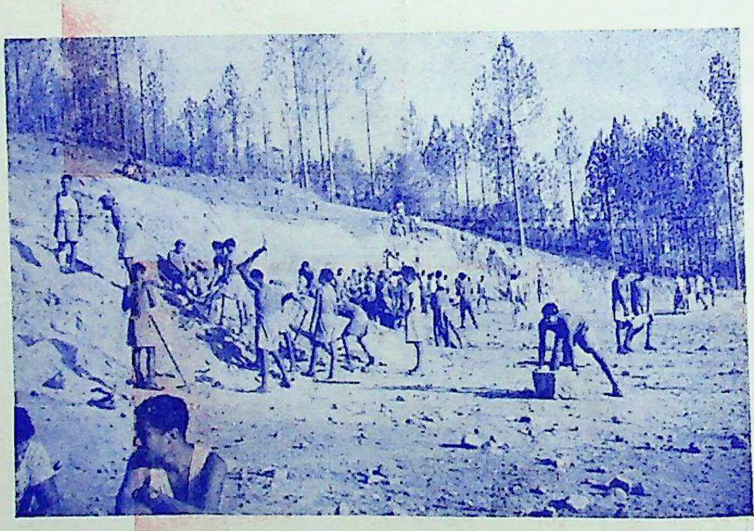

उक्त अवसर पर छात्र सैनिक पहाड़ काटकर अपने लिए खेल का मैदान तैय्यार कर रहे हैं।

हमारे कार्यक्रम तथा कार्यकलाप

पुनर्व्यवस्था योजना की प्रगति

विगत अंक में प्रदेश के ९ केन्द्रों पर २५३३ छात्राध्यापकों के प्रशिक्षण का तथा नवीन शिक्षा योजना संबन्धी अन्य विवरण दिया जा चुका है। उनमें से २४८८ को प्रस्तुत शिक्षा वर्ष के प्रथम सप्ताह में विभिन्न पूर्व माध्यमिक विद्यालयों में नियुक्तियां दे दी गई हैं। इनका परीक्षाफल लिखित प्रश्नपत्रों, उनके दैनिक कार्यों तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण के फलस्वरूप योग्यतानुसार 'ए०' 'बी०' 'सी०' तीन श्रेणियों में घोषितकिया गया था। इनमें ४६९ कृषि ग्रेजुयेट, २८६ प्रशिक्षित ग्रेजुएट, ८४४ कृषि अंडरग्रेजुएट तथा ८४९ अंडरग्रेजुएट हैं। उक्त विद्यालयों में कृषि सम्बन्धी अन्य आवश्यक सामग्री भी दी जा रही है। देहातों में सामान्यतः कृषि की ही शिक्षा दी जायगी और नगरों में दस्तकारियों की यद्यपि यह मुख्यतः स्थानीय आवश्यकताओं पर निर्भर करेगा और यह अन्तर ऐसा न होगा जिसमें अपवाद न लाया जा सके। अब तक कृषि के कार्य में तो पर्याप्त उन्नति हो चुकी है किन्तु दस्तकारियों का काम अब शीघ्र ही प्रदेश के सारे राजकीय दीक्षा विद्यालयों तथा ९८ हाई स्कूलों में आरम्भ होने वाला है।

योजना का यही लक्ष्य नहीं है कि कृषि को विद्यालयी पाठ्यक्रम में एक विशिष्ट विषय के रूप में ग्रहण कर लिया जाय और छात्रों की सक्रियता को खेत पर स्थानान्तरित कर दिया जाय बल्कि उसका उद्देश्य विद्यालय को सामुदायिक तथा प्रसार सम्बन्धी कार्यक्रम का केन्द्र बनाने का भी है। वहाँ के अध्यापक तथा छात्र सम्बंधित क्षेत्र को अग्रणी और नायक बन कर विकसित करेंगे। इसी दृष्टि से नये अध्यापकों को 'प्रसाराध्यापक' की संज्ञा दी गई है। स्कूल का फार्म भी छात्रों के प्रशिक्षण के अतिरिक्त निकटस्थ गावों के लिए आदर्श का काम करेंगे। साथ ही ऐसी आशा है कि इन खेतों से इतनी आय हो सकेगी जिससे अंशतः अध्यापक की आर्थिक सहायता तथा छात्रों के पुस्तकादि तथा स्कूली जलपान का व्यय निकल सके।

कृषि शिक्षा का श्रीगणेश इस वर्ष कक्षा ६ में प्रारम्भ कर दिया गया है और आगे की कक्षायें आगामी वर्षों में खुलती जायंगी। इस कक्षा के छात्रों को सैद्धांतिक शिक्षा, जिसमें पशुपालन भी सम्मिलित रहेगा, तथा खेतों पर क्रियात्मक कार्यों का अभ्यास दिया जायगा। आशा है कि इन कक्षाओं में उसे इतना अनुभव प्राप्त हो जायगा कि उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में पहुँच कर उसे विशेष लाभ हो सके। इस प्रकार यह योजना माध्यमिक शिक्षा समिति की संस्तुतियों के अनुकूल ही चल रही हैं।

इन विद्यालयों के लिये नित्यप्रति अधिक भूमि मिलती जा रही है और निकट भविष्य में ४५० और अध्यापको को लेने का विचार है ताकि उन सभी उच्चतर एवं पूर्व माध्यमिक विद्यालयों में, जहाँ भूमि प्राप्त हो चुकी है, प्रसाराध्यापक दिए जा सकें। साथ ही जिनकी नियुक्तियां हो गई हैं उन्हें ६ मास का एक पुनर्प्रशिक्षण दिया जायगा। चूंकि सबको एक साथ प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता, इसलिए सर्वप्रथम 'सी' श्रेणी वाले अध्यापकों को ही बुलाया जा रहा है। इसमें कृषि, पशुपालन, ग्रामीण सफाइ तथा स्वास्थ्य-रक्षा, सामाजिक शिक्षा एवं सड़क तथा भवन निर्माण की साधारण शिक्षा दी जायगी। पहाड़ों पर नियुक्त अध्यापकों को भी ६ महीने की उद्यान-विज्ञान की शिक्षा इसी आगामी पहली अक्टूबर से दी जाने वाली है। जो भी भूमि अभी तक प्राप्त हुई है उसके एक तिहाई में इस समय खरीफ़ की फ़सल खड़ी है और शेष रबी के लिये तैयार की जा रही है।

मुख्य मन्त्री शिक्षा-कोष में २५ लाख से अधिक धन एकत्र हो चुका है जो जिलों पर ही और नये स्कूलों पर व्यय किया जायगा। योजना का एक लक्ष्य यह था कि ग्रामीण जनता में यह भाव जाग्रत हो जाय कि वे इन विद्यालयों को अपना, तथा उनके कार्यकलाप को अपनी आकांक्षाओं का प्रतिफल समझने लगें। इसी विचार से प्रत्येक विद्यालय के साथ विद्यालय-समिति का निर्माण हो गया है जिसमें गांव सभा के सभापति, ग्रामपंचायत के सदस्य, उन्नतिशील किसान तथा सम्बन्धित प्रारम्भिक पाठशालाओं के प्रतिनिधि रहेंगे और प्रसाराध्यापक ही समिति के मन्त्री होंगे। इसी बीच कृषि विभाग ने प्राप्त भूमि की, उसकी उर्वता की दृष्टि से, कुछ श्रेणियां बना दी हैं और निरर्थक भूमि को बदलने तथा उर्वर बना देने की व्यवस्था हो रही है। ज़िले के स्तर पर भी अध्यक्ष, ज़िला परिषद के सभापतित्व में, विद्यालय निरीक्षक, कृषि अधिकारी, तथा नियोजन अधिकारी के साथ एक समिति बन गई है जो सम्पूर्ण ज़िले पर नियन्त्रण रक्खेगी। इसी प्रकार पूरे प्रदेश के हेतु पहले से ही प्रदेशीय शिक्षा परिषद बन चुका है जिसकी अध्यक्षता स्वयं मुख्य मन्त्री कर रहे हैं।

शिक्षा पुनर्व्यस्था का विधिवत् उद्घाटन प्रदेश भर में १५ अगस्त के 'स्वतंत्रता-दिवस' पर हुआ। बख्शी के तालाब लखनऊ पर विशेष समारोह के बीच मुख्य मन्त्री महोदय ने स्थानीय पूर्व माध्यमिक विद्यालय के फार्म का उद्घाटन किया। उस शुभ मुहूर्त में आकाश से मानो हमारी आशाओं की फुलवाड़ी के सिंचनार्थ वर्षा की झड़ी लगी हुई थी। इसी प्रकार सहारनपुर में केन्द्रीय शासन के खाद्यमन्त्री, मथुरा में शिक्षा मंत्री, फैजाबाद में डा० सम्पूर्णानन्द ने तथा बलिया में न्याय मंत्री, आदि ने नवीन शिक्षा का उद्घाटन किया।

मनोविज्ञानशाला, प्रयाग

शिक्षा वर्ष १९५३-५४ में मनोविज्ञानशाला, प्रयाग का कार्य निम्नांकित दिशाओं में चलता रहा:—(१) स्टैनफ़र्ड बिनेबुद्धि परीक्षा (हिन्दी रूपान्तर) से संबद्ध सांख्यकीय संपादन

(Statistical Calculation) (२) मोरे हाउस स्पेल टेस्ट का आवश्यक रूपांतर, (३) प्रसार शिक्षकोंके लिये एक नूतन भाषात्मक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण का निर्माण, (४) बुद्धि परीक्षा १९५२ के प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में गवेषणा, (५) १४ आयु-वर्ग के छात्रों के लिए निर्मित सामूहिक बुद्धि परीक्षा के निमित्त आदेश पुस्तिका का निर्माण, (६) आठवीं कक्षा के ५०० छात्रों को मनोविज्ञनशाला, प्रयाग द्वारा तथा लगभग ५०० छात्रों को उपकेन्द्रों द्वारा पाठ्य-विषय निर्वाचन में सहायता-दान तथा (७) एन० आई० आई० पी० ७०/२३ एवं फ़ार्म रिलेशन बुद्धि परीक्षाओं तथा कतिपय अन्य परीक्षाओं के मान-निरूपण का कार्य (Preparation of Norms), इत्यादि

शैक्षिक तथा औद्योगिक निर्देश कार्य—वैयक्तिक रूप से शिक्षा वर्ष १९५३-५४ में मनोविज्ञानशाला, प्रयाग ने ७३ व्यक्तियों को उपयुक्त प्रकार का निर्देश प्रदान किया।

चिकित्सात्मक वैयक्तिक निर्देशन—विगत शिक्षा वर्ष में २७ प्रार्थियों ने उपयुक्त प्रकार के निर्देश के लिए प्रार्थना की थी। इनमें से आवश्यकतानुसार ७ प्रार्थियों की व्यापक मनोचिकित्सा की गई।

कर्मचारियों का चुनाव—विगत पाँच वर्षों की भाँति आख्यागत वर्ष में भी मनोविज्ञानशाला, प्रयाग ने पुलिस ट्रेनिंग कालेज, मुरादाबाद के लिए शिक्षार्थियों के चुनाव में सहायता प्रदान की। इस उद्देश्य से एक नूतन बुद्धि तथा सामान्य-ज्ञान परीक्षा का निर्माण भी किया गया।

इसके अतिरिक्त लगभग २५०० शिक्षार्थियों का, जो कि ८ जूनियर ट्रेनिंग कालेजों तथा रुद्रपुर में दीक्षा प्राप्त कर रहे थे, मनोविज्ञानशाला ने परीक्षण किया और शिक्षा विभाग को उनके मूल्यांकन करने में सहायता पहुँचाई। इस कार्य के लिये एक भाषात्मक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण का निर्माण किया गया तथा दीक्षालयों के प्रधानचार्यों से शिक्षार्थियों के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान एवं अभिरूचियों के विषय में तथ्य संकलित किये गये। शिक्षार्थियों का मूल्यांकन समस्त प्राप्त तथ्यों पर अवलम्बित था।

शिक्षण तथा प्रशिक्षण—निर्देशाध्यापकों के प्रमाण पत्र (Guidance Teacher's Certificate) के प्रदान करने के सम्बन्ध में तीन मास के प्रशिक्षण की मनोविज्ञानशाला ने व्यवस्था की जिसमें प्रदेश के विभिन्न भागों से ९ शिक्षार्थी सम्मिलित हुये। इन शिक्षार्थियों को निर्देश कार्यों का सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक ज्ञान प्रदान किया गया। प्रशिक्षण के अन्त में विभागीय परीक्षाओं के रजिस्ट्रार द्वारा सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक परीक्षा ली गई जिसमें सभी परीक्षार्थी उत्तीर्ण हुये।

नव वर्ष के विगत त्रिमास में मनोविज्ञान केन्द्र तथा उसके पाँचों उपकेन्द्रों में मनोविज्ञानिक अनुसंधान तथा निर्देशन के कार्य जारी रहे, यथा—(१) स्टैनफ़र्ड बिने वैयक्तिक बुद्धि परीक्षा के अनुशीलन का कार्य चला किया। पृथक पृथक अवस्था वाले आयु वर्ग के प्रत्येक प्रश्न की प्रतिशत-सफलता ज्ञात करने का कार्य आरम्भ कर दिया गया है, (२) एन० आई० आई० ०पी सामूहिक परीक्षा ७०।२३ का नया मान-निरूपण १५० व्यक्तियों पर तैयार किया जा रहा है। इसके सम्बन्ध में रिग्रेशन कोएफ़िशेन्ट्स (Regression Coefficients) ज्ञात कर लिये गये हैं, (३) एन० एन० आई पी० फ़ार्म रिलेशन सामुहिक परीक्षा के मानांक को तैयार करने के लिये मीन्स तथा स्टेनफ़र्ड डेवियेशन्स निकाल लिये गये हैं। परीक्षा में प्राप्त अंकों के अवस्थानुसार अंक निकाले जा रहे हैं, (४) टी० ए० टी० परीक्षा के भारतीय अनुशीलन की व्यस्वथा तथा आदेश-पुस्तिका तैयार की जा रही है। (५) रोशाक इंक ब्लाट परीक्षा की व्याख्या तथा आदेश की पुस्तिका तैयार हो चुकी है और भारतीय परिस्थिति के अनुसार रोशाक निरीक्षण के पृथक पृथक वर्ग तैयार किये जा रहे हैं।

अन्य काय

विद्यार्थियों के प्रिय व्यापार (Hobbies) को जानने के लिए एक प्रश्नावली उन्हें दी गई थी। उनके उत्तरों का विश्लेषण हो रहा है। स्त्रा अपराधियों को पूर्व स्थिति में लाने के लिये उनसे मनोविज्ञानिक समंत्रणा की गई। इस सम्बन्ध में विस्तृत परामर्श भेजा जा रहा है। मनोविज्ञान केन्द्र प्रयाग में इस मध्य में दो नाद विवाद सभाएं भी हुई।

अध्ययन विज्ञान केन्द्र, प्रयाग

यह संस्था ग्रष्मावकाश के पश्चात १५ जुलाई को खुली और शीघ्र ही सैद्धांतिक, क्रियात्मक तथा सामुदायिक सभी प्रकार के कार्य प्रारम्भ कर दिये गये। सामुदायिक कार्यक्रम के अन्तर्गत इस वर्ष ग्रामवासियों के मन में उचित प्रवृत्तियां उत्पन्न करने पर अधिक बल दिया जा रहा है जिससे छात्रों का काम केवल शारीरिक श्रम से कहीं अधिक बढ़ गया है। वैसे पाठ्यक्रम में नियोजित ५० घंटों के श्रम से अत्यधिक काम उन्हें अपने छात्रावास तथा उसके अड़ोस पड़ोस को सुन्दर एवं सुव्यवस्थित बनाने में ही लग जायंगे। ये लोग परिचारकोंके निवासों की ओर भी काम कर रहे हैं। इस के अतिरिक्त राजकीय इन्टर कालेजों के अध्यापक के सहयोग से भाषा तथा सामाजिक शास्त्रों की पाठन-विधि के अध्ययन एवं मूल्यांकन पर भी एक प्रोजेक्ट चल रहा है जिसका अभिप्राय शिक्षा सिद्धांतों तथा विद्यार्थियों की वास्तविक परिस्थतियों के अनुसार शिक्षण प्रणाली को समायोजित करने का है। प्रयाग मंडल के हिन्दी शिक्षकों की एक प्रयोगशाला स्थापित करने की भी तैयारी है जिसमें हिन्दी की उन्नत शिक्षा-विधियों को विकसित करने तथा उनसे मंडलीय ज़िला विद्यालय निरीक्षकों को परिचित कराने की योजना बनाई गई है। अध्यापकों के कार्य तथा व्यक्तित्व के तटस्थ मूल्यांकन

के विषय में भी अध्ययन चल रहा है। विभाग की आज्ञानुसार निम्नांकित पुस्तकादि की आलोचना भी की गई है:—

(क) १९५३ के जेनेवा में हुई अन्तर्राष्ट्रीय प्रारम्भिक अध्यापक प्रशिक्षण समिति की क्रमांक ३६ व ३७ की संस्तुतियां

(ख) विद्यालयों में इतिहास-शिक्षण, तथा

(ग) अध्यापक-शिक्षण संबंधी कुछ प्रयोग—इनका (ख तथा ग का) प्रकाशन केन्द्रीय शासन के शिक्षा मंत्रालय ने किया है।

पाठ्य-पुस्तक विभाग

बेसिक पुस्तकमाला की नवीन पुस्तकें जून के अन्त में प्रकाशित होकर जुलाई १९५४ में सर्वत्र उपलब्ध हो गई हैं। इस पुस्तकमाला में ५ बेसिक रीडर, ४ बेसिक अंकगणित, ३ कृषि और सरल विज्ञान की पुस्तकें और १ कृषि विज्ञान (कक्षा ६ के लिए) मिला कर कुल १३ हिन्दी में तथा ५ रीडर और ४ अंकगणित उर्दू में भी हैं।

ये पुस्तकें प्रान्त के बेसिक स्कूलों की कक्षा १ से ५ तक में उपयोग के लिए शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत हैं। ये सभी बेसिक पुस्तकें राजकीय प्रकाशन हैं और शिक्षा की पुनर्व्यवस्थित शिक्षा-योजना के अनुसार लिखाई गई हैं।

बेसिक स्कूलों तथा जूनियर हाई स्कूलों के नवीन (१९५४ जुलाई से प्रारम्भ) पाठ्यक्रम भी राजकीय मुद्रणालय, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद में उपलब्ध हैं।

एन० सी० सी० तथा ए० सी० सी०

पूर्व की भांति इस वर्ष भी एन० सी० सी० में प्रवेश पाने के लिए छात्रों में बड़ी सरगर्मी रही। इसी कारण केन्द्रीय शासन के प्रस्तावानुसार प्रदेशीय सरकार ने इस योजना को परिवर्द्धित करने का निश्चय किया है और निम्नांकित यूनिट और भी निर्मित हो गये हैं।

१.	सीनियर डिवीज़न आर्मी विंग	जिसमें दो स्वतंत्र पैदल सेना, एक अन्य पैदल सेना तथा एक मेडिकल कम्पनी रहेगी।
२.	जूनियर डिवीज़न आर्मी विंग	इसमें ३० टुकड़ियां रहेंगी।
३.	जूनियर डिवीज़न एयर विंग	इसमें ६ टुकड़ियां रहेंगी।
४.	गर्ल्स डिवीज़न सीनियर विंग	इसमें तीन पूरी टुकड़ियाँ (९०केडेट) रहेंगी।
५.	गर्ल्स डिवीज़न जूनियर विंग	इसमें ४ टुकड़ियां (३३ केडेट) रहेंगी।

देश का नवयुवक समाज ही भावी राष्ट्र का संचालन एवं नेतृत्व करता है; इसके अतिरिक्त नववर्य में शरीरिक एवं सामाजिक विकास के लिए प्रयत्न की दिशा में स्वाभाविक प्रवृत्तियां भी रहती हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु और इस कारण भी कि एन० सी० सी० तथा अन्य सामाजिक शिक्षा की योजनाओं में विशेष व्यय की अपेक्षा रहती है, ए० सी० सी० (आकज़ियलरी केडेट कोर) की योजना चलाई गई है। अनेक शिक्षा संस्थाओं ने इसे अपने यहां प्रचलित करने के हेतु संबंधित साहित्य की मांग भी की है। प्रदेश के छात्र एवं छात्राओं, जनता तथा अध्यापक वर्ग में इसके प्रति विशेष उमंग दृष्टिगोचर होने लगा है जो कि निम्नांकित आंकड़ों से प्रकट होगा।

		अध्यापक	छात्र-सैनिक
(अ)	१ जुलाई १९५४	२२०	४७२९
(आ)	१ सितम्बर १९५४	२४९	६१६५

इन सहायक छात्र-सैनिक दलों को संगठित तथा प्रशिक्षित करने के हेतु अध्यापक सैनिकों की आवश्यकता थी जिनकी शिक्षा के लिए फ़ौज के जी० सी० ओ० तथा एन० सी० ओ० अधिकारियोंकी नियुक्ति हो गई है। विगत जुलाई अगस्त के महीनों में जो शिक्षाक्रम चला है वह निम्न प्रकार है—

	स्थान	शिक्षाक्रम की संख्या	प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या
१.	इलाहाबाद	५	३०
२.	अलीगढ़	२	२०
३.	बरेली	२	३४
४.	लखनऊ	३	२०

संस्कृत शिक्षा

संस्कृत महाविद्यालय, काशी में दिनांक १२-७-५४ को श्री भैरवनाथ झा, शिक्षा-संचालक, उत्तर-प्रदेश की अध्यक्षता में संस्कृत शिक्षा परिषद की बैठक महाविद्यालय भवन में हुई जिसमें महाविद्यालय की परीक्षाओं के पाठयक्रम में कई महत्वपूर्ण संशोधन स्वीकृत हुये जिसके फलस्वरूप छात्रों पर पड़नेवाला विभिन्न परीक्षाओं के पाठयक्रम का भार अंशतः हल्का हुआ। शास्त्रीय परीक्षा के 'ख' वर्ग में पाली विषय का समावेश किया गया। पूर्व मध्यमा तथा उत्तर मध्यमा के प्रथम वर्षों की भी राजकीय परीक्षा १९५५ से ही लेने का निश्चय किया गया। पुराण और वेद नैरुक्त प्रक्रिया की मध्यमा परीक्षायें पुनः चालें करने की नीति स्थिर की गई। आगरा विश्वविद्यालय के एम० ए० (संस्कृत) को आचार्य परीक्षा में प्रवेशाधिकार देने की सूचना श्री शिक्षा-संचालक महोदय ने दी। दूसरे दिन

शिक्षा-संचालक महोदय ने संस्कृताध्यापकों के पुनः प्रशिक्षण सत्र का उद्घाटन किया जिसमें उन्होंने अपने सारगर्भित पांडित्य-पूर्ण भाषण में शिक्षा शास्त्र पर बल दिया और बतलाया कि कुशल अध्यापक के लिए छात्र तथा विषय दोनों का ही पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। उन्होंने अध्यापकों को इस महान स्वतंत्र देश के अनुरूप छात्रों को योग्य नागरिक बनाने के लिये प्रोत्साहित भी किया। उक्त प्रशिक्षण २॥ मास तक चला और उसमें लगभग ५० अध्यापकों ने भाग लिया। निर्वाचित अध्यापक ४५ वर्ष से कम अवस्था के थे और शास्त्री परीक्षोत्तीर्ण थे। अपने वेतन के अतिरिक्त से स्थानीय लोगों को १० रु० तथा बाहरी लोगों को २० रु० प्रतिमास की वृत्ति भी दी गई।

संस्कृत के अनुकूल वातावरण के फलस्वरूप इस वर्ष कुछ पाठशालाओं में गत वर्ष की अपेक्षा दुगने तिगुने छात्र प्रविष्ट हुये हैं। कुछ ऐसी नवीन पाठशालायें भी स्थापित हुई हैं जहाँ प्रथम वर्ष ही मध्यमा कक्षा तक एक सौ से अधिक छात्र में अध्ययन करने लगे हैं। प्रचलित वर्ष के आरम्भ से समस्त राजकीय संस्कृत पाठशालाओं में आधुनिक विषयों के अध्यापनार्थ एक एक एम० ए०, एल० टी० अध्यापक नियुक्त किये गये हैं तथा नवीन संस्कृत पाठ्यक्रम के अनुसार अपेक्षित ५ संस्कृताध्यापकों को भी नियुक्ति दी गई है। इस प्रकार राजकीय संस्कृत पाठशालाओं में अध्ययनाध्यापन संबंधी एक महान अभाव की पूर्ति अब हो चुकी है।

प्रशिक्षण विद्यालय

गृहविज्ञान महाविद्यालय, प्रयाग

प्रयाग स्थित महिलाओं का गृहविज्ञान प्रशिक्षण महाविद्यालय, जो एक अस्थायी योजना के अन्तर्गत चल रहा था और जिसे गत वर्ष बंद कर देने का विचार किया गया था, अभी प्रचलित रक्खा गया है। इसका पहले का दो वर्ष का पाठ्यक्रम अब एक वर्ष का कर दिया गया है और पहले जहाँ हाई स्कूल पास छात्रायें प्रवेश पाती थीं, अब केवल इन्टर पास छात्रायें ही प्रविष्ट की जाती हैं। इस विद्यालय के लिए शासन से ३०रु० प्रतिमास की ५० वृत्तियाँ भी स्वीकृत हैं।

शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय, प्रयाग

प्रयाग स्थित इस विद्यालय में अब तक पुरुष तथा महिलाओं दोनों का प्रशिक्षण चलता था। अब इसका महिलाओं का भाग स्थानीय राजकीय अध्यापिका प्रशिक्षण केन्द्र से आबद्ध कर दिया गया है और भविष्य में उसकी आचार्या का ही सभी महिलाओं पर

प्रशासन रहेगा। इस वर्ष इसमें १३ छात्राओं ने प्रवेश लिया है, जिनमें से शासन से १० मास के लिए १० महिलाओं को २० रु० प्रतिमास के हिसाब से वृत्ति स्वीकृत है।

जूनियर ट्रेनिंग कालेज

गत वर्ष प्रदेश में ऐसे आठ पुरुषों तथा एक महिलाओं का राजकीय प्रशिक्षण विद्यालय था। इसके अतिरिक्त २२ अराजकीय संस्थायें भी ऐसी थीं, और जिनमें एक महिलाओं का भी था, जिन्हें मान्यता प्राप्त थी। प्रचलित वर्ष में इनमें से मुजफ्फरनगर, लखनऊ तथा इलाहाबाद के कालेजों को जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज का रुप दे दिया गया है, जिसका विवरण अन्यत्र दिया जा रहा है। उनमें इण्टरमीडियट पास छात्र टी०सी० परीक्षा की शिक्षा पाते हैं। गत वर्ष की उक्त आराजकीय संस्थाओं में से २ की मान्यता अपहृत की जा चुकी है और जनता के अनुरोध पर ७ ऐसे अन्य नये कालेजों को और मान्यता देदी गई है। इस प्रकार इन अराजकीय संस्थाओं की संख्या अब २७ हो गई है और महिला छात्रों की आवश्यकता पूर्ति के हेतु इनसे से २ को छात्राओं को भी प्रवेश देने की अनुमति दे दी गई है।

कुछ अन्य परिवर्तन

वर्तमान शिक्षा वर्ष के प्रारम्भ से जौनपुर, ग़ाज़ीपुर, तथा हाथरस के राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय तथा कानपुर एवं हरदोई के पूर्वमाध्यमिक कन्या विद्यालय बन्द कर दिये गये हैं। किन्तु साथ ही निम्नांकित राजकीय विद्यालयों में इन्टर की कक्षायें उनके सम्मुख लिखे विषयों में खोल दी गई हैं:—

अमरोहा (मुरादाबाद), उन्नाव	भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, तथा गणित।
हमीरपुर, श्रीनगर (गढ़वाल)	साहित्यिक वर्ग—अंग्रेजी, हिंदी, इतिहास, अर्थशास्त्र, संस्कृत, मनोविज्ञान, तथा गणित।
उरई (जालौन), रायबरेली	जीव विज्ञान (बयालोजी)
बलिया, रायबरेली, सुल्तानपुर (बालिका विद्यालय)	हिन्दी, अंग्रेजी, इतिहास, अर्थशास्त्र. नागरिक शास्त्र, मनोविज्ञान, गृह विज्ञान तथा संस्कृत।

इसके अतिरिक्त कांधला, मुजफ़्फ़रनगर के पूर्वमाध्यमिक विद्यालय को उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में परिणत कर दिया है और देवरिया, ग़ाज़ीपुर तथा रायबरेली के राजकीय बालिका विद्यालयों में बारहवीं कक्षायें खोल दी गई हैं। इसी प्रकार गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल में एम० ए०, एम० एससी० तथा एम० काम० की फाइनल कक्षायें भी जुलाई, १९५४ से खोली गई है।

रचनात्मक कार्य सम्बंधी त्रैमासिक तालिका

१६ जनवरी से १५ अप्रैल, १९५४ तक

क्रम संख्या	उत्पादित वस्तुओं का नाम	उत्पादित वस्तुओं की संख्या, भार तथा नाप इत्यादि	वस्तुओं का मूल्य	श्रम मूल्य (रुपयों में)	योग (४–५)	विक्रय द्वारा प्राप्त धन	कितने मूल्य का सामान बचा	लाभ हानि
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	अन्न (सेरों में)	२५७७ सेर १४ छ०	५२०- ९-९	५५१- २-३	१०७१-१२-०	७३९- ६.०	२४७-१३.६	
२	तरकारी (सेरों में)	६३९० सेर ८ छ०	३३२-१५-९	५७१- १-६	९०४- १-३	१०४३- १.९	४३३-१२-३	
३	फल (सेरों में)	५२ सेर	१२३- १-९	४४- ०-०	१६७- १-९	८६- ४-१	....	
४	धातु कला (संख्या में)	११ वस्तुए	६- ८-०	५- ८-०	१२- ०-०	....	२०- ०-०	
५	पुस्तक कला, (संख्या में लिफाफे)	(i) ८३ सेर १० छ० (ii) ६७२७६	८१०- ४-९	१७२-११-३	८८७- २-३	९९४-११-३	२२८-१२-.	
६	कताई (सेरों में)	(i) १०४२० गज़ (ii) ११६८सेर४छ०	२७२-१२-०	३३५- ६-०	६०८- २-०	४७९-१३-६	१४८- ५-६	
७	बिनाई (गजों में)	(i) ५६२८ग.१फी६इं (ii) २८२ वस्तुएँ	४१६- ३-०	७१२- ३-०	११२८- ६-०	७७०- ४-०	१२६- ०-०	
८	मिट्टी की कला (संख्या में)	१३०२	४४- १-०	५९- ५-६	१०३- ६-६	६७-१४-०	४०-११-०	

[अक्टूबर

९	औद्योगिक रसायन (सेरों में)	(i) २३२ सेर ४ छ० (ii) ७६८ वस्तुएँ	५७०- २-६	११३-१०-९	६८३-१३-३	६०९- ०-०	१४६- ९-६
१०	काष्ट कला (संख्या में)	१४४८	१९१- ६-६	१८४-१०-०	३७६- ०-६	९५९- २-०	१५४- ०-६
११	सिलाई (संख्या में)	३८२	१६९- ५-६	४२७-१२-०	५७७- १-९	१६६- ४-३	८४- ५-०
१२	कढ़ाई-बुनाई (संख्या में)	६०	३७-१३-६	१३-१२-६	५१- ८-०	६२- ९-०	२९-१४-०
१३	चर्म-कला (संख्या में)	४४	११-११-९	२- ८-०	१४- ३-९	२०- ५-९	....
१४	वार्निश कार्य (संख्या में)	७३६	८१- ८-०	१२४-१०-०	२०७- ७-०	६८-१२-०	....
१५	मरम्मत कार्य (संख्या में)	(i ४५५४ ब० गज (ii) ६१५ वस्तुएँ	१३८- ३-६	५५६-१०-०	६३४-१३-६	१२०-१२-०	३१- ७-०
१६	पुताई तथा सफाई कार्य (वर्ग गजों में)	२०८९२ व० गज	९८८- १-०	८११- १-०	१७९९, २,०	४०२- ४-०	....
१७	खुदाई तथा भराई कार्य (घन गजों में)	७३१५ घ० गज	....	२०५३- ३-९	२०५३- ३-९	...	८३-१५-०
१८	निर्माण कार्य (घन गजों में)	(i) ३२१५ घ० गज (ii) २२७९ व०गज	१६१- ०-०	७७३- ८-०	९३४- ८-०	३०५- ०-०	....
१९	पाक विज्ञान (सेरों में)	४२३ सेर २ छ०	८५६- ०-०	३८८- ५-६	१२४४- ५-६	७०७- ३-०	....
२०	दूकान कार्य	——	११७७- ९-६	६५- ५-०	१२४२-१४-६	१३२२-१०-९	१०९- ५-६
२१	अन्य कार्य	८६३७ वस्तुएँ	४५१- ६-६	२०७५- ८-३	२५२६-१४-९	२५१५- २-०	१०५-११-६

रजिस्ट्रार, विभागीय परीक्षाओं द्वारा सम्पादित १९५४ की परीक्षाओं का फल-विवरण

क्रम संख्या	परीक्षा का नाम	१९५३ की परीक्षायें			१९५४ की परीक्षायें		
		सम्मिलित संख्या	उत्तीर्ण संख्या	उत्तीर्ण प्रतिशत	सम्मिलित संख्या	उत्तीर्ण संख्या	उत्तीर्ण प्रतिशत
१	ऐल० टी० परीक्षा	१३३०	८०१	६०.२	१४८८	१११४	७४.८
२	एल० टी० रचनात्मक	३०	२३	७६.६	३९	३५	८९.७
३	टी० सी० परीक्षा (प्रथम वर्ष)	७५	५९	७८.६	९१	८२	९०.०१
४	टी० सी० परीक्षा, (द्वितीय वर्ष)	८८	७१	८०.६	८९	७७	८६.५
५	टी० सी० रचनात्मक परीक्षा	१२	९	७५.०	१८	१७	९४.४
६	टी० सी० गृह विज्ञान परीक्षा	६०	५५	९१.६	६०	५२	८०.६
७	टी० सी० नर्सरी परीक्षा	१६	१५	९३.७	१९	१७	८९.४
८	टी० सी० परीक्षा बधिर के लिए	१२	१०	८३.३	१०	९	९०.०
९	जे० टी० सी० परीक्षा	१६९८	११५२	६७.८	२६१३	१८९२	[illegible]
१०	शारीरिक शिक्षण परीक्षा	६५	६२	९५.३	७२	६७	९३.०५
११	डिप्लोमा गृह विज्ञान परीक्षा (द्वितीय वर्ष)	४	४	१००.०	२	२	१००.०
१२	डिप्लोमा गृह विज्ञान परीक्षा (तृतीय वर्ष)	१२	६	५०.०	१०	१०	१००.०
१३	एच० टी० सी० परीक्षा	९००९	६५५१	७२.७	६६५०	४६१६	६९.४
१४	एच० टी० सी० नर्सरी परीक्षा	१०	४	४०.०	२	....	....
१५	कोविद प्रथम खण्ड परीक्षा	२३८	८६	३६.१३	१४३	३७	२५
१६	कोविद द्वितीय खण्ड परीक्षा	१७५	८९	५०.८	१०२	५०	४९
१७	काबिल प्रथम खण्ड परीक्षा	२०	९	४५	१८	१३	७२
१८	काबिल द्वितीय खण्ड परीक्षा	८	४	५०	३	२	६६
१९	डिपार्टमेंटल स्पेशल परीक्षा	१४१	१०२	७२	१०५	८६	८१.९
२०	जूनियर हाई स्कूल परीक्षा		५२४६८		१९५८९		
२१	जूनियर हाई स्कूल छात्रवृत्ति सन् १९५४ की परीक्षा जुलाई '५४ में होगी। परीक्षा						
२२	गाइडेन्स टीचर्स सार्टीफिकेट परीक्षा				९	९	१००
२३	न्यू टीचर्स सार्टीफिकेट परीक्षा				२५२४	२३३२	९२.३
२४	यू० पी० ई० एस० प्रोबेशनर्स परीक्षा	२			२		

शिक्षा जगत के समाचार

प्रदेश

माध्यमिक शिक्षा परिषद्

जुलाई, ५४ से परिषद ने हाई स्कूल तथा इन्टर परीक्षाओं में कुछ परिवर्तन किए हैं। तदनुसार उच्चतर माध्यमिक स्तर की चारों कक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है। उसका प्रथम दो वर्षों के लिये तो एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम है जिसके तीन प्रश्नपत्र होंगे। उनमें से एक में बीस अंकों की संस्कृत भी रहेगी जिससे हिन्दी का आधार दृढ़ हो सके। अंतिम दो वर्षों में दो प्रकार के पाठ्यक्रम होंगे, एक उनके लिए जो हाई स्कूल परीक्षा साहित्यक हिन्दी से पास करेंगे और दूसरा अन्यों के लिये। उनमें से प्रथम में संस्कृत नहीं रहेगी और द्वितीय में हाई स्कूल के पाठ्यक्रम के समान संस्कृत एक अनिवार्य विषय होगी। ये इन्टर के दो प्रकार के पाठ्यक्रम १९५७ की परीक्षा तक चलेंगे और पश्चात् एक ही पाठ्यक्रम रह जायगा। कृषि के शिक्षार्थियों के लिए अंतिम दो वर्षों में एक अपवाद स्वीकार कर लिया गया है जिसके अनुसार वे केवल प्रारम्भिक हिन्दी पढ़ सकते हैं।

हिन्दी के अतिरिक्त एक अन्य भारतीय भाषा भी, जैसा कि भारतीय विधान के शिड्यूल ७ में दिया हुआ है, अनिवार्य रूप से दूसरा विषय बनेगी और इसका परिवर्तन केवल किसी विदेशी भाषा से हो सकेगा अर्थात् हिन्दी के अतिरिक्त कोई भी भारतीय भाषा अथवा विदेशी भाषा पढ़ना अनिवार्य होगा। तीसरा अनिवार्य विषय प्रथम दो वर्षों में गणित का होगा जिसके स्थान पर बालिकाओं के लिए गृहविज्ञान को रक्खा गया है। इस प्रकार प्रथम वर्षों में तीन तथा अंतिम दो वर्षों में दो अनिवार्य विषय होंगे। वैकल्पिक विषयों की संख्या चारों वर्षों में तीन रहेगी। परन्तु यहां भी कृषि के शिक्षार्थियों की दशा में अपवाद रहेगा। उनका पाठ्यक्रम अंतिम दो वर्षों के लिए दो भागों में बाँट दिया गया है और परीक्षा दोनों वर्षों के अंत में होगी। संस्कृत का अध्ययन हिन्दी के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं तथा प्राचीन (क्लासिकल) भाषाओं के साथ चारों वर्षों में रक्खा गया है यद्यपि उसे अनिवार्य तथा वैकल्पिक दोनों रूपों में ग्रहण किया जा सकता है।

इस प्रकार विविध विषयों की शिक्षा का कार्यक्रम, जिसकी संस्तुति केन्द्र की मुदालियर समिति तथा प्रदेशीय नरेन्द्रदेव समिति ने की है, उत्तरप्रदेश के विद्यालयों में अब

और भी विस्तृत रूप से कार्यान्वित किया जायगा। अनेक अन्य विषय शिक्षाक्रम में बढ़ जाने से पूर्व प्रचलित ए०-साहित्यिक बी०--वैज्ञानिक, सी०--रचनात्मक तथा डा०--कलात्मक में वृद्धि हो गई है और ए० बी० ग्रूपों के पश्चात् अब उसका सी०--कृषि, डी०--वाणिज्य, ई०-रचनात्मक अथवा प्री--टेकनिकल तथा एफ़०--कलात्मक हो गया है और ग्रूप ई० में धुलाई, रफ़ूगीरी, सिलाई तथा रंगाई का समावेश हो गया है और एफ़० में नृत्यकला का इसके अतिरिक्त विभिन्न ग्रूपों में परस्पर परिवर्तनशील विषय होने के कारण और भी सुविधा हो गई है। बालिकाओं के लिए गणित अनिवार्य न होते हुये भी वे उसे वैकल्पिक विषय के तौर पर ले सकती हैं। ड्राइंग के स्थान पर भारतीय संगीत अथवा हिन्दी के बजाय कोई भारतीय भाषा ली जा सकती है और हिन्दी के अतिरिक्त किसी प्रदेशीय भाषा का किसी आधुनिक विदेशी भाषा से प्रत्यावर्तन हो सकता है जिससे छात्रों के निमित्त निर्वाचन का क्षेत्र अति विस्तृत हो गया है।

विकास योजना नं० १

इस योजना के अन्तर्गन्त इस वर्ष अनेक कार्य हुए हैं और केन्द्रीय सरकार के अनुदानों से पूरा लाभ उठाकर इलाहाबाद, लखनऊ और मुज्जफ़रनगर के तीन खंडों के विकास करने की योजना चालू हो गई है।

इलाहाबाद ज़िले में, जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज नगर में तथा जनता कालेज मऊ आएमा के देहात में, खोले गये हैं। विकास खंड ज़िले के उत्तरी और उत्तर पूर्वी भाग में हैं और प्रत्येक के अन्तर्गत पाँच जूनियर हाईस्कूलों में आदर्श सामाजिक सेवा-केन्द्र खोले गये हैं। इन्हीं पाँच केन्द्रों अर्थात् मऊ आयमा, मलाक हरहर, फूलपुर, थरवई और सिकन्दरा में पुस्तकालयों की भी व्यवस्था की गई है जहाँ से ग्रामीणों के काम की हर पहलू पर नई से नई पुस्तकें उनको दी जायेंगी। प्रत्येक जूनियर हाईस्कूल में सामूहिक कार्य के लिए २८०० रु० की लागत का एक हाल बनेगा और २००० रु० की लागत से एक पार्क बनवाया जायगा। प्रत्येक पार्क में २ रेडियो, बाजे, तथा व्यायाम करने के लिए आवश्यक उपकरण लगे रहेंगे। प्रत्येक जूनियर हाईस्कूल को केन्द्र मानकर १५ प्राइमरी स्कूलों का एक उप-क्षेत्र भी होगा जिसमें हर एक को १००० रु० इमारत के सुधार में और २५० रु० सामान और सज्जा के लिए दिया गया है। इस विकास खंड में एक ध्वनि प्रचारक यंत्र से सुसज्जित पिकअप भी दी जा रही है जिसके सहारे एक इसी कार्य के लिए नियुक्त चल-शिक्षक-दल प्रसार, प्रचार और खेल तथा संस्कृतिक कार्यों का संगठन करेगा। इसी प्रकार लखनऊ में जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज नगर में तथा जनता कालेज निगाहां में और पाँच आदर्श सामाजिक केन्द्र निगोहां, तेलीबाग, चिनहट, गोसाईगंज और नगराम में होंगे। मुज्जफ़रनगर में भी जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज नगर में तथा जनता कालेज बाघरा में

और आदर्श सामाजिक केन्द्र बसेड़ा, मोरना दूधा, हैड़ी, जानसठ और पूरा में खोल दिये गये हैं।

इस सम्पूर्ण विकास योजना की देखभाल के लिए श्री असदुल्ला काज़मी, संचालाक, प्रशिक्षण तथा केन्द्रीय राजकीय अध्ययन-विज्ञान-केन्द्र, प्रयाग के सभापतित्व में सलाहकार समिति स्थापित हो गई है जो इस योजना के सभी भागों में परस्पर समन्वय स्थापित कर रही है और उनकी गतिविधि का निरीक्षण भी कर रही है। इस सलाहकार समिति का एक विशेष कार्य यह भी है कि जो कठिनाइयाँ प्रस्तुत हों उनको प्रत्येक स्तर पर दूर करने का प्रयत्न करे।

भारत तिब्बत सीमा पर शिक्षा की सुविधाएँ

भारत-तिब्बत सीमा के समीपस्थ क्षेत्र के शैक्षिक विकास के लिए प्रदेशीय शासन की आज्ञानुसार निम्नांकित सुधार किये गए हैं: —

१—अल्मोड़ा के ज़िला परिषद के जूनियर हाईस्कूल मुंसियारी को शिक्षा विभाग ने अपने आधीन कर उसे उच्चतर माध्यमिक विद्यालय का रूप दे दिया है।

२—नीती घाटी (पोड़ी गढ़वाल) में गोमशाली के स्थान पर एक नया पूर्व माध्यमिक विद्यालय खोल दिया गया है और उसमें एक प्रधानाध्यापक तथा ६ विभिन्न विषयों के सहायक अध्यापकों को क्रमशः ६० से १०० तथा ४५ से ८० रु० के वेतनक्रम में नियुक्त कर लिया गया है।

३—हरचल, (टेहड़ी गढ़वाल) की प्रारम्भिक पाठशाला में ५ वीं कक्षा खोल दी गई है और दो अध्यापक ४५ से ८० रु० के वेतन-क्रम में दे दिये गए हैं।

चूँकि यहाँ की जनता ख़ानाबदोश किस्म की है अतः अलमोड़े के बेडंग, सोहला, रिलकोट, लश्पा, तथा मर्छा में, गढ़वाल के सूरियाटोला में तथा टेहरी के सुखी, हर्री, तथा जक्खा में ६ एक अध्यापक वाले स्थान-परिवर्तनशील स्कूल भी खोल दिये गये हैं। यह भी आदेश हुआ है कि गढ़वाल में फरकिया प्रारंभिक पाठशाला को स्थानीय ज़िला परिषद ले ले और तदर्थ परिषद को आर्थिक सहायता देने के निमित्त विचार किया जा रहा है। यहभी योजना है कि उद्यान-विज्ञान, पशुपालन, मधुमक्खी-पालन तथा ऊन की कताई-बुनाई आदि पर उक्त संस्थाओं में सामान्य विषयों के अतिरिक्त शिक्षा दी जाय जिससे स्थानीय छात्र इन उद्योगों को सीख सकें।

अन्य प्रदेश

त्रिवंकुर-कोचीन

विगत ९ अगस्त को प्रदेशीय मुख्यमंत्री ने अपने यहाँ शिक्षा पद्धति को 'नई तालीम' के अनुसार परिवर्तित करने के विचार से विधान सभा में एक प्रस्ताव रक्खा जो बहुमत से पारित हुआ। इस प्रदेश में बेसिक शिक्षा किसी भी संगठित रूप में अभी तक प्रचलित नहीं थीं यद्यपि तिरुवुर गांव में आठ वर्षों से एक बुनियादी स्कूल चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त कोचीन के चेरूक स्थान पर एक बुनियादी ट्रेनिंग स्कूल भी चल रहा था परन्तु बेसिक पाठशालाओं के न होने के कारण यहाँ के प्रशिक्षित अध्यापक पुराने ढंग के विद्यालयों में ही पढ़ाने जाते थे। उपर्युक्त परिवर्तन स्थानीय शिक्षा अधिकारियों तथा रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं एवं हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के मंत्री के आपसी विवाद-वार्ता के फलस्वरूप निर्धारित हुआ है। इस सम्बन्ध में तालीमी संघ के मंत्री श्री आर्यनायकम जी ने कुछ बातें शासन से पहले से ही स्पष्ट कराली थीं जैसे बुनियादी शिक्षा को राज्य में प्रचलित किये जाने की नीति के विषय में घोषणा, योजना का राज्य तथा जनता के सम्मुख प्रस्तुतिकरण, उसके कार्यान्वयन के हेतु राजकीय तथा जनकीय कार्यकर्ताओं द्वारा संगठित एक परिषद की स्थापना, आदि। यह सारा कार्य सन्मति के वातावरण में सम्पन्न हुआ और विधान सभा के कांग्रेसी दल का इसे पूर्ण समर्थन प्राप्त था। इस समय राज्य में ४००० से कुछ अधिक प्रारम्भिक पाठशालायें हैं और उनमें २५००० के लगभग अध्यापक काम कर रहे हैं। अब प्रशिक्षण विद्यालय भी प्रारम्भ किये जाने वाले हैं और प्रत्येक के चतुर्दिक ३०-४० बेसिक प्रारम्भिक पाठशालायें रखने का विचार है।

हैदराबाद

पंचवर्षीय योजना के अनुसार प्रदेश में ३९८ अतिरिक्त अध्यापक विभिन्न प्रारंभिक पाठशालाओं में भेजे जा रहे हैं जिन पर ४,९०, ३१४ रु० ६ आना का व्यय होगा। इसके अतिरिक्त ६७ सहायता-प्राप्त पाठशालायें एक अध्यापक वाले पाठशालाओं के रूप में परिवर्तित कर दी जायंगी जिनमें ६५,४३२ रु० ६ आना व्यय होगा। प्रदेश के नवनिर्मित जिला सम्मामेट के लिए एक पृथक निरीक्षक विभाग भी स्थापित हुआ है। साथ ही प्रदेश के १४८ विद्यालयों में v vi vii, ix तथा x की नई कक्षायें भी खोली गई हैं। इसके अतिरिक्त राज्य से सहायता प्राप्त ७३ विद्यालयों को v, vi viii ix तथा x की कक्षायें खोलने की मान्यता भी दे दी गई है। तीन प्रारम्भिक पाठशालाओं को अपने यहाँ ५ से ७ तक कक्षायें खोलने की स्वीकृति भी मिली है।

इस वर्ष १५ प्रशिक्षित अध्यापकों को बुनियादी-तालीम प्रशिक्षणार्थ वर्धा भेजा गया है और २४० मिडिल तथा मैट्रिक पास अध्यापकों को प्रदेश के विभिन्न जिलों में प्रशिक्षित

किया जा रहा है। ४० प्राइवेट छात्राध्यापकों को भी शिक्षा दी जा रही है और प्रत्येक को २५ रु० प्रतिमास की वृत्ति भी दी जायगी। विगत जून मास से गृहविज्ञान तथा कृषि में एच. एस. सी. का शिक्षाक्रम भी एक टेकनिकल हाई स्कूल में प्रचलित किया गया है और उसमानिया विश्वविद्यालय ने वहाँ से उत्तीर्ण छात्रों को इन्टर कक्षाओं में प्रवेश की सुविधा प्रदान कर दी है। ११ पुस्तकालयों को भी मान्यता मिली है तथा पर्याप्त धन किराये के भवनों में स्थित विद्यालयों को तदर्थ दिया गया है।

आसाम

प्रचलित शिक्षा-वर्ष के प्रारम्भ से ही प्रथम सत्र के सामाजिक शिक्षा-केन्द्र प्रदेश भर में संगठित किये गये थे। ग्रामीण क्षेत्र के सहायता प्राप्त ४०० पुस्तकालयों में अनेकों ने उन्हीं दिनों उद्घाटन पर्व का समारोह भी मनाया। इसके अतिरिक्त कम्युनिटी प्रोजेक्ट तथा नेशनल एक्सटेन्शन सरविस क्षेत्रों में स्थानीय सामाजिक शिक्षाधिकारियों के परामर्श से सार्वजनिक रूप में प्रचार तथा संगठन का कार्य किया गया। इन क्षेत्रों के लिए विस्तृत कार्यक्रम पहले से ही बना दिया गया था। शिक्षा विभाग ने प्रचारकों को नव-साक्षरों के उपयोगार्थ आवश्यक साहित्य भी दे दिया है। तदनुसार और भी प्रौढ़-शिक्षा के केन्द्र खोलने तथा दृश्य-श्रव्य चित्रपट द्वारा प्रचार करने का प्रबन्ध कर लिया गया है। हरिजनों के लाभार्थ गैरोकी पहाड़ियों पर उपयोगी फिल्म विशेष रूप से प्रदर्शित किये गये। इस अवसर पर विभाग के उच्चाधिकारियों ने स्थान-स्थान पर पहुँचकर सामाजिक शिक्षा की दिशा में जनता को प्रोत्साहित किया। सामाजिक शिक्षा से सम्बन्धित स्कूलों के सब इन्सपेक्टर को ट्रेनिंग के लिए शांतिनिकेतन भेज दिया गया है।

इसके अतिरिक्त गत ग्रीष्मावकाश में सीनियर डिवीज़न के चार एन. सी. सी. अफसरों को सेन्ट्रल वीपन ट्रेनिंग तथा केडर के प्रशिक्षणार्थ काम्पटी भेजा गया था और अन्य चार अफसरों को देहरादून के नेशनल डिफेन्स एकेडेमी में अपने में सुधार लाने तथा शिक्षण की नवीन विधियों को सीखने के लिए भेजा गया था। प्रदेशीय शासन १९५४-५५ में इस विषय में २॥ लाख रूपये का अधिक व्यय उठानेवाली है। इससे ६ नये कालेजों तथा ६ नये हाई स्कूलों में योजना प्रसारित हो सकेगी। इसके अतिरिक्त वर्तमान आर्थिक वर्ष में आकज़िलियरी केडेट कोर के ६० सेक्शन भी स्थापित किये जा रहे हैं।

केन्द्र

बहु प्रयोजन विद्यालय

केन्द्रीय नियोजन समिति ने कुछ मास पूर्व एक नवीन योजना स्वीकृत की है जिसके अनुसार पंचवर्षीय अवधि के अवशिष्ट दो वर्षों में से प्रथम वर्ष में २०० तथा आगामी वर्ष में ३०० अनेकाशयी विद्यालय खुलेंगे। यह कार्यक्रम मुदालियर माध्यमिक शिक्षा समिति द्वारा

प्रस्तुत विवरण के अनुकूल ही है जिसमें संस्तुति की गई थी कि इस प्रकार के विद्यालय, जिनमें विभिन्न उद्देश्यों, रुचियों तथा योग्यता वाले छात्रों की उनकी प्रवृति के अनुसार शिक्षा हो सके, खोले जायं और इनसे उत्तीर्ण होने पर उन्हें ऐसी ही शिक्षा में विशेष योग्यता प्राप्त करने की सुविधा भी दी जाय। इन ५०० बहुप्रयोजन विद्यालयों में ५००० रु० प्रति विद्यालय के हिसाब से पुस्तकालय के आयोजन में व्यय होगा।

इस योजना का दूसरा लक्ष्य यह है कि सामान्य विज्ञान, सामाजिक शास्त्र तथा हस्तकार्यों पर अधिक ध्यान दिया जाय और आगामी ७ वर्षों में प्रत्येक हाई स्कूल में इनकी समुचित शिक्षा होने लगे। पंचवर्षीय योजना के अंतिम दो वर्षों में ऐसे विद्यालयों पर १५ हजार रुपये के हिसाब से वैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित करने तथा पुरानी प्रयोगशालाओं का जीर्णोधार करने के लिए व्यय किया जायगा और तदर्थ ५०० स्कूलों को प्रथम वर्ष में तथा १००० को द्वितीय वर्ष में लेने का विचार है। नियोजन समिति का यह भी प्रस्ताव है कि दस्तकारी की शिक्षा प्रथम वर्ष ५०० विद्यालयों तथा द्वितीय वर्ष १५०० में जारी की जाय। यह कार्य केन्द्र तथा प्रदेशीय शासनों के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप कार्यान्वित होगा जैसा कि माध्यमिक परिषद ने अपने विवरण में संकेत किया था। केन्द्र यह बतलायेगा कि इस सम्बन्ध में कितनी और किस प्रकार की सामग्री अपेक्षित होगी, वह एक अध्यापक प्रशिक्षण परिषद भी स्थापित करेगा और उसका माध्यमिक शिक्षा पर एक पत्रिका भी निकालने का विचार हैं। विभिन्न प्रदेश अपने लिए पाठ्यक्रम, परीक्षा-पद्धति तथा प्रशिक्षण आदि के विषय में स्वयं निर्णय लेंगे।

अन्तर्प्रदेशीय हिन्दी का प्रचार

केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने पिछले दिनों हिन्दी के प्रचार के संबन्ध में १५ वर्षीय योजना बनाई है जो तीन समान अवधियों में विभाजित होगी। प्रथम चरण में मुख्यतः हिन्दी के पारिभाषिक शब्दावली को पूर्ण करने, अहिन्दी भाषी प्रान्तों के माध्यमिक विद्यालयों में उसे अनिवार्य विषय बनाने तथा अहिदी क्षेत्रों में उसके विस्तृत प्रचार का कार्य होगा। द्वितीय पंचवर्षीय काल में अन्य भाषा वाले प्रदेशों में हिन्दी में प्रौढ़ शिक्षा देने तथा समस्त देश में व्यक्तियों को हिन्दी से परिचित कराने का कार्यक्रम रहेगा। अंतिम चरण में प्रशासकीय प्रयोजनों के हेतु केन्द्रीय शासन में हिन्दी को ग्रहण कर लिया जायगा और विभिन्न प्रदेशों से पत्र व्यवहार का माध्यम हिन्दी हो जायगी।

भौतिक शास्त्र, गणित, सामाजिक शास्त्र, जीवशास्त्र, अर्थ तथा रक्षा विभाग सम्बन्धी शब्दावली लगभग पूरी होगई है। इन विज्ञानों के सम्बन्ध में साधारण पुस्तकें भी प्रकाशित की जायंगी जिससे जनसाधारण को उनका ज्ञान भी हो जाय और हिन्दी का

प्रचार भी हो सके। ऐसे मौलिक तथा अनूदित बाल-साहित्य के उत्पादन के लिये २९,००० रु० तथा नव-साक्षरों के हितार्थ उपयोगी पुस्तकों के लेखकों को १२,०५० रु० पारितोषिक के रूप में दिया जायगा। मंत्रालय पहले भी १६० पुस्तकें नव-साक्षरों के पठनार्थ प्रकाशित कर चुका है। भारत, संसार तथा जीवन के इतिहास तथा जनता के लिए एक विश्वकोष (एनसाइक्लोपीडिया) भी मंत्रालय प्रकाशित करने वाला है। नागरी प्रचारणी सभा, काशी को २५,००० रु० प्राचीन तथा पौराणिक साहित्य की उपस्थिति के हेतु दिया जा रहा है और हिन्दी कोष के लिखाने का भी आयोजन हो रहा है।

काशी तथा दिल्ली विश्वविद्यालयों को भी क्रमशः २२,५०० तथा ६००० रु० अपने हिन्दी विभागों को विकसित करने के हेतु दिया गया है। हिन्दी को आसाम, बम्बई, कुर्ग, हैदराबाद, त्रिवंकुर, कोचीन, सौराष्ट्र, आदि प्रदेशों ने माध्यमिक स्तर पर अनिवार्य बना लिया है। केन्द्रीय सचिवालय के लगभग ५५ कर्मचारी मंत्रालय द्वारा आयोजित हिन्दी की कक्षाओं में आजकल सम्मिलित हो रहे हैं।

विदेश में शिक्षार्थ छात्रवृत्तियां

प्रस्तुत आर्थिक वर्ष में केन्द्रीय शासन ने निश्चित किया है कि अरबी, चीनी, फ्रांसीसी, जर्मन, इटालियन, जापानी, परशियन, रशन, स्पेनिश तथा टर्किश भाषाओं में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए ३० छात्रों को विदेश भेजा जाय। उन्हीं छात्रों के आवेदन पत्र पर विचार किया जायगा जो विश्वविद्यालय अथवा सामान स्तर की अन्य संस्थाओं तथा केन्द्रीय अथवा प्रदेशीय शासन द्वारा प्रेषित होंगे और उनके यहां लौट कर कम से कम तीन वर्ष काम करेंगे। इन छात्रों के लिए पहले से ही उक्त भाषाओं में आवश्यक योग्यता प्राप्त कर लेना अनिवार्य होगा। सामान्यतः वृत्ति एक वर्ष के लिये दी जायेगी और उससे यात्रा तथा भरणपोषण का व्यय निकल आयेगा।

दूसरी ओर भारत सरकार ने एशिया के दक्षिण तथा दक्षिण पूर्वी देशों के विद्यार्थियों को शिक्षा की सुविधायें दी हैं। इन देशों के शासनों से इस दिशा में उनकी आवश्यकतायें मांगी गई थीं और नैपाल, फिलीपाइन्स, मलाया, बरमा, हिन्दोशया आदि ने अपने नाम भी भेज दिये हैं।

विदेश

पराधीन देशों में शिक्षा

संयुक्तराष्ट्र संघ के तत्वावधान में पराधीन देशों के विषय में भी खोज तथा अध्ययन किये जाते हैं। इन क्षेत्रों से संबंधित शासक देश, जो संयुक्तराष्ट्र के सदस्य भी हैं, संयुक्तराष्ट्र

चार्टर के अनुसार उक्त क्षेत्रों की जनता उन्नति करना अपना पवित्र कर्त्तव्य मानते हैं। इस उत्तरदायित्व के अनुसार वे संघीय सचिव को अपने देशों के विषय में सामाजिक, आर्थिक, तथा शैक्षिक अवस्थाओं की सूचना देते रहते हैं। इसी प्रकार उपलब्ध एक विशेष अध्ययन से ज्ञात होता है कि उक्त देशों में शैक्षिक प्रगति तथा अन्य शिक्षात्मक सुविधाओं पर निकट भूत में विशेष बल दिया गया है। उपर्युक्त अध्ययन जो ५६ पराधीन देशों से प्राप्त सूचना पर आधारित है, प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्रदान करने, निरक्षरता दूर करने, अनिवार्य शिक्षा, स्त्री शिक्षा, दस्तकारियों की शिक्षा, सामुदायिक कार्य, उच्च शिक्षा आदि पर केन्द्रित है। अध्ययन से यह पता चलता है कि कुछ देशों की प्रवृत्ति राष्ट्रीय शिक्षा की ओर होते हुये भी उनमें शिक्षा की सुविधाओं के सुलभ बनने में बड़ी कठिनाइयां आ जाती हैं। अफ्रीका के कुछ क्षेत्रों में सभी को अनिवार्य शिक्षा दी जाती है किन्तु अफ्रीकन बालकों को नहीं, अन्य प्रदेशों में स्थानीय कानून के अनुसार बालकों पर होने वाले व्यय में भी असाम्य आ जाता है और कहीं कहीं ऐसी प्रथायें प्रचलित हैं कि आधुनिक शिक्षा को रूढ़िगति सिद्धांतों के मेल में नहीं लाया जा सकता। सारांश यह कि शिक्षा की आवश्यकतायें बढ़ी हुई हैं किन्तु समस्यायें और अधिक जटिल हो गई हैं और इन देशों की जनता को स्वतंत्र देखने की दिशा में किये गये प्रयत्नों में वहाँ की शिक्षा की अनुपयुक्तता के कारण बाधायें उपस्थित होती रहती हैं। यही नहीं, अनेक स्थानों में शिक्षा नहीं के बराबर है, नहीं के बराबर स्कूल हैं तथा शिक्षापर समय भी बहुत कम दिया जाता है और कहीं कहीं का तो शिक्षा का स्तर भी अनुचित प्रतीत होता है।

स्त्रियों की शिक्षा तो सामान्यतः पिछड़ी हुई है। माध्यमिक विद्यालयों में १३ प्रतिशत ही लड़कियां पढ़ती हैं और उनमें से अनेक विद्यालयों में उनके लिए व्यवस्था ही नहीं होती। प्राथमिक शिक्षा के लिये जो स्त्रियां प्रशिक्षित की जाती हैं वह प्रारम्भिक शिक्षा से थोड़ी ही उच्चतर स्तर की होती हैं। ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि पूरे राष्ट्र का सुधार तब तक नहीं हो सकता जब तक स्त्रियों और बालकों को बड़े पैमाने पर शिक्षित न किया जाय। किन्तु मुख्यः इन पराधीन देशों की सब से बड़ी समस्या उचित प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधा प्रदान करने की है। यहां निर्धनता तथा अन्य कारणों से अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा भी परम प्रपेक्षित है। सामुदायिक शिक्षा में भी कुछ सफलता मिली है किन्तु उसके पथ में अनेक अवरोध हैं तदर्थ सभी अंगों स्वास्थविभाग, सामाजिक सुधार, तथा शिक्षा के कर्मचारियों एवं स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के सहयोग तथा प्रयत्न की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में जैसाकि अध्ययन में, बताया गया है, सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त प्रौढ़ो एवं स्कूली छात्रों-छात्राओं सभी को आधारभूत (फन्डामेंटल) शिक्षा देने की अत्यावश्यकता है।

सामाजिक शास्त्र शिक्षण

कुछ मास पूर्व यूनेस्को द्वारा आयोजित दक्षिणी एशिया में सामाजिक शास्त्रों की शिक्षा के विषय में एक क्षेत्रीय सम्मेलन दिल्ली में संगठित किया गया था जिसमें भारत,

बरमा, लंका, हिन्देशिया, मलाया, पाकिस्तान तथा स्याम ने भाग लिया। अपनी संस्तुओं में कहा कि उक्त विषयों की पाठ्य-पुस्तकें स्थानीय आवश्यकत ध्यान में रखते हुये लिखी जानी चाहिये। सम्मेलन ने यह भी अनुभव किया विश्वविद्यालय के अध्यापकों की नियुक्तियों की दशाओं में सुधार किया जाना आवश्यक है जिससे योग्यतम व्यक्ति मिल सकें। यह भी संस्तुति की गई कि विश्वविद्यालयों के सहयोग से इस विषय में विदेशों की नौकरी, स्वास्थ, श्रम, ग्राम-सुधार आदि के राजकीय अधिकारियों की नियुक्तिपूर्व शिक्षण का प्रबन्ध किया जाय। इसके अतिरिक्त यह भी प्रस्तावित हुआ कि दक्षिणी एशिया के देशों में राष्ट्रीय सामाजिक शास्त्र समितियाँ भी स्थापित की जायँ जिनसे ऐसे अन्य केन्द्रों, शासनों तथा विश्वविद्यालयों आदि से सम्पर्क रहा करे।

सप्ताहान्तिक अवकाश के शिक्षालय

इङ्गलैंड के लगभग २० स्थानों के प्राचीन गढ़ों में एक नवीन जीवन का संचार हो गया है जहाँ लोग अपने व्यक्तिगत कार्यकलाप को छोड़कर सप्ताह के अंत में अथवा अन्य अवकाश के दिनों में मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धन के हेतु एकत्र होते हैं। वहाँ कभी घास के दान में बैठे, गप्पें मारने, कभी किसी पेड़ के नीचे चाय पीने अथवा कभी कहीं आग तापने के साथ ही शिक्षाप्रद व्याख्यान सुनने तथा ज्ञानवर्धक विवाद-वार्ता में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है। अपने कार्य में व्यस्त प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इस प्रकार के पिकनिक तथा विद्याध्ययन पसन्द करता है जिनका ऐसा मधुर सम्मिलन संसार के किसी अन्य स्थान पर देखने को नहीं मिलता। शिक्षाक्रम में पक्षियों का अध्ययन, नाटक, वर्तन बनाना, गृहशास्त्र, सिनेमोटोग्राफी, संसार की दशा, आदि विभिन्न विषय हैं। साथ ही इन केन्द्रों के संचालक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो वास्तव में शिक्षक हों और आतिथ्य में निपुण। कुछ केन्द्र ऐसे है जिनके साथ वहाँ की प्राकृतिक स्थिति तथा आवासाध्यक्ष के कारण कुछ विशेषता रहती है। इस प्रकार कहीं इतिहास पर बल है, कहीं शेक्सपीरियन साहित्य पर कहीं नाटक संबंधी तो कहीं नर्सरी के काम पर। सब मिलाकर प्रत्येक रुचि के अनुकूल वातावरण कहीं न कहीं मिल ही जाता है। चित्रकला तथा प्रकृति-अध्यन आदि विषयों से अपरिचित तथा जानकार सभी व्यक्तियों के लिऐ आवश्यक सुविधायें मिल जाती हैं। किसी पर भाषणों में सम्मिलित होने का प्रतिबन्ध नहीं रहता परन्तु न तो शिक्षक और न विद्यार्थी ही यहाँ एकांत पसंद करते हैं। यहाँ स्त्री पुरुष सभी आते हैं। दो केन्द्र ऐसे भी हैं जो सम्पूर्ण परिवार को आश्रय देते हैं यद्यपि छोटे बच्चों का आठ वर्ष से ऊपर होना आवश्यक है। सभी अवस्था वालों को अपने अपने मनोरंजन और लाभ के साधन मिल जाते हैं और इस अवकाश काल का वे पूर्ण आनन्द उठाते हैं। इसी लिये बहुधा जो एकबार आते हैं वे निरंतर आते रहते हैं।

112 717

चार्टर के अनुसार -
इस उत्तरदायि
आर्थिक
वि

संपादकीय

एक नया प्रयोग

गत पन्द्रह अगस्त, १९५४ को जिस पूनर्व्यवस्थित शिक्षा योजना का उद्घाटन प्रदेश के प्रत्येक ज़िले में २५०० पूर्व माध्यमिक विद्यालयों में किया गया, उसमें कृषि पर विशेष बल दिये जाने के साथ ही जनता के सम्पर्क की उपलब्धि का प्रयास भी है जो एक अभूतपूर्व घटना है। तदनुसार ऐसे प्रत्येक गाँव में, जहाँ उक्त स्कूल है, एक विद्यालय समिति निर्मित हो गयी है जिसमें गाँव सभा के सभापति, ग्रामपंचायत के सदस्य तथा उन्नतिशील किसान हैं और स्वयं कृषि अध्यापक उसका मन्त्री है। इसी प्रकार ज़िलों पर अध्यक्ष, ज़िला परिषद के सभापतित्व में विद्यालय निरीक्षक, कृषि अधिकारी, तथा नियोजनाधिकारी को लेकर सम्पूर्ण ज़िले के नियन्त्रण के हेतु एक एक समिति बना दी गई है और प्रदेशीय शिक्षा समिति का निर्माण तो मुख्यमन्त्री की अध्यक्षता में पहले ही हो चुका है।

शिक्षा संस्थाओं को इस प्रकार प्रजातंत्रीय रूप देने का यह प्रयोग शिक्षा सोपान के निचले मार्गों से प्रारम्भ किया गया है और, इस विचार से कि जब तक देहात की जनता अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने में स्वयं रुचि नहीं लेती तब तक ऊपर से लादे गये सुधार अधिक बल नहीं प्राप्त कर सकते, हम इस जनसम्पर्क के कार्यक्षेत्र को निरंतर वर्द्धित करते जा रहे हैं। अमेरिका, डेनमार्क आदि में ग्रामीण निष्क्रियता को 'फार्मर्स क्लब' तथा 'पिंपुल्स कालेज' आदि संस्थाओं द्वारा निर्मूल किया जा चुका है। हमारा देश भी उनसे अनेक बातों में भिन्न होते हुये भी बहुत सी बातों में समता रखता है और कोई कारण नहीं कि जनसाधारण की सहानुभूति तथा सहयोग प्राप्त कर हम शिक्षा अथवा अन्य सार्वजनिक कार्यों में सफल न हो सकें। अतः पिछले मासों में मुज्जफ़रनगर, लखनऊ तथा इलाहाबाद के नगरों एवं उनके एक एक गाँवों में क्रमशः जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज तथा जनता प्रशिक्षण विद्यालय खोल दिये गये हैं। जनता कालेज से पाँच पाँच जूनियर हाईस्कूल तथा ७५ प्रारम्भिक पाठशालायें भी आबद्ध रहेंगी और यह समूचा विकास-खण्ड राष्ट्रीय प्रसार-कार्य का गहन क्षेत्र बन जायगा।

उक्त पूर्व माध्यमिक विद्यालयों को आदर्श सामुदायिक केन्द्र मान कर उनमें दो दो रेडियो, वाद्ययन्त्र, एक पार्क, व्यायाम-उपकरण तथा एक हाल का प्रबन्ध किया जा रहा है

और ग्रामोपयोगी सूचनात्मक साहित्य तथा सभी वर्गों के अनुकूल पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकायें वहाँ से वितरणार्थ दी जा रही हैं। संबंधित प्रारम्भिक पाठशालाओं के भवनों के जीर्णोद्धार के हेतु भी धन दिया जायगा। ये कालेज अपने क्षेत्रों के लिए उत्साही कार्यकर्त्ताओं का एक दल प्रस्तुत करेंगे जिसमें पूर्व माध्यमिक तथा प्रारम्भिक विद्यालयों के अध्यापक, समाजसेवा से भिज्ञ ३० नवयुवक ग्राम्यनायक तथा ३० प्रगतिशील अनुभवी प्रौढ़ कार्यकर्त्ता होंगे जो ६ मास तक एक साथ काम करने के उपरान्त देहातों में लौट जायेंगे और उनमें सजगता, विवेक तथा आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था लाने का प्रयत्न करेंगे। इन क्षेत्रों में एक ध्वनिप्रचारक यंत्र से सुसज्जित पिकअप भी दी जा रही है जिसके सहारे एक इसी कार्य के लिये नियुक्त चल-शिक्षक-दल प्रसार-प्रचार तथा विनोद मनोरञ्जन का संगठन करेगा।

कृषि ही भारत की ७५ प्रतिशत जनता का मूल आधार है और उसे न तो छोड़ा जा सकता है और न उसे छोड़ कर ग्रामीण जनता का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु गाँवों में भी ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास खेत नहीं हैं अथवा जो कृषक हैं उन्हें भी वर्ष के कुछ भागों में निष्क्रिय बैठना पड़ता है। अतः ऐसे व्यक्तियों की संलग्नता एवं आर्थिक आय की दृष्टि से कुछ हस्तकार्य भी, जिनका निर्वाचन स्थानीय आवश्यकता तथा उपयुक्तता के विचार से उक्त कालेजों के आचार्य करेंगे, प्रचलित किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त जनता से घुलमिल जाने तथा उनकी परंपरागत उदासीनता एवं कुछ वर्गों की आत्महीनता को दूर करने के अभिप्राय से हमारे अध्यापक तथा छात्र उनके साथ सांध्य-कालीन खेल, उत्सव, प्रदर्शनी, लोकगीत, नाटक, नृत्य, प्रहसन, आदि सांस्कृतिक कार्यों में सम्मिलित होंगे, जिससे वहां के नीरस जीवन में स्फूर्ति का संचार होसके।

इसे वास्तव में एक व्यापक सुधार अथवा पुनर्व्यवस्था ही कहना चाहिये, वैज्ञानिक अर्थों में 'प्रयोग' नहीं, क्योंकि विज्ञानवेत्ता का सम्बन्ध बहुधा निर्जीव पदार्थों से 'कार्य-कारण' संबंध समझने के लिये होता है प्रयुक्त वस्तुओं के हितार्थ नहीं। परन्तु हमारे उपकरण तो भावी राष्ट्र के आधार अपने छात्र ही हैं और उल्लिखित योजना में बालक को अधिक सजीवता प्रदान करने की बात है। पूर्वकालिक शिक्षा में उसे घरेलू वातावरण से पृथक कर एक नई, कदाचित अरुचिपूर्ण, परिस्थिति में डाल दिया जाता था और अब इस नये प्रयोग के अनुसार उसके विद्यालय का परिमित क्षेत्र विस्तृत हो कर सम्पूर्ण समुदाय के बीच उसके वास्तविक जीवन का परिचित रम्य संसार बन जायगा।

इस योजना का मूल स्रोत केन्द्रीय शासन है जो आर्थिक सहायता भी कर रहा है और प्रदेशीय शासन ने आर्थिक भार वहन करने के अतिरिक्त इस कार्य में कृषि तथा नियोजन आदि अन्य विभागों का भी सहयोग हमें प्रदान कर दिया। जनता ने गत

चार्टर

इस..त मासों में २३,७५६ एकड़ भूमि देकर तथा मुख्यमन्त्री शिक्षा-कोष में विगत तीन मासों के अल्पकाल में ही २५ लाख रु० से अधिक का धन दान कर अपने सहयोग का जो आश्वासन दिया है उससे शिक्षा विभाग को महान बल प्राप्त होगा। परन्तु सफलता के हेतु जनता के सहयोग की भविष्य में भी पग पग पर और नित्यप्रति आवश्यकता पड़ेगी और हम तो अब उन्हीं की निर्णीत प्रथिमिकता को अवधान एवं महत्व दे रहे हैं। अध्यापक तथा निरीक्षक वर्ग में भी परिणत परिस्थिति के अनुसार अपने में परिवर्तन लाने की क्षमता होनी चाहिये। स्वाधीन भारत में निश्चय ही हमारा केन्द्रविन्दु देहाती समाज का उत्थान हो गया है और समयानुसार शिक्षा अपने वास्तविक स्वरूप को तभी प्राप्त कर सकेगी जब शिक्षक वर्ग जीवन के नये मूल्यों को समझने लगेगा।

नियमावली

उद्देश्य

शिक्षा-विभाग और जनता का सम्बन्ध घनिष्ठ करना

शिक्षा-सम्बन्धी नवीन योजनाओं का प्रामाणिक विवरण देना

भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुसार प्रदेशीय शिक्षा-विधान की सुव्यवस्था में योग देना ।

अध्यापन-कार्य में संलग्न व्यक्तियों का ज्ञानवर्धन तथा पथ-प्रदर्शन करना

शिक्षा-प्रचार के पुण्यकार्य में जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करना

प्रकाशन

त्रैमासिक — वर्ष में चार अंक—जुलाई, अक्टूबर, जनवरी, अप्रैल

मूल्य

वार्षिक मूल्य सात रुपया (डाक-व्यय सहित), विदेश — दस रुपया

प्रति अंक—दो रुपया (डाक-व्यय सहित)

विज्ञापन

केवल विशुद्ध शिक्षा-सम्बन्धी विज्ञापन स्वीकार किये जायँगे

पूर्ण पृष्ठ—४० रु० प्रति बार

अर्द्ध पृष्ठ—२५ रु० प्रति बार

लेख

शिक्षा में प्रकाशनार्थ मौलिक लेख प्रबंध-सम्पादक के नाम भेजना चाहिये

भारतीय संस्कृति, कला तथा शिक्षा-सम्बन्धी गवेषणापूर्ण लेख ही प्रकाशित किये जायँगे

शिक्षा-सम्बन्धी अनुसंधान तथा प्रयोगों के विवरण विशेषरूपेण स्वीकार किये जायँगे

सचित्र लेखों के लिये उपयुक्त चित्रों के भेजने का उत्तरदायित्व लेखकों पर होगी

अस्वीकृत लेख डाक-व्यय आने पर लौटाये जायँगे

किसी लेख के स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का पूरा अधिकार सम्पादक मण्डल को होगा ।

प्रकाशनार्थ प्राप्त लेखों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकेगा

लेख हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में सुस्पष्ट लिखे हुए होने चाहिएँ

मिलने का पता - प्रबन्ध-सम्पादक, "शिक्षा",
अशोक मार्ग, लखनऊ ।

SHIKSHA

तमसो मा ज्योतिर्गमय

Printed by S. S. Bhargava at the Fine Press 14, Shivaji Marg, Lucknow.
Published by the Department of Education, U. P. Lucknow.

Compiled
1939-2000